ॐ

परमार्थ-ग्रन्थमाला, पुष्प १२

तत्त्व-चिन्तामणि

(भाग ४)

जयदयाल गोयन्दका



Nirmala Devi

ॐ

परमार्थ-ग्रन्थमाला, पुष्प १२

तत्त्व-चिन्तामणि

(भाग ४)



लेखक

जयदयाल गोयन्दका

मुद्रक तथा प्रकाशक

घनश्यामदास जालान

गीताप्रेस, गोरखपुर

संवत् १९९८ प्रथम संस्करण ५२५०

मूल्य—

अजिल्द ॥।-) सजिल्द १)

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

सम्पादकका निवेदन

'तत्त्व-चिन्तामणि' का यह चौथा भाग है । इसमें भी लेखकके 'कल्याण' में प्रकाशित लेखोंका संग्रह है । पिछले तीन भागोंको जनताने जिस आदरसे अपनाया, उसे देखनेसे यह सिद्ध होता है कि लोगोंने उनसे लाभ उठानेकी चेष्टा की है । वर्तमान नास्तिकता-पूर्ण वातावरणमें यह बहुत ही शुभ लक्षण है । इसीको देखकर यह चौथा भाग प्रकाशित किया जा रहा है । इसमें गहरे दार्शनिक तत्त्वोंपर विचार करनेके साथ-ही-साथ उन विविध साधनोंका वर्णन है जिनका आश्रय लेनेपर मनुष्य पवित्रहृदय होकर अपने जीवनके परम ध्येयको अनायास ही प्राप्त कर सकता है । भगवान्‌के रहस्य, तत्त्व, स्वरूप और गुणोंके सम्बन्धमें भी बड़ा सुन्दर विवेचन है । पातञ्जलयोगके खास-खास विषयोंका निरूपण है । नवधा भक्तिका विशद वर्णन है । श्रीमद्भगवद्गीताके कई प्रसङ्गोंका महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण है । संत-महात्माओंके स्वरूप, लक्षण और महत्त्वकी व्याख्या है । वर्णाश्रमधर्मका महत्त्व बतलाया गया है और

छोटे-छोटे सुकुमार-मति बालकोंके जीवनको उच्च बनानेवाली शिक्षा भी दी गयी है। सारांश यह कि यह भाग सभीके लिये समान उपयोगी, लाभप्रद और आदरणीय है। मैं भारतीय नर-नारियोंसे प्रार्थना करता हूँ कि वे इसे पढ़ें और इसमें बताये हुए साधनोंको और आदर्शोंको श्रद्धापूर्वक अपने जीवनमें उतारनेकी चेष्टा करें। मेरा विश्वास है कि ऐसा करनेपर कुछ ही समयमें उन्हें अपने जीवनमें विलक्षण परिवर्तन और अपूर्व लाभ दिखायी देगा।

कागजोंकी इस महँगीमें भी इसका मूल्य बहुत कम रक्खा गया है, इससे पुस्तक खरीदनेवालोंको असुविधा भी नहीं होगी। आशा है पाठक-पाठिकागण इससे विशेष लाभ उठावेंगे।

ज्येष्ठ सोमवती अमावस्या १९९८
गोरखपुर

हनुमानप्रसाद पोद्दार
कल्याण-सम्पादक



ॐ

विनय

तत्त्व-चिन्तामणिके इस चौथे भागमें भी मासिक पत्र 'कल्याण'में निकले हुए लेखोंका ही संशोधित संग्रह है। उपदेश, आदेश और शिक्षा देनेका न तो मेरा अधिकार ही है और न योग्यता ही। कई मित्रोंके आग्रहके कारण 'कल्याण'में छपे हुए लेखोंको ही पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है।

आधुनिक पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभावसे स्त्री, बालक और शास्त्रानभिज्ञ लोगोंमें उच्छृङ्खलता तथा नास्तिकता बढ़ती जा रही है। लोग अपनी जाति, धर्म और सदाचारको त्याग कर पापाचारकी ओर प्रवृत्त होते जा रहे हैं। देश, जाति और धर्मका पतन हो रहा है। अतः वर्तमान वातावरणका बुरा असर न पड़े—इस उद्देश्यसे प्रस्तुत पुस्तकमें संत, महात्मा और धार्मिक पुरुषोंके लक्षण तथा स्त्री-बालक और पुरुषोंके लिये सदाचार और ईश्वर-भक्तिविषयक लेख दिये गये हैं।

इस पुस्तकके पठन-पाठनसे पाठकोंके चित्तमें यदि सदाचार और ईश्वरभक्तिका किञ्चित् भी सञ्चार होगा तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। प्रेमी पाठकोंसे मेरा सविनय निवेदन है कि उन्हें इसमें जो कुछ त्रुटियाँ प्रतीत हों, वे मुझे बतलानेकी कृपा करेंगे।

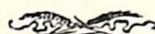
विनीत

जयदयाल गोयन्दका



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

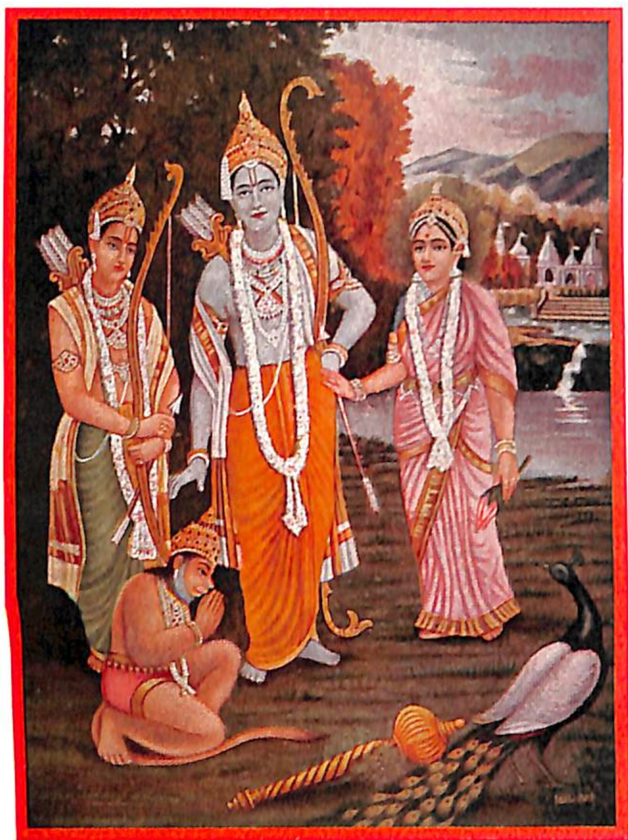
विषय-सूची



चित्र-सूची







श्रीरामचतुष्टय

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

महाराज युधिष्ठिरके जीवनसे आदर्श शिक्षा

महाराज युधिष्ठिरके सम्बन्धमें यह कहना अयुक्त न होगा कि इस संसारमें उनका जीवन महान् आदर्श था। जिस प्रकार त्रेतायुगमें साक्षात् मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी धर्मपालनमें परम आदर्श थे, लगभग उसी प्रकार द्वापरयुगमें केवल नीति और धर्मका पालन करनेमें महाराज युधिष्ठिरको आदर्श पुरुष कहा जा सकता है। अत: महाभारतके समस्त पात्रोंमें नीति और धर्मका पालन करनेके विषयमें महाराज युधिष्ठिरका आचरण सर्वथा आदर्श एवं अनुकरणीय है। भारतवासियोंके लिये तो युधिष्ठिरका जीवन सन्मार्गपर ले चलनेवाला एक अलौकिक पथप्रदर्शक है। वे सद्गुण और सदाचारके भण्डार थे। जहाँ उनका निवास हो जाता था, वह स्थान सद्गुण और सदाचारसे परिप्लावित हो जाता था। वे

अपनेसे वैर करनेवाले व्यक्तियोंसे भी दयापूर्ण प्रेमका व्यवहार करते थे, इसलिये उनको लोग अजातशत्रु कहा करते थे। क्षात्रधर्ममें उनकी इतनी दृढ़ता थी कि प्राण भले ही चले जायँ परन्तु उन्हें युद्धसे मुँह मोड़ना कभी नहीं आता था—इसी कारण वे 'युधिष्ठिर' नामसे प्रसिद्ध थे। उनके-जैसा धर्मपालनका उदाहरण संसारके इतिहासमें कम ही मिलता है। उनमें प्रायः कोई भी बात नहीं थी जो हमारे लिये शिक्षाप्रद न हो। एक जुआ खेलनेको छोड़कर उनमें और कोई भी दुर्व्यसन नहीं था। वह भी बहुत कम मात्रामें था। ऐसे तो बड़े-से-बड़े धार्मिक पुरुषोंके जीवनकी सूक्ष्म आलोचना करनेपर ऐसी कई बातें प्रतीत हो सकती हैं जो अनुकरणके योग्य न हों, किन्तु महाराज युधिष्ठिरकी तो प्रायः सभी बातें अनुकरणीय हैं। गुरु द्रोणाचार्यके पूछनेपर अश्वत्थामाकी मृत्युके सम्बन्धमें उन्होंने जो छलयुक्त मिथ्या भाषण किया था, उसके लिये वे सदा पश्चात्ताप किया करते थे। घरमें उनका बर्ताव इतना शुद्ध और उत्तम होता था कि उनके भाई, माता, स्त्री, नौकर आदि सभी उनसे सदा प्रसन्न रहते थे। इतना ही नहीं, वे जिस देशमें निवास करते थे, वहाँकी सारी प्रजा भी उनके सद्व्यवहारके कारण उनको श्रद्धा और पूज्यभावसे देखा करती थी। ब्राह्मण और साधुसमाज तो उनके विनम्र एवं मधुर स्वभावको देखकर सदा ही उनपर मुग्ध रहा करता था। तात्पर्य यह है कि महाराज युधिष्ठिर एक बड़े भारी सद्गुणसम्पन्न, सदाचारी, स्वार्थत्यागी, सत्यवादी, ईश्वरभक्त, धीर, वीर और गम्भीर स्वभाववाले तथा क्षमाशील धर्मात्मा थे, कल्याण चाहनेवाले महानुभावोंके लाभार्थ उनके जीवनकी कुछ महत्त्वपूर्ण

घटनाओंका दिग्दर्शनमात्र यहाँ कराया जाता है। मेरा विश्वास है कि महाराज युधिष्ठिरके गुण और आचरणोंको समझकर तदनुसार आचरण करनेसे बहुत भारी लाभ हो सकता है।

निर्वैरता

एक समयकी बात है, राजा दुर्योधन कर्ण, शकुनि और दुःशासन आदि भाइयोंके सहित बड़ी भारी सेना लेकर गौओंके निरीक्षणका बहाना करके पाण्डवोंको सन्ताप पहुँचानेके विचारसे उस द्वैत नामक वनमें गया जहाँपर पाण्डव निवास करते थे। दुर्योधनका उद्देश्य बुरा तो था ही, देवराज इन्द्र उसकी इस बातको जान गये। बस, उन्होंने चित्रसेन गन्धर्वको आज्ञा दी कि 'जल्दीसे जाकर उस दुष्ट दुर्योधनको बाँध लाओ।' देवराजकी यह आज्ञा पाकर वह गन्धर्व दुर्योधनको युद्धमें परास्त करके उसको साथियोंसहित बाँधकर ले गया। किसी प्रकार जान बचाकर दुर्योधनका वृद्ध मन्त्री कुछ सैनिकोंके साथ तुरन्त महाराज युधिष्ठिरकी शरणमें पहुँचा और वहाँपर उसने इस घटनाका सारा समाचार सुनाया और उसने दुर्योधन आदिको गन्धर्वके हाथसे छुड़ानेकी भी प्रार्थना की। इतना सुनकर महाराज युधिष्ठिर कब चुप रहनेवाले थे? वे तुरन्त दुर्योधनकी रक्षाके लिये प्रस्तुत हो गये। उन्होंने कहा—'नरव्याघ्र अर्जुन, नकुल, सहदेव और अजेय वीर भीमसेन! उठो, उठो, तुम सब लोग शरणमें आये हुए इन पुरुषोंकी और अपने कुलवालोंकी रक्षाके लिये शस्त्र ग्रहण करके तैयार हो जाओ! जरा भी विलम्ब मत करो; देखो दुर्योधनको गन्धर्व कैद करके लिये जा रहे हैं! उसे तुरन्त

छुड़ाओ।'* महाराज युधिष्ठिरने फिर कहा—'मेरे वीर श्रेष्ठ बन्धुओ ! शरणागतकी यथाशक्ति रक्षा करना सभी क्षत्रिय राजाओंका महान् कर्तव्य है ! शत्रुकी रक्षाका माहात्म्य तो और भी बड़ा है ! मैंने यदि यह यज्ञ आरम्भ न किया होता तो मैं स्वयं ही उस बंदी दुर्योधनको छुड़ानेके लिये दौड़ पड़ता, पर अब विवशता है। इसीलिये कहता हूँ, वीरवरो ! जाओ—जल्दी जाओ; हे कुरुनन्दन भीमसेन ! यदि वह गन्धर्वराज समझानेसे न माने तो तुम लोग अपना प्रबल पराक्रम दिखलाकर किसी तरह अपने भाई दुर्योधनको उसकी कैदसे छुड़ाओ।' इस प्रकार अजातशत्रु धर्मराजके इन वचनोंको सुनकर भीमसेन आदि चारों भाइयोंके मुखपर प्रसन्नता छा गयी। उन लोगोंके अधर और भुजदण्ड एक साथ फड़क उठे। उन सबकी ओरसे महावीर अर्जुनने कहा—'महाराज ! आपकी जो आज्ञा ! यदि गन्धर्वराज समझाने-बुझानेपर दुर्योधनको छोड़ देंगे, तब तो ठीक ही है; नहीं तो यह माता पृथ्वी गन्धर्वराजका रक्तपान करेगी।' अर्जुनकी इस प्रतिज्ञाको सुनकर दुर्योधनके बूढ़े मन्त्री आदिको शान्ति मिली। इधर ये चारों पराक्रमी पाण्डव दुर्योधनको मुक्त करनेके लिये चल पड़े। सामना होनेपर अर्जुनने धर्मराजके आज्ञानुसार दुर्योधनको यों ही मुक्त कर देनेके लिये गन्धर्वोंको बहुत समझाया, परन्तु उन्होंने

---

* शरणं च प्रपन्नानां त्राणार्थं च कुलस्य च।
उत्तिष्ठध्वं नरव्याघ्राः सज्जीभवत मा चिरम्॥
अर्जुनश्च यमौ चैव त्वं च वीरापराजितः।
मोक्षयध्वं नरव्याघ्रा ह्रियमाणं सुयोधनम्॥
(वन० २४३। ६-७)

इनकी एक न सुनी। तब लाचार होकर अर्जुनने घोर युद्धद्वारा गन्धर्वोंको परास्त कर दिया। तत्पश्चात् परास्त चित्रसेनने अपना परिचय दिया और दुर्योधनादिको कैद करनेका कारण बताया। यह सुनकर पाण्डवोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे चित्रसेन और दुर्योधनादिको लेकर धर्मराजके पास आये। धर्मराजने दुर्योधनकी सारी करतूत सुनकर भी बड़े प्रेमके साथ दुर्योधन और उसके सब साथी बंदियोंको मुक्त करा दिया। फिर उसको स्नेहपूर्वक आश्वासन देते हुए उन्होंने सबको घर जानेकी आज्ञा दे दी। दुर्योधन लज्जित होकर सबके साथ घर लौट गया। ऋषि-मुनि तथा ब्राह्मण लोग धर्मराज युधिष्ठिरकी प्रशंसा करने लगे!

यह है महाराज युधिष्ठिरके आदर्श जीवनकी एक घटना! निर्वैरता तथा धर्मपालनका अनूठा उदाहरण! उनके मनमें दुष्ट दुर्योधनकी काली करतूतोंको सुनकर भी क्रोधकी छायाका भी स्पर्श नहीं हुआ। इतना ही नहीं, उसके दोषोंकी ओर उनकी दृष्टि भी नहीं गयी। बल्कि उनका हृदय उलटे दयासे भर गया। उन्होंने जल्दी ही उसको गन्धर्वराजके कठिन बन्धनसे मुक्त करवा दिया। यहींतक नहीं, उनकी इस क्रियासे दुर्योधन दुखी और लज्जित न हो, इसके लिये उन्होंने प्रेमपूर्ण वचनोंसे उसको आश्वासन भी दिया! मित्रोंकी तो बात ही क्या दुःखमें पड़े हुए शत्रुओंके प्रति भी हमारा क्या कर्तव्य है, इसकी शिक्षा स्पष्टरूपसे हमें धर्मराज युधिष्ठिर दे रहे हैं।

धैर्य

यह बात तो संसारमें प्रसिद्ध ही है कि दुर्योधनने कर्णकी

सम्मतिसे शकुनिके द्वारा धर्मराज युधिष्ठिरको छलसे जूएमें हराकर दाँवपर रक्खी हुई द्रौपदीको जीत लिया था। उसके पश्चात् दुर्योधनकी आज्ञासे दुःशासनने द्रौपदीको केश पकड़कर खींचते हुए भरी सभामें उपस्थित किया। द्रौपदी अपनी लाज बचानेके लिये रुदन करती हुई पुकारने लगी। सारी सभा द्रौपदीके व्याकुलतासे भरे हुए करुणापूर्ण रुदनको देखकर दुखी हो रही थी। किन्तु दुर्योधनके भयसे विदुर और विकर्णके सिवा किसीने भी उसके इस घृणित कुकर्मका विरोधतक नहीं किया। द्रौपदी उस समय रजस्वला थी और उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था। ऐसी अवस्थामें भी दुःशासनने भरी सभामें उसका वस्त्र खींचकर उसे नंगी कर देना चाहा। कर्ण नाना प्रकारके दुर्वचनोंद्वारा द्रौपदीका अपमान करने लगा। दुष्ट दुर्योधनने तो अपनी बायीं जाँघ दिखलाकर उसपर बैठनेका संकेत करके द्रौपदीके अपमानकी हद ही कर दी! वस्तुतः भारतकी एक सती अबलाके प्रति अत्याचारकी यह पराकाष्ठा थी! अब भीमसेनसे नहीं रहा गया। क्रोधके मारे उनके होठ फड़क उठे, रोमकूपोंसे चिनगारियाँ निकलने लगीं, किन्तु धर्मराजकी आज्ञा और संकेतके विना उनसे कुछ भी करते न बना। परन्तु धर्मात्मा युधिष्ठिर तो वचनबद्ध थे, इसलिये वे यह सब देख-सुनकर भी मौनव्रत धारण किये हुए चुपचाप शान्तभावसे बैठे रहे। द्रौपदी चीख उठी, उसने अपनी रक्षाके लिये आँखोंमें आँसू भरकर सारी सभासे अनुरोध किया, पर सबने सिर नीचा कर लिया। अन्तमें उसने सबसे निराश होकर भगवान् श्रीकृष्णको सहायताके लिये पुकारा और आर्त भक्तकी पुकार सुनकर

भगवान्‌ने ही द्रौपदीकी लाज बचायी। हमें यहाँ युधिष्ठिर महाराजके धैर्यको देखना है। वे जरा-सा इशारा कर देते तो एक क्षणमें वहाँपर प्रलयका दृश्य उपस्थित हो गया होता, परन्तु उन्होंने उस समय धैर्यका सच्चा स्वरूप क्या हो सकता है, इसको प्रत्यक्ष करके दिखला दिया ! धन्य हैं अपूर्व धैर्यवान् युधिष्ठिरजी महाराज !

अक्रोध, क्षमा

महाराज युधिष्ठिर अक्रोध और क्षमाके मूर्तिमान् विग्रह थे। महाभारतके वनपर्वमें* एक कथा आती है कि द्रौपदीने एक बार महाराज युधिष्ठिरके मनमें क्रोधका सञ्चार करानेके लिये अतिशय चेष्टा की। उसने महाराजसे कहा—'नाथ ! मैं राजा द्रुपदकी कन्या हूँ, पाण्डवोंकी धर्मपत्नी हूँ, धृष्टद्युम्नकी भगिनी हूँ; मुझको जंगलोंमें मारी-मारी फिरती देखकर तथा अपने छोटे भाइयोंको वनवासके घोर दुःखसे व्याकुल देखकर भी यदि आपको धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर क्रोध नहीं आता तो इससे मालूम होता है कि आपमें जरा भी तेज और क्रोधकी मात्रा नहीं है। परन्तु देव ! जिस मनुष्यमें तेज और क्रोधका अभाव है, जो क्रोधके पात्रपर भी क्रोध नहीं करता, वह तो क्षत्रिय कहलाने योग्य ही नहीं है। जो उपकारी हो, जिसने भूल या मूर्खतासे कोई अपराध कर दिया हो, अथवा अपराध करके जो क्षमाप्रार्थी हो गया हो, उसको क्षमा करना तो क्षत्रियका परम धर्म है; परन्तु जो जान-बूझकर बार-बार अपराध करता हो, उसको भी क्षमा करते रहना क्षत्रियका धर्म नहीं है।

---

* वनपर्वमें २७, २८, २९ अध्याय देखिये।

अतः स्वामी ! जान-बूझकर नित्य ही अनेकों अपराध करनेवाले ये धृतराष्ट्रपुत्र क्षमाके पात्र नहीं, बल्कि क्रोधके पात्र हैं। इन्हें समुचित दण्ड मिलना ही चाहिये।' यह सुनकर महाराज युधिष्ठिरने उत्तर दिया—'द्रौपदी, तुम्हारा कहना ठीक है, किन्तु जो मनुष्य क्रोधके पात्रको भी क्षमा कर देता है वह अपनेको और उसको दोनोंको ही महान् संकटसे बचानेवाला होता है।* अतः हे द्रौपदी ! धीर पुरुषोंद्वारा त्यागे हुए क्रोधको मैं अपने हृदयमें कैसे स्थान दे सकता हूँ ?† क्रोधके वशीभूत हुआ मनुष्य तो सभी पापोंको कर सकता है। वह अपने गुरुजनोंका नाश कर डालता है। श्रेष्ठ पुरुषोंका तिरस्कार कर देता है। क्रोधी पुत्र अपने पिताको तथा क्रोध करनेवाली स्त्री अपने पतितकको मार डालती है। क्रोधी पुरुषको अपने कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान बिल्कुल नहीं रहता, वह जो चाहे सो अनर्थ बात-की-बातमें कर डालता है। उसे वाच्य-अवाच्यका भी ध्यान नहीं रहता ‡, वह जो मनमें आता है वही बकने लगता है। अतः तुम्हीं बतलाओ, महा

---

* आत्मानं च परांश्चैव त्रायते महतो भयात्।
क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन् द्वयोरेष चिकित्सकः॥
(वन० २९।९)

† तं क्रोधं वर्जितं धीरैः कथमस्मद्विधश्चरेत्।
एतद् द्रौपदि सन्धाय न मे मन्युः प्रवर्धते॥
(वन० २९।८)

‡ वाच्यावाच्ये हि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित्।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते तथा॥
(वन० २९।५)

अनर्थोंके मूलकारण क्रोधको मैं कैसे आश्रय दे सकता हूँ ? द्रौपदी ! क्रोधको तेज मानना मूर्खता है। वास्तवमें जहाँ तेज है, वहाँ तो क्रोध रह ही नहीं सकता। ज्ञानियोंका यह वचन है तथा मेरा भी यही निश्चय है कि जिस पुरुषमें क्रोध होता ही नहीं अथवा क्रोध होनेपर भी जो अपने विवेकद्वारा उसे शान्त कर देता है, उसीको तेजस्वी कहते हैं, न कि क्रोधीको तेजस्वी कहा जाता है। सुनो, जो क्रोधपात्रको भी क्षमा कर देता है, वह सनातन लोकको प्राप्त होता है। महामुनि कश्यपने तो कहा है कि क्षमा ही धर्म है, क्षमा ही यज्ञ है, क्षमा ही वेद है और क्षमा ही शास्त्र है। इस प्रकार क्षमाके स्वरूपको जाननेवाला सबको क्षमा ही करता है।* क्षमा ही ब्रह्म, क्षमा ही भूत, भविष्य, तप, शौच, सत्य सब कुछ है। इस चराचर जगत्को भी क्षमाने ही धारण कर रक्खा है।† तेजस्वियोंका तेज, तपस्वियोंका ब्रह्म, सत्यवादियोंका सत्य, याज्ञिकोंका यज्ञ तथा मनको वशमें करनेवालोंकी शान्ति भी क्षमा ही है।‡ जिस क्षमाके आधारपर सत्य, ब्रह्म, यज्ञ और पवित्र लोक स्थित हैं, उस क्षमाको मैं कैसे त्याग सकता हूँ।§

* क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम्।
य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति॥

† क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत्॥

‡ क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम्।
क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः॥

§ तां क्षमां तादृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत्।
यस्यां ब्रह्म च सत्यं च यज्ञा लोकाश्च धिष्ठिताः॥

(वन० २९। ३६, ३७, ४०, ४१)

तपस्वियोंको, ज्ञानियोंको, कर्मियोंको जो गति मिलती है, उससे भी उत्तम गति क्षमावान् पुरुषोंको मिलती है। जो सब प्रकारसे क्षमाको धारण किये होते हैं, उनको ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। अतः सबको निरन्तर क्षमाशील बनना चाहिये !* हे द्रौपदी ! तू भी क्रोधका परित्याग करके क्षमा धारण कर।'

कितना सुन्दर उपदेश है, कितने भव्य भाव हैं ! जंगलमें दुःखसे कातर बनी हुई अपनी धर्मपत्नीके प्रति निकले हुए धर्मराजके ये वचन अक्रोधके ज्वलन्त उदाहरण हैं ! तेज, क्षमा और शान्तिका इतना सुन्दर सम्मिश्रण और किसीमें प्रायः ढूँढ़नेसे भी नहीं मिलता।

सत्य

महाराज युधिष्ठिर सत्यवादी थे, यह शास्त्र तथा लोक दोनोंमें ही प्रसिद्ध है। भीमसेनने एक समय धर्मराजसे अपने भाइयों तथा द्रौपदीके कष्टोंकी ओर ध्यान दिलाकर जूएमें हारे हुए अपने राज्यको बलपूर्वक वापस कर लेनेकी प्रार्थना की।† इसपर महाराज युधिष्ठिरने उत्तर दिया—'भीमसेन ! राज्य, पुत्र, कीर्ति, धन—ये सब एक साथ मिलकर सत्यके सोलहवें हिस्सेके समान भी नहीं हैं। अमरता और प्राणोंसे भी बढ़कर मैं सत्यपालनरूप

---

* क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता।
यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥
(वन० २९। ४२)

† महाभारत वनपर्वके अध्याय ३३-३४ में यह प्रसंग है।

धर्मको मानता हूँ । तू मेरी प्रतिज्ञाको सच मान ।* कुरुवंशियोंके सामने की गयी अपनी उस सत्य प्रतिज्ञासे मैं जरा भी विचलित नहीं हो सकता । तू बीज बोकर फलकी प्रतीक्षा करनेवाले किसानकी तरह वनवास तथा अज्ञातवासके समाप्तिकालकी प्रतीक्षा कर ।' भीमसेनने फिर प्रार्थना की—'महाराज, हमलोग तेरह महीनेतक तो वनवास कर ही चुके हैं, वेदके आज्ञानुसार आप इसीको तेरह वर्ष क्यों न समझ लें ?'† किन्तु धर्मराजने इसको भी छलयुक्त सत्यका आश्रय लेना समझा और उसे स्वीकार नहीं किया । वे अपने यथार्थ सत्यपर ही डटे रहे ।

धर्मराजकी सत्यतापर उनके शत्रु भी विश्वास करते थे । सत्य-पालनकी महिमाके कारण उनका रथ पृथ्वीसे चार अंगुल ऊपर उठकर चला करता था । सत्यपालनका इतना माहात्म्य है ! महा-भारतमें तो एक जगह कहा गया है कि एक बार सहस्र अश्वमेधयज्ञोंके फल केवल सत्यके महाफलके साथ तौले गये

---

* मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां
वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च ।
राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च
सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति ॥
(वन० ३४ । २२)

† अस्माभिरुषिताः सम्यग्वने मासास्त्रयोदश ।
परिमाणेन तान् पश्य तावतः परिवत्सरान् ॥
(वन० ३५ । ३२)
'यो मासः स संवत्सरः' इति श्रुतेः ।

तो उनकी अपेक्षा सत्यका फल ही अधिक भारी सिद्ध हुआ ।*

परन्तु कहाँ सत्यके आदर्शस्वरूप महाराज युधिष्ठिर और कहाँ प्रायः पग-पगपर मिथ्याका आश्रय ग्रहण करनेवाला आजकलका साधारण जनसमुदाय !

विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, समता

एक समय साक्षात् धर्मने महाराज युधिष्ठिरकी परीक्षा लेनेके उद्देश्यसे हरिणका रूप धारण किया । वे किसी अग्निहोत्री ब्राह्मणकी अरणी (जिससे अग्नि प्रकट किया जाता है) को अपने सींगोंमें उलझाकर जंगलमें चले गये । ब्राह्मण व्याकुल होकर महाराज युधिष्ठिरके पास पहुँचा और उनसे हरिणद्वारा अपनी अरणीके ले जानेकी बात कही । ब्राह्मणने धर्मराज युधिष्ठिरसे यह याचना की कि वे किसी प्रकार उस अरणीको ढुँढ़वाकर उसे दे दें ताकि अग्निहोत्रका काम बंद न हो । यह सुनना था कि महाराज युधिष्ठिर अपने चारों भाइयोंको साथ लेकर उस हरिणके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए जंगलमें बहुत दूरतक चले गये । किन्तु अन्तमें वह हरिण अन्तर्धान हो गया और सभी भाई प्याससे व्याकुल होकर और थककर एक वटवृक्षके नीचे बैठ गये । कुछ देर बाद धर्मराजकी आज्ञा लेकर नकुल जलकी खोजमें निकले । वे जल्दी ही एक जलाशयपर पहुँच गये परन्तु ज्यों ही उन्होंने वहाँके निर्मल जलको पीना चाहा, त्यों ही यह आकाश-

---

* अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥
(शान्ति० १६२ । २६)

वाणी हुई—'माद्रीपुत्र नकुल ! यह स्थान मेरा है। मेरे प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना कोई इसका जल नहीं पी सकता। इसलिये तुम पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो, फिर स्वयं जल पीओ तथा भाइयोंके लिये भी ले जाओ।' किन्तु नकुल तो प्यासके मारे बेचैन हो रहे थे, उन्होंने उस आकाशवाणीकी ओर ध्यान नहीं दिया और जल पी लिया। फलस्वरूप जल पीते ही उनकी मृत्यु हो गयी। इधर नकुलके लौटनेमें विलम्ब हुआ देखकर धर्मराजकी आज्ञासे क्रमशः सहदेव, अर्जुन और भीम ये तीनों भाई भी उस जलाशयके निकट आये और इन तीनोंने भी प्याससे व्याकुल होनेके कारण यक्षके प्रश्नोंकी परवा न करते हुए जलपान कर ही लिया और उसी प्रकार इन लोगोंकी भी क्रमशः मृत्यु हो गयी। अन्तमें महाराज युधिष्ठिरको स्वयं ही उस जलाशयपर पहुँचना पड़ा। वहाँ उन्हें अपने चारों भाइयोंको मरा हुआ देखकर, बड़ा भारी दुःख तथा आश्चर्य हुआ। वे उनकी मृत्युका कारण सोचने लगे। जलकी परीक्षा करनेपर उसमें कोई दोष नहीं दिखायी पड़ा और न उन मृत भाइयोंके शरीर-पर कोई घाव ही दीख पड़े। अतः उन्हें उनकी मृत्युका कोई कारण समझमें नहीं आया। थोड़ी देर बाद अत्यन्त प्यास लगनेके कारण जब वे भी जल पीनेके लिये बढ़े तब फिर वही आकाशवाणी हुई। उसे सुनकर धर्मराजने आकाशचारीसे उसका परिचय पूछा। आकाशचारीने अपनेको यक्ष बतलाया तथा उसने यह भी कहा कि 'तुम्हारे भाइयोंने सावधान करनेपर भी मेरे प्रश्नोंका उत्तर नहीं दिया—लापरवाहीके साथ जल पी लिया। इसलिये मैंने ही इनको मार डाला है। तुम भी मेरे प्रश्नोंका उत्तर देकर ही जल पी

सकते हो। अन्यथा तुम्हारी भी यही गति होगी।' महाराज युधिष्ठिरने कहा—'यक्ष ! तुम प्रश्न करो। मैं अपनी बुद्धिके अनुसार तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर देनेकी चेष्टा करूँगा।' इसपर यक्षने बहुतेरे प्रश्न किये और महाराज युधिष्ठिरने उसके सब प्रश्नोंका यथोचित उत्तर दे दिया। यहाँ उन सारे-के-सारे प्रश्नोंका उल्लेख न करके केवल धर्मराजद्वारा दिये गये उत्तरोंका अधिकांश भाग दिया जाता है। महाराज युधिष्ठिरने यक्षसे कहा—

वेदका अभ्यास करनेसे मनुष्य श्रोत्रिय होता है। तपस्यासे महत्ताको प्राप्त करता है। धैर्य रखनेसे दूसरे सहायक बन जाते हैं। वृद्धोंकी सेवा करनेसे मनुष्य बुद्धिमान् होता है। तीनों वेदोंके अनुसार किया हुआ कर्म नित्यफल देता है। मनको वशमें रखनेसे मनुष्यको कभी शोकका शिकार नहीं होना पड़ता। सत्पुरुषोंके साथ की हुई मित्रता जीर्ण नहीं होती। मानके त्यागसे मनुष्य सबका प्रिय होता है। क्रोधके त्यागसे शोकरहित होता है। कामनाके त्यागसे अर्थकी सिद्धि होती है। लोभके त्यागसे वह सुखी होता है। स्वधर्मपालनका नाम तप है, मनको वशमें करना दम है, सहन करनेका नाम क्षमा है, अकर्तव्यसे विमुख हो जाना लज्जा है, तत्त्वको यथार्थरूपसे जानना ज्ञान है, चित्तके शान्तभावका नाम शम है, सबको सुखी देखनेकी इच्छाका नाम आर्जव है। क्रोध मनुष्यका वैरी है। लोभ असीम व्याधि है। जो सब भूतोंके हितमें रत है वह साधु है और जो निर्दयी है वह असाधु है। धर्मपालनमें मूढ़ता ही मोह है, अभिमान ही मान है, धर्ममें अकर्मण्यता ही आलस्य है, शोक करना ही मूर्खता है, स्वधर्ममें डटे रहना ही स्थिरता है।

इन्द्रियनिग्रह धैर्य है, मनके मैलका त्याग करना स्नान है। प्राणियोंकी रक्षा करना दान है। धर्मका जाननेवाला ही पण्डित तथा नास्तिक ही मूर्ख है। जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त करानेवाली वासनाका नाम काम है। दूसरेकी उन्नतिको देखकर जो मनमें सन्ताप होता है, उसका नाम मत्सरता है। अहङ्कार ही महा अज्ञान है। मिथ्या धर्माचरण दिखानेका नाम दम्भ है। दूसरेके दोषोंको देखना पिशुनता है। जो पुरुष वेद, धर्मशास्त्र, ब्राह्मण, देवता, श्राद्ध और पितर आदिमें मिथ्याबुद्धि रखता है, वह अक्षय नरकको पाता है। प्रिय वचन बोलनेवाला लोगोंको प्रिय होता है। विचार कर कार्य करनेवाला प्राय: विजय पाता है। मित्रोंकी संख्या बढ़ानेवाला सुखपूर्वक रहता है। धर्ममें रत पुरुष सद्गुणोंको प्राप्त करता है। प्रतिदिन प्राणी यमलोककी यात्रा करते हैं, इसको देखकर भी बचे हुए लोग सदा स्थिर रहना चाहते हैं, इससे बढ़कर और आश्चर्य क्या है ?* जिसके लिये प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, भूत-भविष्य आदि सब समान हैं, वह निःसन्देह सबसे बड़ा धनी है।† इस प्रकार अनेकों प्रश्नोंका समुचित उत्तर पानेके बाद यक्ष प्रसन्न हुआ। उसने महाराज युधिष्ठिरको जल पीनेकी आज्ञा दी और कहा—'इन चारों भाइयों-मेंसे तुम जिस एकको कहो, मैं उसे जिला दूँगा।' इसपर महाराज

---

* अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

† तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च।
अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः॥

(वन० ३१३। ११६, १२१)

युधिष्ठिरने अपने भाई नकुलको जिलानेके लिये कहा । यक्षने आश्चर्यचकित होकर पूछा—'अजी, दस हजार हाथियोंका बल रखनेवाले भीमको तथा जिसके अपार बाहुबलका तुम लोगोंको भरोसा है उस अर्जुनको छोड़कर तुम नकुलको क्यों जिलाना चाहते हो ?' महाराज युधिष्ठिरने कहा—'जो मनुष्य अपने धर्मका नाश कर देता है, या यों कहो कि त्याग कर देता है उसका धर्म भी नाश कर देता है। परन्तु जो धर्मकी रक्षा करता है उसकी रक्षा धर्म करता है।* यक्ष ! मुझको लोग सदा धर्मपरायण रहनेवाला समझते हैं इसलिये मेरा भाई नकुल ही जीवित हो, मैं धर्मको नहीं छोड़ सकता ।† मेरे पिताकी कुन्ती और माद्री दो स्त्रियाँ थीं, वे दोनों पुत्रवती बनी रहें, ऐसा मेरा निश्चित विचार है ।‡ क्योंकि मेरे लिये जैसी मेरी माता कुन्ती है, वैसी ही माद्री है। उन दोनोंमें कोई भी मेरे लिये न्यूनाधिक नहीं है । इसलिये मैं उन दोनों माताओंपर समान भाव रखना चाहता हूँ । (कुन्तीका पुत्र मैं तो जीवित हूँ ही, अब माद्रीका पुत्र) नकुल भी जीवित हो जाय ।§ क्योंकि समता ही सब धर्मोंमें सबसे बड़ा धर्म है !'

---

* धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ॥

† धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः ।
स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥

‡ कुन्ती चैव तु माद्री च द्वे भार्ये तु पितुर्मम ।
उभे सपुत्रे स्यातां वै इति मे धीयते मतिः ॥

§ यथा कुन्ती तथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः ।
मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥

(वन० ३१३ । १२८, १३०, १३१-१३२)

महाराज युधिष्ठिरका यह धर्ममय उत्तर सुनकर यक्ष बड़ा ही प्रसन्न हुआ। उसने कहा—'हे युधिष्ठिर ! तुम सचमुच बड़े धर्मात्मा हो, अर्थ और कामसे बढ़कर तुम धर्मको मानते हो। तुम्हारे सभी भाई जीवित हो जायँ।' यक्षके यह कहते ही चारों भाई तत्काल जी उठे। महाराज युधिष्ठिरने यक्षसे यथार्थ परिचय देनेकी प्रार्थना की। तब यक्षने खुलकर कहा—'वत्स युधिष्ठिर ! मैं तुम्हारा पिता साक्षात् धर्म हूँ। तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये मैंने ही हरिणका रूप धारण किया था और उस ब्राह्मणकी अरणी उठा ले गया था।' इसके पश्चात् धर्मने महाराज युधिष्ठिरको अरणी लौटा दी तथा युधिष्ठिरसे वर माँगनेके लिये कहा। महाराज युधिष्ठिरने प्रार्थना की—'देव ! आप सनातन देवोंके देव हैं। मैं आपके दर्शनोंसे ही कृतार्थ हो गया। आप जो कुछ भी मुझे वर देंगे, उसे मैं शिरोधार्य करूँगा। विभो ! मुझको आप यही वर दें कि मैं क्रोध, लोभ, मोह आदिको सदाके लिये जीत लूँ तथा मेरा मन दान, तप और सत्यमें निरन्तर लगा रहे।'* धर्मने कहा—'पाण्डव ! ये गुण तो स्वभावसे ही तुममें वर्तमान हैं। तुम तो साक्षात् धर्म हो, तथापि तुमने मुझसे जितनी वस्तुएँ माँगी हैं वे सब तुम्हें प्राप्त हों।'† यह कहकर धर्म अन्तर्धान हो गये।

---

* जयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाहं सदा विभो।
दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत्॥
(वन० ३१४। २४)

† उपपन्नो गुणैरेतैः स्वभावेनासि पाण्डव।
भवान् धर्मः पुनश्चैव यथोक्तं ते भविष्यति॥
(वन० ३१४। २५)

महाराज युधिष्ठिरद्वारा दिये गये इन उत्तरोंकी मार्मिकताको सम्भव है, आजके नास्तिकयुगमें पैदा होनेके कारण हमलोग न समझ सकें तथा महाराज युधिष्ठिरका मूल्य न आँक सकें, किन्तु यदि सरल मनसे विचार किया जाय तो हमलोगोंको धर्मराजके महान् व्यक्तित्वका प्रत्यक्षीकरण हो सकेगा और हम सब लोग उनकी विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता एवं समतासे भरे हुए इन वचनोंको सुनकर 'धन्य, धन्य' कह उठेंगे ! धर्मराजके जीवनमें क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणोंका लेश भी नहीं था; दान, तप, सत्य आदि दैवी गुणोंके वे अधिष्ठान थे; फिर भी उन्होंने उपर्युक्त वरकी ही याचना की ! धन्य है उनकी निरभिमानता !!

पवित्रताका प्रभाव

जब महाराज युधिष्ठिर अपने सब भाइयोंके साथ विराट-नगरमें छिपे हुए थे तब कौरवोंके द्वारा उन लोगोंकी खोजके लिये अनेकों प्रयत्न किये गये, पर कहीं भी उनका पता न चला । सभी सभासदोंने नाना प्रकारके उपाय बतलाये, परन्तु सभी निष्फल हो गये । अन्तमें भीष्मपितामहने एक युक्ति बतलायी । उन्होंने कहा—'अबतक पाण्डवोंका पता लगानेके लिये जितने भी उपाय काममें लाये गये हैं तथा अभी काममें लाये जानेवाले हैं, वे सब मेरी सम्मतिमें सर्वथा अनुपयुक्त हैं । क्योंकि साधारण दूतोंद्वारा क्या उनका पता लग सकता है ? उनकी खोज करनेका साधन यह है, आपलोग इसको ध्यानपूर्वक सुनें । जिस देश और राज्यमें पवित्रात्मा जितेन्द्रिय राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँके राजाका अमंगल

नहीं हो सकता । उस देशके मनुष्य निश्चय ही दानशील, उदार, शान्त, लज्जाशील, प्रियवादी, जितेन्द्रिय, सत्यपरायण, हृष्ट-पुष्ट, पवित्र तथा चतुर होंगे। वहाँकी प्रजा असूया, ईर्ष्या, अभिमान और मत्सरतासे रहित होगी तथा सब लोग स्वधर्मके अनुसार आचरण करनेवाले होंगे* । वहाँ निस्सन्देह अच्छी तरहसे वर्षा होगी । सारा-का-सारा देश प्रचुरधनधान्यसम्पन्न और पीड़ारहित होगा । वहाँके अन्न सारयुक्त होंगे, फल रसमय होंगे, पुष्प सुगन्धित होंगे, वहाँका पवित्र पवन सुखदायक होगा, वहाँ प्रचुर मात्रामें दूध देनेवाली हृष्ट-पुष्ट गायें होंगी । धर्म वहाँ स्वयं मूर्तिमान् होकर निवास करेंगे । वहाँके सभी मनुष्य सदाचारी, प्रीति करनेवाले, सन्तोषी तथा अकालमृत्युसे रहित होंगे । देवताओंकी पूजामें प्रीति रखनेवाले उत्साहयुक्त और धर्मपरायण होंगे । वहाँके मनुष्य सदा परोपकारपरायण होंगे । हे तात ! महाराज युधिष्ठिरके शरीरमें सत्य, धैर्य, दान, परम शान्ति, ध्रुव क्षमा, शील, कान्ति, कीर्ति, प्रभाव, सौम्यता, सरलता आदि गुण निरन्तर निवास करते हैं । ऐसे

---

* तत्र तात न तेषां हि राज्ञां भाव्यमसाम्प्रतम् ॥
पुरे जनपदे चापि यत्र राजा युधिष्ठिरः ।
दानशीलो वदान्यश्च निभृतो ह्रीनिषेवकः ।
जनो जनपदे भाव्यो यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥
प्रियवादी सदा दान्तो भव्यः सत्यपरो जनः ।
हृष्टः पुष्टः शुचिर्दक्षो यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥
नासूयको न चापीर्षुर्नाभिमानी न मत्सरी ।
भविष्यति जनस्तत्र स्वयं धर्ममनुव्रतः ॥
(विराट० २८ । १४–१७)

महाराज युधिष्ठिरको बड़े-बड़े ब्राह्मण भी नहीं पहचान सकते, फिर साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है ?' * इस प्रकार भीष्म महाराजके वचनोंको सुनकर कृपाचार्यने उनका समर्थन किया ।

पाठक विचार करें, महाराज युधिष्ठिरके जीवनमें कितनी पवित्रता थी । इस वर्णनमें तो पवित्रताकी पराकाष्ठा हो गयी है । जिस धर्मराजके निवास करनेसे वहाँका देश पवित्रताकी चरम सीमापर पहुँच जाता था, उनकी पवित्रताकी हमलोग कल्पना भी नहीं कर सकते !

उदारता

महाराज युधिष्ठिरमें इसी प्रकार उदारता भी अद्भुत थी । जिस धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको जला देनेके लिये लाक्षाभवनमें भेजा था, जिसके हृदयमें पाण्डवोंको तेरह वर्षके लिये वनवासकी यात्रा करते देखकर जरा भी दया नहीं आयी, उसी धृतराष्ट्रने महाभारतकी लड़ाईके १५ वर्ष बाद तपस्या करनेके लिये वन जाते समय दान-पुण्यमें खर्च करनेके लिये, विदुरको भेजकर जब धनकी याचना की और उसपर उसके साथ महाराज युधिष्ठिरने जैसा व्यवहार किया उसको देखकर हृदय मुग्ध हो जाता है । महाराज युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रका यह सन्देश सुनते ही विदुरसे कहला भेजा कि 'मेरा

* धर्मात्मा शक्यते ज्ञातुं नापि तात द्विजातिभिः ॥
किं पुनः प्राकृतैस्तात पार्थो विज्ञायते क्वचित् ।
यस्मिन् सत्यं धृतिर्दानं परा शान्तिर्ध्रुवा क्षमा ॥
ह्रीः श्रीः कीर्तिः परं तेज आनृशंस्यमथार्जवम् ।
(विराट० २८ । ३०-३२)

शरीर और मेरी सारी सम्पत्ति आपकी ही है। मेरे घरकी प्रत्येक वस्तु आपकी है। आप इन्हें इच्छानुसार संकोच छोड़कर व्यवहारमें ला सकते हैं।' इस वचनको सुनकर धृतराष्ट्रकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। वे भीष्म, द्रोण, सोमदत्त, जयद्रथ, दुर्योधन आदि पुत्र-पौत्रोंका एवं समस्त मृत सुहृदोंका श्राद्ध करके दान देने लगे। वस्त्र, आभूषण, सोना, रत्न, गहनोंसे सजाये हुए घोड़े, ग्राम, गौएँ आदि अपरिमित वस्तुएँ दान दी गयीं। बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरकी आज्ञासे धृतराष्ट्रने जिसको सौ देनेको कहा था उसे हजार और जिसे हजार देनेको कहा था, उसे दस हजार दिये।* तात्पर्य यह कि जिस प्रकार मेघ वृष्टिद्वारा भूमिको तृप्त कर देता है, उसी प्रकार भाँति-भाँतिके द्रव्योंके प्रचुर दानसे ब्राह्मणोंको तृप्त कर दिया गया। लगातार दस दिनोंतक इच्छापूर्वक दान देते-देते धृतराष्ट्र थक गये।

हमलोग महाराज युधिष्ठिरकी इस अनुपम उदारताकी ओर देखें और फिर आजकलकी संकीर्णतासे उसका मुकाबिला करें। आकाश-पातालका अन्तर दिखायी देगा। अपनी बुराई करनेवालोंकी बात तो दूर रही, आजकलके अधिकांश लोग अपने माता-पिता एवं सुहृदोंके प्रति भी कैसा असत्य व्यवहार करते हैं, यह किसीसे छिपा नहीं है। उनकी वृद्धावस्था आनेपर उनके लिये साधारण अन्न-वस्त्रकी भी व्यवस्था नहीं हो पाती।

---

* शते देये दशशतं सहस्रे चायुतं तथा।
दीयते वचनाद्राज्ञः कुन्तीपुत्रस्य धीमतः॥
(आश्रम० १४। १०)

त्याग

स्वर्गारोहणके समयकी कथा है, महाराज युधिष्ठिर हिमालयपर चढ़ने गये। द्रौपदी तथा उनके चारों भाई एक-एक करके बर्फमें गिरकर मर गये। किसी प्रकार साथका एक कुत्ता बच गया था, वही धर्मराज युधिष्ठिरका अनुसरण करता जा रहा था। उसी समय देवराज इन्द्र रथ लेकर महाराज युधिष्ठिरके सम्मुख उपस्थित हुए। उन्होंने महाराज युधिष्ठिरको रथपर बैठनेके लिये आज्ञा दी। युधिष्ठिरने कहा—'यह कुत्ता अबतक मेरे साथ चला आ रहा है। यह भी मेरे साथ स्वर्ग चलेगा।' देवराज इन्द्रने कहा—'नहीं, कुत्ता रखनेवालोंके लिये स्वर्गमें स्थान नहीं है। तुम कुत्तेको छोड़ दो।' इसपर महाराज युधिष्ठिरने कहा—'देवराज, आप यह क्या कह रहे हैं? भक्तोंका त्याग करना ब्रह्महत्याके समान महापातक बतलाया गया है। इसलिये मैं अपने सुखके लिये इस कुत्तेको किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता*। डरे हुएको, भक्तको, 'मेरा कोई नहीं है' ऐसा कहनेवाले शरणागतको, निर्बलको तथा प्राणरक्षा चाहनेवालेको छोड़नेकी चेष्टा मैं कभी नहीं कर सकता, चाहे मेरे प्राण भी क्यों न चले जायँ। यह मेरा सदाका दृढ़ व्रत है†।' यह

* भक्तत्यागं प्राहुरनन्तपापं तुल्यं लोके ब्रह्मवध्याकृतेन।
तस्मान्नाहं जातु कथञ्चनाद्य त्यक्ष्याम्येनं स्वसुखार्थी महेन्द्र॥
(महाप्रास्थान० ३। ११)

† भीतं भक्तं नान्यदस्तीति चार्तं प्राप्तं क्षीणं रक्षणे प्राणलिप्सुम्।
प्राणत्यागादप्यहं नैव मोक्तुं यतेयं वै नित्यमेतद् व्रतं मे॥
(महाप्रास्थान० ३। १२)



देवराज इन्द्र और महाराज युधिष्ठिर

सुनकर देवराज इन्द्रने कहा—'हे युधिष्ठिर! जब तुमने अपने भाइयोंको छोड़ दिया, धर्मपत्नी प्यारी द्रौपदी छोड़ दी, फिर इस कुत्तेपर तुम्हारी इतनी ममता क्यों है?' युधिष्ठिरने उत्तर दिया—'देवराज, उन लोगोंका त्याग मैंने उनके मरनेपर किया है, जीवित अवस्थामें नहीं। मरे हुएको जीवनदान देनेकी क्षमता मुझमें नहीं है। मैं आपसे फिर निवेदन करता हूँ कि शरणागतको भय दिखलाना, स्त्रीका वध करना, ब्राह्मणका धन हरण कर लेना और मित्रोंसे द्रोह करना, इन चारके पापोंके बराबर केवल एक भक्तके त्यागका पाप है, ऐसी मेरी सम्मति है।* अतः मैं इस कुत्तेको किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता।'

युधिष्ठिरके इन दृढ़ वचनोंको सुनकर साक्षात् धर्म, जो कि कुत्तेके रूपमें विद्यमान थे, प्रकट हो गये। उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—'युधिष्ठिर! कुत्तेको तुमने अपना भक्त बतलाकर स्वर्गतकका परित्याग कर दिया। अतः तुम्हारे त्यागकी बराबरी कोई स्वर्गवासी भी नहीं कर सकता। तुमको दिव्य उत्तम गति मिल चुकी।' इस प्रकार साक्षात् धर्मने तथा उपस्थित इन्द्रादि देवताओंने महाराज युधिष्ठिरकी प्रशंसा की और वे प्रसन्नतापूर्वक महाराज युधिष्ठिरको रथमें बैठाकर स्वर्गमें ले गये।

पाठक! तनिक आधुनिक जगत्की ओर तो ध्यान दें! आज भी सहस्रों नर-नारी बदरिकाश्रम आदि तीर्थोंकी यात्रा करते हैं,

---

* भीतिप्रदानं शरणागतस्य स्त्रिया वधो ब्राह्मणस्वापहारः।
मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे॥
(महाप्रास्थान० ३। १६)

परन्तु साथियोंके प्रति उनका व्यवहार कैसा होता है ? कुत्ते आदि जानवरोंकी बात छोड़ दें, आजकलके तीर्थयात्रियोंके यदि निकट-सम्बन्धी भी संयोगवश मार्गमें बीमार पड़ जाते हैं तो वे उन्हें वहीं छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं। उनके करुणक्रन्दनकी उपेक्षा करके वे मुक्तिकी खोजमें चले जाते हैं। परन्तु यह उनका भ्रममात्र है। दयामय भगवान् केवल भावके भूखे हैं। भावरहितके लिये उनका द्वार सदा बंद है। यथार्थ बात तो यह है कि भगवान् हमारी परीक्षाके लिये ही ऐसे अवसर उपस्थित करते हैं। यदि ऐसा अवसर प्राप्त हो जाय तो हम लोगोंको बड़ी प्रसन्नतासे, प्रेमपूर्वक भगवान्की आज्ञा समझकर अनाथों, व्याधिपीड़ितों और दुःखग्रस्तोंकी सहायता करनी चाहिये। उन्हें मार्गमें छोड़ जाना तो स्वयं अपने हाथोंसे मंगलमय भगवान्के पवित्र धामके पटको बंद कर देना है। यदि हम अपने इन कर्तव्योंका पालन करते हुए तीर्थयात्रा करें तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस प्रकार धर्मके लिये कुत्तेको अपनानेके कारण महाराज युधिष्ठिरके सामने साक्षात् धर्म प्रकट हो गये थे, ठीक उसी प्रकार हमारे सामने भगवान् भी प्रकट हो सकते हैं!

उपसंहार

इस संसारमें बहुत-से धार्मिक महापुरुष हुए हैं, किन्तु 'धर्मराज' शब्दसे केवल महाराज युधिष्ठिर ही सम्बोधित किये गये हैं। महाराज युधिष्ठिरका सम्पूर्ण जीवन ही धर्ममय था। इसी कारण आजतक वे 'धर्मराज' के नामसे प्रसिद्ध हैं! शास्त्रोंमें धर्मके जितने लक्षण बतलाये गये हैं वे प्रायः सभी उनमें विद्यमान

थे। स्मृतिकार महाराज मनुने जो धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं* वे तो मानो उनमें कूट-कूटकर भरे थे। गीतोक्त दैवी सम्पदाके छब्बीस लक्षण† तथा महर्षि पतञ्जलिके बतलाये हुए दस यम-नियमादि‡ भी प्रायः उनमें मौजूद थे। और महाभारतमें वर्णित सामान्य धर्मके तो आप आदर्श ही थे। इस लेखमें उनके जीवनकी केवल आठ घटनाओंका ही उल्लेख किया गया है, परन्तु उनका सारा ही जीवन सद्गुण और सदाचारसे ओतप्रोत था।

महाराज युधिष्ठिरने अवसर उपस्थित होनेपर अपने निर्वैरता, धैर्य, क्षमा, अक्रोध आदि सद्गुणोंका केवल वाचिक ही नहीं, बल्कि क्रियात्मक आदर्श सामने रक्खा। सत्यपालन तो उनका प्राण था। इस विषयमें आज भी वे अद्वितीय एवं अप्रतिम माने जाते हैं। धर्मराजका प्रत्येक वचन विद्वत्ता और बुद्धिमत्तासे परिपूर्ण

---

* धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६।९२)

'धृति, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दश धर्मके लक्षण हैं।'

† गीतामें अध्याय १६ श्लोक १, २, ३ देखिये।

‡ अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (योग० २।३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये यम हैं।'

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

(योग० २।३२)

'शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये नियम हैं।'

होता था, यह यक्षकी आख्यायिकासे भी स्पष्ट हो जाता है। समताकी रक्षाके लिये तो उन्होंने अपने सहोदर भाइयोंतककी उपेक्षा कर दी थी! और उनकी पवित्रता तो यहाँतक बढ़ी हुई थी कि उनकी निवासभूमि भी परम पवित्र बन जाती थी। उनके शम-दमादि शुभ गुणोंसे प्रभावित होकर प्रायः समूचा देश संयमी बन जाता था। स्वार्थत्यागकी तो उनमें बात ही निराली थी। एक क्षुद्र कुत्तेके लिये उन्होंने स्वर्गको भी ठुकरा दिया। उनका प्रत्येक कर्म स्वार्थत्याग और दयासे परिपूर्ण होता था। धृतराष्ट्रकी याचनापर उन्होंने जो महान् औदार्य दिखलाया, वह भी उनके अपूर्व स्वार्थत्यागकी भावनाका ही परिचायक है। यज्ञ, दान, तप, तेज, शान्ति, लज्जा, सरलता, निरभिमानता, निर्लोभता, भक्तवत्सलता आदि अनेकों गुण उनमें एक साथ ही भरे थे। ऐसे सर्वगुणसम्पन्न महाराज युधिष्ठिरके जीवनको यदि हम आदर्श मानकर चलें तो हमारे कल्याणमें तनिक भी सन्देह न रह जायगा। प्रेमी पाठक महानुभावोंसे मेरा यह विनम्र निवेदन है कि वे महाराज युधिष्ठिरके इन गुणोंको तथा उनके आदर्श आचरणोंको यथाशक्ति अपनानेकी चेष्टा करें।



संत-महिमा

संतभावकी प्राप्ति भगवत्कृपासे होती है

संसारमें संतोंका स्थान सबसे ऊँचा है। देवता और मनुष्य, राजा और प्रजा—सभी सच्चे संतोंको अपनेसे बढ़कर मानते हैं। संतका ही जीवन सार्थक होता है। अतएव सभी लोगोंको संतभावकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌की शरण होना चाहिये। यहाँ एक प्रश्न होता है कि 'संतभावकी प्राप्ति प्रयत्नसे होती है या भगवत्कृपासे अथवा दोनोंसे? यदि यह कहा जाय कि वह केवल प्रयत्नसाध्य है तो सब लोग प्रयत्न करके संत क्यों नहीं बन जाते? यदि कहें कि भगवत्कृपासे होती है तो भगवत्कृपा सदा सबपर अपरिमित है ही, फिर सबको संतभावकी प्राप्ति क्यों नहीं हो जाती? दोनोंसे कही जाय तो फिर भगवत्कृपाका महत्त्व ही क्या रह गया, क्योंकि दूसरे प्रयत्नोंके सहारे विना केवल उससे भगवत्प्राप्ति हुई नहीं?' इसका उत्तर यह है कि भगवत्प्राप्ति यानी संतभावकी प्राप्ति भगवत्कृपासे ही होती है। वास्तवमें भगवत्प्राप्त पुरुषको ही संत कहा जाता है। 'सत्' पदार्थ केवल परमात्मा है और परमात्माके यथार्थ तत्त्वको जो जानता है और उसे उपलब्ध कर चुका है वही संत है। हाँ, गौणी वृत्तिसे उन्हें भी संत कह सकते हैं जो भगवत्प्राप्तिके पात्र हैं, क्योंकि वे भगवत्प्राप्तिरूप लक्ष्यके समीप पहुँच गये हैं और शीघ्र उन्हें भगवत्प्राप्तिकी सम्भावना है।

होता था, यह यक्षकी आख्यायिकासे भी स्पष्ट हो जाता है। समताकी रक्षाके लिये तो उन्होंने अपने सहोदर भाइयोंतककी उपेक्षा कर दी थी! और उनकी पवित्रता तो यहाँतक बढ़ी हुई थी कि उनकी निवासभूमि भी परम पवित्र बन जाती थी। उनके शम-दमादि शुभ गुणोंसे प्रभावित होकर प्रायः समूचा देश संयमी बन जाता था। स्वार्थत्यागकी तो उनमें बात ही निराली थी। एक क्षुद्र कुत्तेके लिये उन्होंने स्वर्गको भी ठुकरा दिया। उनका प्रत्येक कर्म स्वार्थत्याग और दयासे परिपूर्ण होता था। धृतराष्ट्रकी याचनापर उन्होंने जो महान् औदार्य दिखलाया, वह भी उनके अपूर्व स्वार्थत्यागकी भावनाका ही परिचायक है। यज्ञ, दान, तप, तेज, शान्ति, लज्जा, सरलता, निरभिमानता, निर्लोभता, भक्तवत्सलता आदि अनेकों गुण उनमें एक साथ ही भरे थे। ऐसे सर्वगुणसम्पन्न महाराज युधिष्ठिरके जीवनको यदि हम आदर्श मानकर चलें तो हमारे कल्याणमें तनिक भी सन्देह न रह जायगा। प्रेमी पाठक महानुभावोंसे मेरा यह विनम्र निवेदन है कि वे महाराज युधिष्ठिरके इन गुणोंको तथा उनके आदर्श आचरणोंको यथाशक्ति अपनानेकी चेष्टा करें।



संत-महिमा

संतभावकी प्राप्ति भगवत्कृपासे होती है

संसारमें संतोंका स्थान सबसे ऊँचा है। देवता और मनुष्य, राजा और प्रजा—सभी सच्चे संतोंको अपनेसे बढ़कर मानते हैं। संतका ही जीवन सार्थक होता है। अतएव सभी लोगोंको संतभावकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌की शरण होना चाहिये। यहाँ एक प्रश्न होता है कि 'संतभावकी प्राप्ति प्रयत्नसे होती है या भगवत्कृपासे अथवा दोनोंसे ? यदि यह कहा जाय कि वह केवल प्रयत्नसाध्य है तो सब लोग प्रयत्न करके संत क्यों नहीं बन जाते ? यदि कहें कि भगवत्कृपासे होती है तो भगवत्कृपा सदा सबपर अपरिमित है ही, फिर सबको संतभावकी प्राप्ति क्यों नहीं हो जाती ? दोनोंसे कही जाय तो फिर भगवत्कृपाका महत्त्व ही क्या रह गया, क्योंकि दूसरे प्रयत्नोंके सहारे विना केवल उससे भगवत्प्राप्ति हुई नहीं ?' इसका उत्तर यह है कि भगवत्प्राप्ति यानी संतभावकी प्राप्ति भगवत्कृपासे ही होती है। वास्तवमें भगवत्प्राप्त पुरुषको ही संत कहा जाता है। 'सत्' पदार्थ केवल परमात्मा है और परमात्माके यथार्थ तत्त्वको जो जानता है और उसे उपलब्ध कर चुका है वही संत है। हाँ, गौणी वृत्तिसे उन्हें भी संत कह सकते हैं जो भगवत्प्राप्तिके पात्र हैं, क्योंकि वे भगवत्प्राप्तिरूप लक्ष्यके समीप पहुँच गये हैं और शीघ्र उन्हें भगवत्प्राप्तिकी सम्भावना है।

इसपर यह शंका होती है कि जब परमात्माकी कृपा सभीपर है, तब सभीको परमात्माकी प्राप्ति हो जानी चाहिये परन्तु ऐसा क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि यदि परमात्माकी प्राप्तिकी तीव्र चाह हो और भगवत्कृपामें विश्वास हो तो सभीको प्राप्ति हो सकती है। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति चाहते ही कितने मनुष्य हैं, तथा परमात्माकी कृपापर विश्वास ही कितनोंको है ? जो चाहते हैं और जिनका विश्वास है उन्हें प्राप्ति होती ही है। यदि यह कहा जाय कि परमात्माकी प्राप्ति तो सभी चाहते हैं, तो यह ठीक नहीं है; ऐसी चाह वास्तविक चाह नहीं है। हम देखते हैं जिसको धनकी चाह होती है, वह धनके लिये सब कुछ करने तथा इतर सबका त्याग करनेको तैयार हो जाता है, इसी प्रकारकी भगवत्प्राप्तिकी तीव्र चाह कितनोंको है ? धन तो चाहनेपर भी प्रारब्धमें होता है तभी मिलता है, प्रारब्धमें नहीं होता तो नहीं मिलता। परन्तु भगवान् तो चाहनेपर अवश्य मिल जाते हैं, क्योंकि भगवान् धनकी भाँति जड नहीं हैं। जड धन हमारी चाहके बदलेमें वैसी चाह नहीं कर सकता, परन्तु भगवान् तो, जो उनको चाहता है, उसको स्वयं चाहते हैं, और यह निश्चित सत्य है कि भगवान्की चाह कभी निष्फल नहीं होती, वह अमोघ होती है। अतएव भगवान्की चाहसे विना ही प्रयत्न किये भक्तकी चाह अपने-आप पूर्ण हो जाती है। पर इतना स्मरण रखना चाहिये कि भक्तके चाहनेपर ही भगवान् उसे चाहते हैं। यदि यह कहें कि भक्तके विना चाहे भगवान् क्यों नहीं चाहते ? तो इसका उत्तर यह है कि भगवान्में वस्तुतः 'चाह' है ही नहीं, भक्तकी चाहसे ही उनमें चाह पैदा

होती है । इसपर यह शंका है कि जब भक्तकी चाहसे ही भगवान्में चाह होकर भगवान् मिलते हैं तब केवल भगवत्कृपाकी प्रधानता कहाँ रही ? चाह भी तो एक प्रयत्न ही है ? इसका उत्तर यह है कि— भगवान्को प्राप्त करनेकी इच्छामात्रको प्रयत्न नहीं कहा जा सकता। और यदि इसीको प्रयत्न मानें तो इतना प्रयत्न तो अवश्य ही करना पड़ता है। परन्तु ध्यान देकर देखनेसे माॡम होगा कि इच्छा करनेमात्रसे प्राप्त होनेवाले एक श्रीभगवान् ही हैं। दुनियामें लोग नाना प्रकारके पदार्थोंकी इच्छा करते हैं परन्तु इच्छा करनेसे ही उन्हें कुछ नहीं मिलता। इच्छा हो, प्रारब्धका संयोग हो और फिर प्रयत्न हो तब भौतिक पदार्थ मिलता है पर भगवान्के लिये तो इच्छामात्रसे ही काम हो जाता है। इच्छा करनेपर जो प्रयत्न होता है वह प्रयत्न तो भगवान् स्वयं करा लेते हैं। साधक तो केवल निमित्तमात्र बनता है। अर्जुनसे भगवान्ने कहा—'ये सब मेरेद्वारा मारे हुए हैं तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा।' (गीता ११ । ३३) इसी प्रकार अपनी प्राप्तिरूप कार्यकी सिद्धिमें भी सब कुछ भगवान् ही कर लेते हैं। इच्छा करनेवाले भक्तको केवल निमित्तमात्र बनाते हैं। जो लोग भगवत्प्राप्तिको केवल अपने पुरुषार्थसे सिद्ध होनेवाली मानते हैं, उनको भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन नहीं देते। हाँ, उन्हें बड़ी कठिनाईसे ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है परन्तु उसमें भी गुरुकी शरण तो ग्रहण करनी ही पड़ती है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४ । ३४)

'उस ज्ञानको तू समझ; श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास जाकर उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

श्रुति कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

(कठ० १।३।१४)

'उठो, जागो और महान् पुरुषोंके समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार छुरेकी धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी लोग उस पथको भी वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं।'

भगवत्प्राप्तिमें केवल अपना पुरुषार्थ माननेका कारण—अहंकाररूपी दोष है। भक्तके इस अहंकार-दोषको नष्ट करनेके लिये भगवान् उसे भीषण संकटमें डालकर यह बात प्रत्यक्ष दिखला देते हैं कि कार्यसिद्धिमें अपनी सामर्थ्य मानना मनुष्यकी एक बड़ी गलती है। इस प्रकार अहंकारनाशके लिये जो विपत्तिमें डालना है, यह भी भगवान्की विशेष कृपा है। केनोपनिषद्में एक कथा है—इन्द्र, अग्नि, वायु देवोंने विजयमें अपने पुरुषार्थको कारण समझा, इसलिये उन्हें गर्व हो गया। तब भगवान्ने उनपर कृपा करके यक्षके रूपमें अपना परिचय दिया और उनके गर्वका नाश किया।

जब अग्नि-वायु देवता परास्त हो गये और यह समझ गये कि हमारे अंदर वस्तुतः कुछ भी सामर्थ्य नहीं है, तब भगवान्‌ने विशेष दया करके उमाके द्वारा इन्द्रको अपना यथार्थ परिचय दिया। सफलतामें अपना पुरुषार्थ मानकर मनुष्य गर्व करता है परन्तु अनिवार्य विपत्तिमें जब वह अपने पुरुषार्थसे निराश हो जाता है तब निरुपाय होकर भगवान्‌के शरण जाता है और आर्त होकर पुकार उठता है—'नाथ! मुझे इस घोर संकटसे बचाइये। मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। मैं जो अपने बलसे अपना उद्धार मानता था, वह मेरी भारी भूल थी। राग-द्वेष और काम-क्रोधादि शत्रुओंके दबानेसे अब मुझे इस बातका पूरा पता लग गया कि आपकी कृपाके बिना मेरे लिये इनसे छुटकारा पाना कठिन ही नहीं, वरं असम्भव-सा है।' जब अहंकारको छोड़कर इस तरह सरल भावसे और सच्चे हृदयसे मनुष्य भगवान्‌के शरण हो जाता है तब भगवान् उसे अपना लेते हैं और आश्वासन देते हैं, क्योंकि भगवान्‌की यह घोषणा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा० ६। १८। ३३)

'जो एक बार भी मेरे शरण होकर कहता है, मैं तुम्हारा हूँ, (तुम मुझे अपना लो) मैं उसे सब भूतोंसे अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।' इसपर भी मनुष्य उनके शरण होकर अपना कल्याण नहीं करता, यह बड़े आश्चर्यकी बात है!

दयासागर भगवान्‌की जीवोंपर इतनी अपार दया है कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं। वस्तुतः उन्हें दयासागर कहना भी उनकी

स्तुतिके व्याजसे निन्दा ही करना है। क्योंकि सागर तो सीमावाला है, परन्तु भगवान्‌की दयाकी तो कोई सीमा ही नहीं है। अच्छे-अच्छे पुरुष भी भगवान्‌की दयाकी जितनी कल्पना करते हैं, वह उससे भी बहुत ही बढ़कर है। उसकी कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। कोई ऐसा उदाहरण नहीं जिसके द्वारा भगवान्‌की दयाका स्वरूप समझाया जा सके। माताका उदाहरण दें तो वह भी उपयुक्त नहीं है। कारण, दुनियामें असंख्य जीव हैं और उन सबकी उत्पत्ति माताओंसे ही होती है, उन सारी माताओंके हृदयोंमें अपने पुत्रोंपर जो दया या स्नेह है, वह सब मिलकर भी उन दयासागरकी दयाके एक बूँदके बराबर भी नहीं है। ऐसी हालतमें और किससे तुलना की जाय? तो भी माताका उदाहरण इसीलिये दिया जाता है कि लोकमें जितने उदाहरण हैं, उन सबमें इसकी विशेषता है। माता अपने बच्चेके लिये जो कुछ भी करती है, उसकी प्रत्येक क्रियामें दया भरी रहती है। इस बातका बच्चेको भी कुछ-कुछ अनुभव रहता है। जब बच्चा शरारत करता है तो उसके दोष-निवारणार्थ माँ उसे धमकाती-मारती है और उसको अकेला छोड़कर कुछ दूर हट जाती है। ऐसी अवस्थामें भी बच्चा माताके ही पास जाना चाहता है। दूसरे लोग उससे पूछते हैं—'तुम्हें किसने मारा ?' वह रोता हुआ कहता है 'माँने !' इसपर वे कहते हैं 'तो आइन्दा उसके पास नहीं जाना।' परन्तु वह उनकी बातपर ध्यान न देकर रोता है और माताके पास ही जाना चाहता है। उसे भय दिखलाया जाता है कि 'माँ तुझे फिर मारेगी।' पर इस बातका उसपर कोई असर नहीं होता, वह किसी भी बातकी परवा न करके अपने

सरल भावसे माताके ही पास जाना चाहता है। रोता है, परन्तु चाहता है माताको ही। जब माता उसे हृदयसे लगाकर उसके आँसू पोंछती है, आश्वासन देती है, तभी वह शान्त होता है। इस प्रकार माताकी दयापर विश्वास करनेवाले बच्चेकी भाँति जो भगवान्‌के दया-तत्त्वको जान लेता है और भगवान्‌की मारपर भी भगवान्‌को ही पुकारता है, भगवान् उसे अपने हृदयसे लगा लेते हैं। फिर जो भगवान्‌की कृपाको विशेषरूपसे जान लेता है, उसकी तो बात ही क्या है?

लड़का नीचेके तल्लेसे ऊपरके तल्लेपर जब चढ़ना चाहता है तो माता उसे सीढ़ियोंके पास ले जाकर चढ़नेके लिये उत्साहित करती है। कहती है—'बेटा! चढ़ो, गिरोगे नहीं, मैं साथ हूँ न? लो, मैं हाथ पकड़ती हूँ।' यों साहस और आश्वासन देकर उसे एक-एक सीढ़ी चढ़ाती है, पूरा खयाल रखती है, कहीं गिर न जाय; जरा-सा भी डिगता है तो तुरंत हाथका सहारा देकर थाम लेती और चढ़ा देती है; बच्चा जब चढ़नेमें कठिनाईका अनुभव करता है तब माँकी ओर ताककर मानो इशारेसे माँकी मदद चाहता है। माँ उसी क्षण उसे अवलम्बन देकर चढ़ा देती है और पुनः उत्साह दिलाती है। बच्चा कहीं फिसल जाता है तो माँ तुरंत उसे गोदमें उठा लेती है, गिरने नहीं देती। इसी प्रकार जो पुरुष बच्चेकी भाँति भगवान्‌पर भरोसा (निर्भर) करता है, भगवान् उसकी उन्नति और रक्षाकी व्यवस्था स्वयं करते हैं, उसे तो केवल निमित्त बनाते हैं। सांसारिक माता तो कदाचित् असावधानी और सामर्थ्यके अभावसे या भ्रमसे गिरते हुए

बच्चेको न भी बचा सके परन्तु वे सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, परम-दयालु, सर्वज्ञ प्रभु तो अपने आश्रितको कभी गिरने देते ही नहीं। वरं उत्तरोत्तर उसे सहायता देते हुए, एक-एक सीढ़ी चढ़ाते हुए सबसे ऊपरके तल्लेपर, जहाँ पहुँचना ही जीवका अन्तिम ध्येय है, पहुँचा ही देते हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रयत्न भगवान् ही करते हैं, भक्तको तो केवल इच्छा करनी पड़ती है और उसीसे भगवान् उसे निमित्त बना देते हैं। बच्चा कभी अभिमानवश यह सोचता है कि मैं अपने ही पुरुषार्थसे चढ़ता हूँ, तब माता कुछ दूर हटकर कहती है, 'अच्छा चढ़।' परन्तु सहारा न पानेसे वह चढ़ नहीं सकता। गिरने लगता है और रोता है, तब माता दौड़कर उसे बचाती है। इसी प्रकार अपने प्रयत्नका अभिमान करनेवाला भी गिर सकता है। परन्तु यह ध्यान रहे, भगवान्की कृपाका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि मनुष्य सब कुछ छोड़कर हाथ-पर-हाथ धरकर बैठ जाय, कुछ भी न करे। ऐसा मानना तो प्रभुकी कृपाका दुरुपयोग करना है। जब माता बच्चेको ऊपर चढ़ाती है, तब सारा कार्य माता ही करती है, परन्तु बच्चेको माताके आज्ञानुसार चेष्टा तो करनी ही पड़ती है। जो बच्चा माँके इच्छानुसार चेष्टा नहीं करता या उससे विपरीत करता है, उसको माता उसके हितार्थ डराती-धमकाती है तथा कभी-कभी मारती भी है।

इस मारमें भी माँके हृदयका प्यार भरा रहता है, यह भी उसकी परम दयालुता है। इसी प्रकार भगवान् भी दयापरवश होकर समय-समयपर हमको चेतावनी देते हैं। मतलब यह कि जैसे बच्चा अपनेको और अपनी सारी क्रियाओंको माताके प्रति सौंपकर मातृ-

परायण होता है, इसी प्रकार हमें भी अपने-आपको और अपनी सारी क्रियाओंको परमात्माके हाथोंमें सौंपकर उनके चरणोंमें पड़ जाना चाहिये। इस प्रकार बच्चेकी तरह परम श्रद्धा और विश्वासके साथ जो अपने-आपको परमात्माकी गोदमें सौंप देता है वही पुरुष परमात्माकी कृपाका इच्छुक और पात्र समझा जाता है और इसके फलस्वरूप वह परमात्माकी दयासे परमात्माको प्राप्त हो जाता है। सारांश यह कि परमात्माकी प्राप्ति परमात्माकी दयासे ही होती है; दया ही एकमात्र कारण है। परन्तु यह दया मनुष्यको अकर्मण्य नहीं बना देती। परमात्माकी दयासे ही ऐसा परमपुरुषार्थ बनता है। जीवका अपना कोई पुरुषार्थ नहीं, वह तो निमित्तमात्र होता है।

संतकी विशेषता

उपर्युक्त दयासागर भगवान्‌की दयाके तत्त्व और रहस्यको यथार्थ जाननेवाला पुरुष भी दयाका समुद्र और सब भूतोंका सुहृद् बन जाता है। भगवान्‌ने कहा है—'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।' इस कथनका रहस्य यही है कि दयामय भगवान्‌को सब भूतोंका सुहृद् समझनेवाला पुरुष उस दयासागरके शरण होकर निर्भय हो जाता है तथा परम शान्ति और परमानन्दको प्राप्त होकर स्वयं दयामय बन जाता है। इसलिये भगवान् ठीक ही कहते हैं कि मुझको सबका सुहृद् समझनेवाला शान्तिको प्राप्त हो जाता है। ऐसे भगवत्प्राप्त पुरुष ही वास्तवमें संत-पदके योग्य हैं। ऐसे संतोंको कोई-कोई तो विनोदमें भगवान्‌से भी बढ़कर बता दिया करते हैं। तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा । राम ते अधिक राम कर दासा ॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा । चंदन तरु हरि संत समीरा ॥

'भगवान् समुद्र हैं तो संत मेघ हैं, भगवान् चन्दन हैं तो संत समीर (पवन) हैं । इस हेतुसे मेरे मनमें ऐसा विश्वास होता है कि रामके दास रामसे बढ़कर हैं ।' दोनों दृष्टान्तोंपर ध्यान दीजिये । समुद्र जलसे परिपूर्ण है, परन्तु वह जल किसी काममें नहीं आता । न कोई उसे पीता है और न उससे खेती ही होती है । परन्तु बादल जब उसी समुद्रसे जलको उठाकर यथायोग्य बरसाते हैं तो केवल मोर, पपीहा और किसान ही नहीं—सारे जगत्में आनन्दकी लहर बह जाती है । इसी प्रकार परमात्मा सच्चिदानन्दघन सब जगह विद्यमान हैं, परन्तु जबतक परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले भक्तजन उनके प्रभावका सब जगह विस्तार नहीं करते, तबतक जगत्के लोग परमात्माको नहीं जान सकते । जब महात्मा संत पुरुष सर्व-सद्गुणसागर परमात्मासे समता, शान्ति, प्रेम, ज्ञान और आनन्द आदि गुण लेकर बादलोंकी भाँति संसारमें उन्हें बरसाते हैं, तब जिज्ञासु साधकरूप मोर, पपीहा, किसान ही नहीं, किन्तु सारे जगत्के लोग उससे लाभ उठाते हैं । भाव यह है कि भक्त न होते तो भगवान्की गुणगरिमा और महत्त्व-प्रभुत्वका विस्तार जगत्में कौन करता ? इसलिये भक्त भगवान्से ऊँचे हैं । दूसरी बात यह है कि जैसे सुगन्ध चन्दनमें ही है, परन्तु यदि वायु उस सुगन्धको वहन करके अन्य वृक्षोंतक नहीं ले जाता तो चन्दनकी गन्ध चन्दनमें ही रहती, नीम आदि वृक्ष कदापि चन्दन नहीं बनते । इसी प्रकार

भक्तगण यदि भगवान्‌की महिमाका विस्तार नहीं करते तो दुर्गुणी, दुराचारी मनुष्य भगवान्‌के गुण और प्रेमको पाकर सद्गुणी, सदाचारी नहीं बनते। इसलिये भी संतोंका दर्जा भगवान्‌से बढ़कर है। वे संत जगत्‌के सारे जीवोंमें समता, शान्ति, प्रेम, ज्ञान और आनन्दका विस्तारकर सबको भगवान्‌के सदृश बना देना चाहते हैं।

संतोंकी दया

उन महात्माओंमें कठोरता, वैर और द्वेषका तो नाम ही नहीं रहता। वे इतने दयालु होते हैं कि दूसरेके दुःखको देखकर उनका हृदय पिघल जाता है। वे दूसरेके हितको ही अपना हित समझते हैं। उन पुरुषोंमें विशुद्ध दया होती है। जो दया कायरता, ममता, लज्जा, स्वार्थ और भय आदिके कारण की जाती है, वह शुद्ध नहीं है। जैसे भगवान्‌की अहैतुकी दया समस्त जीवोंपर है—इसी प्रकार महापुरुषोंकी अहैतुकी दया सबपर होती है। उनकी कोई कितनी ही बुराई क्यों न करे, बदला लेनेकी इच्छा तो उनके हृदयमें होती ही नहीं। कहीं बदला लेनेकी-सी क्रिया देखी जाती है, तो वह भी उसके दुर्गुणोंको हटाकर उसे विशुद्ध करनेके लिये ही होती है। इस क्रियामें भी उनकी दया छिपी रहती है। जैसे माता-पिता गुरुजन बच्चेके सुधारके लिये स्नेहपूर्ण हृदयसे उसे दण्ड देते हैं—इसी प्रकार संतोंमें भी कभी-कभी ऐसी क्रिया होती है, परन्तु इसमें भी परम हित भरा रहता है। वे संत करुणाके भण्डार होते हैं। जो कोई उनके समीप जाता है, वह मानो दयाके सागरमें गोते लगाता है। उन पुरुषोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श और चिन्तनमें भी मनुष्य

उनके दयाभावको देखकर मुग्ध हो जाता है । वे जिस मार्गसे निकलते हैं, मेघकी ज्यों दयाकी वर्षा करते हुए ही निकलते हैं। मेघ सब समय और सब जगह नहीं बरसता, परन्तु संत तो सदा-सर्वदा सर्वत्र बरसते ही रहते हैं। उनके दर्शन, भाषण, चिन्तन और स्पर्श-से सारे जीव पवित्र हो जाते हैं, उनके चरण जहाँ टिकते हैं, वह भूमि पावन हो जाती है। उनके चरणोंसे स्पर्श की हुई रज स्वयं पवित्र होकर दूसरोंको पवित्र करनेवाली बन जाती है। उनके द्वारा देखे, चिन्तन किये हुए और स्पर्श किये हुए पदार्थ भी पवित्र हो जाते हैं। फिर उनके कुल-की विशेषतः उन्हें जन्म देनेवाले माता-पिताकी तो बात ही क्या है। ऐसे महापुरुष जिस देशमें जन्मते हैं और शान्त होते हैं, वे देश तीर्थ माने जाते हैं। आजतक जितने तीर्थ बने हैं, वे सब परमेश्वर और परमेश्वरके भक्तोंके निमित्तसे ही बने हैं । इतना ही नहीं, सब लोकोंको पवित्र करनेवाले तीर्थ भी उनके चरणस्पर्शसे पवित्र हो जाते हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर महात्मा विदुरसे कहते हैं—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥

(श्रीमद्भा० १।१३।९)

'हे स्वामिन्! आप-सरीखे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थरूप हैं। (पापियोंके द्वारा कलुषित हुए) तीर्थोंको आपलोग अपने हृदयमें स्थित भगवान् श्रीगदाधरके प्रभावसे पुनः तीर्थत्व प्रदान करा देते हैं।'

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।

अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिं-
लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥

'जिसका चित्त अपार संवित्सुखसागर परब्रह्ममें लीन है, उसके जन्मसे कुल पवित्र होता है, उसकी जननी कृतार्थ होती है और पृथ्वी पुण्यवती होती है ।'

यह सब उनके द्वारा स्वाभाविक ही होता है, उन्हें करना नहीं पड़ता । भगवान् तो भजनेवालोंको भजते हैं, परन्तु वे दयालु संत नहीं भजनेवालेका, यहाँतक कि गाली देने और अहित करनेवालेका भी हित ही करनेमें तुले रहते हैं । कुल्हाड़ा चन्दनको काटता है, पर चन्दन उसे स्वाभाविक ही अपनी सुगन्ध दे देता है।

काटइ परसु मलय सुनु भाई । निज गुन देइ सुगंध बसाई ॥

प्रह्लाद, अम्बरीष आदिके इतिहास इसमें प्रमाण हैं । अतएव विनोदमें भक्तको भगवान्से बढ़कर बतलाना भी युक्तियुक्त ही है। संतजन सुरसरि और सुरतरुसे भी विशेष उपकारी हैं । गंगा और कल्पवृक्ष उनके शरण होनेपर क्रमशः पवित्र करते और मनोरथ पूर्ण करते हैं । परन्तु संत तो इच्छा करनेवाले और न करनेवाले सभीके घर स्वयं जाकर उनके इस लोक और परलोकके कल्याणकी चेष्टा करते हैं । इसपर यदि यह कहा जाय कि संत जब सबका हित चाहते हैं तो सबका हित हो क्यों नहीं जाता ? तो इसका उत्तर यह है कि सामान्यभावसे तो संतसे जिन लोगोंकी भेंट हो जाती है, उन सभीका हित होता है । परन्तु विशेष लाभ तो श्रद्धा और प्रेम होनेपर ही होता है । यदि यह कहा जाय कि जबरदस्ती सबका

हित संत क्यों नहीं कर देते ? तो इसका उत्तर यह है कि जबरदस्ती कोई किसीका परम हित नहीं कर सकता। पतंग दीपकमें जलकर मरते हैं। दयालु पुरुष उनपर दया करके उन्हें बचानेके लिये उस दीपक या लालटेनको बुझाकर उनका परम हित करना चाहते हैं, परन्तु वे पतंग जहाँ दूसरे दीपक जलते रहते हैं, वहाँ जाकर जल मरते हैं। इसी प्रकार जिन लोगोंको कल्याणकी स्वयं इच्छा नहीं होती उनका कल्याण करना बहुत ही कठिन है।

यदि यह कहा जाय कि श्रद्धा-प्रेम करनेवालोंका तो विशेष कल्याण करते हैं और दूसरोंका सामान्यभावसे करते हैं, तो इसमें विषमताका दोष आता है। इसका उत्तर यह है कि ऐसी बात नहीं है। श्रद्धा और प्रेमकी कमीके कारण यदि लोग संतोंकी सबपर छायी हुई समान अपरिमित दयासे लाभ नहीं उठा सकते तो इसमें उनका दोष नहीं है। सूर्य बिना किसी पक्षपात या संकोचके सभीको समानभावसे प्रकाश देता है, परन्तु दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ता है और सूर्यकान्त शीशा सूर्यके प्रकाशको पाकर दूसरी वस्तुको जला दे सकता है। इसमें सूर्यका दोष या पक्षपात नहीं है। इसी प्रकार जिनमें श्रद्धा, प्रेम नहीं है वे काष्ठकी भाँति कम लाभ उठाते हैं और श्रद्धा, प्रेमवाले सूर्यकान्त शीशेकी भाँति अधिक लाभ उठाते हैं। सूर्य सबको स्वाभाविक ही प्रकाश देता है, परन्तु उल्लूके लिये वह अन्धकाररूप होता है। चन्द्रमाकी सर्वत्र बिखरी हुई चाँदनीको चोर बुरा समझता है, इसमें चन्द्रमाका कोई दोष नहीं है, वे तो सबका उपकार ही करते हैं। इसी प्रकार महापुरुष तो सभीका उपकार ही करते हैं किन्तु अत्यन्त दुष्ट और नीच

प्रकृतिवाले मनुष्य उल्लूकी भाँति अपनी बुद्धिहीनताके कारण उनसे द्वेष करते हैं और चोरकी भाँति उनकी निन्दा करते हैं—इसमें संतोंका क्या दोष ?

यदि कहा जाय कि ऐसे दयालु पुरुषोंसे जब प्रत्यक्ष ही सबको परम लाभ है, तब सभी लोग उनका संग और सेवन करके लाभ क्यों नहीं उठाते ? इसका यह उत्तर है कि वे लोग संतोंके गुण, प्रभाव और तत्त्वको नहीं जानते। तत्त्व जाने बिना कोई विशेष लाभ नहीं उठा सकता। एक कुत्ता था। उसने गुड़की हाँड़ीमें मुँह डाल दिया। इतनेमें खड़खड़ाहटकी आवाज हुई। कुत्तेने भागना चाहा। इसी गड़बड़में हाँड़ी फूट गयी। हाँड़ीकी गर्दनी कुत्तेके गलेमें रह गयी। कुत्तेको कष्ट पाते देखकर एक दयालु मनुष्य हाथमें लाठी लेकर इसलिये कुत्तेके पीछे दौड़ा कि लाठीसे हाँड़ीकी गर्दनी तोड़ दी जाय तो कुत्ता कष्टसे छूट जाय। कुत्तेने अपने पीछे लाठी लिये दौड़ते हुए मनुष्यके असली उद्देश्यको न समझकर यह समझा कि यह मुझे मारनेको दौड़ रहा है। वह और भी जोरसे भागा और उसका कष्ट दूर नहीं हो सका। इसी प्रकार महापुरुषोंके तत्त्वको न समझकर उनकी क्रियामें भी विपरीत भावना कर सब लोग लाभ नहीं उठा सकते।

संतोंमें समता

ऐसे महापुरुषोंकी दया ही नहीं, समता भी बड़ी अद्भुत होती है, उन्हें यदि समताकी मूर्ति कहें तब भी अत्युक्ति नहीं। भगवान् सम हैं और उन संतोंकी भगवान्में स्थिति है—इसलिये वे भी

स्वाभाविक ही समताको प्राप्त हैं। जैसे सुख-दुःखकी प्राप्ति होनेपर अज्ञानी पुरुषकी शरीरमें समता रहती है वैसे ही संतोंकी चराचर सब जीवोंमें समता रहती है।

प्र०—अज्ञानियोंका देहमें जैसा प्रेम है, क्या संतोंका सारे चराचरमें वैसा प्रेम हो जाता है? या संतोंका जैसे देहमें प्रेम नहीं है, वैसे क्या चराचर भूतोंसे उनका प्रेम हट जाता है? उनकी समताका क्या स्वरूप है?

उ०—उनकी समता वस्तुतः इतनी विलक्षण है कि उदाहरणके द्वारा वह समझायी नहीं जा सकती क्योंकि अज्ञानीको देहमें जैसा अहंकार रहता है, संतका संसारमें वैसा अहंकार नहीं रहता। इसलिये यह कहना नहीं बनता कि संतका अज्ञानियोंकी देहकी भाँति सबमें प्रेम हो जाता है, और सबमें प्रेमका अभाव इसलिये नहीं बतलाया जा सकता कि अज्ञानी लोग अपने देहके स्वार्थके लिये जहाँ दूसरेका अहित कर डालते हैं, वहाँ ये संत पुरुष दूसरों-के हितके लिये हँसते-हँसते अपने शरीरकी बलि चढ़ा देते हैं। परन्तु उनकी वह समता इतनी अद्‌भुत है कि दूसरेके हितके लिये शरीरका बलिदान करनेपर भी उसमें कोई विषमता नहीं आ सकती। इसलिये किसी उदाहरणके द्वारा इस समताका स्वरूप समझाना बहुत कठिन है। तथापि लोक और वेदमें समझानेके लिये ऐसा ही कहा जाता है कि जैसे अज्ञानीको सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सारे शरीरमें समता होती है, वैसे ही संतोंको सब जीवोंके सुख-दुःखकी प्राप्तिमें ममता और अहंकार न होते हुए भी समता होती है।

अर्थात् जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने सुख-दुःखसे सुखी-दुखी होता है, संतजन ममता और अहंकारसे रहित होनेपर भी और अपने सुख-दुःखसे सुखी-दुखी-से प्रतीत न होनेपर भी दूसरे समस्त जीवोंके सुख-दुःखमें सुखी-दुखी-से प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थिति मनुष्यको प्रतिपक्षभावनासे प्राप्त होती है। (अज्ञानी मनुष्य जैसे अपने देहमें अहंभावना और दूसरोंमें परभावना करते हैं—इससे विपरीत दूसरोंमें आत्मभावना और अपने शरीरमें परकी-सी भावना करनेका नाम प्रतिपक्ष (उलटी) भावना है।) बहुत-से लोग संतोंकी समदृष्टिके रहस्यको न जानकर समदृष्टिसम्बन्धी शास्त्र-वाक्योंका दुरुपयोग करते हैं। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(५। १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं।'

इसका उलटा अर्थ करते हुए वे लोग कहते हैं कि 'खानपान आदिमें समव्यवहार करना ही समदर्शन है।' परन्तु ऐसा सम-व्यवहार न तो सम्भव है, न आवश्यक है और न भगवान्‌के कथनका यह उद्देश्य ही है। क्योंकि हाथी सवारीके योग्य है, कुत्ता सवारीके योग्य नहीं। गौका दूध सेवनयोग्य है, कुतिया और हथिनीका नहीं। इन सबके खाद्य, व्यवहार, स्वरूप, आकृति, जाति और गुण एक दूसरेसे अत्यन्त विलक्षण और भिन्न होनेके कारण

इन सबमें समान व्यवहार नहीं हो सकता है, न करना ही चाहिये और न करनेके लिये कोई कह ही सकता है। जैसे अपने लिये सुख और सुखके साधनकी प्राप्ति, और दुःख और दुःखके साधनकी निवृत्तिके लिये प्रयत्न किया जाता है, वैसे ही सबमें एक ही आत्मा समरूपसे स्थित है, इस बातका अनुभव करते हुए, सबके लिये उनका जिस प्रकारसे हित हो उसी प्रकारसे यथायोग्य व्यवहार करना ही वास्तविक समता है।

जैसे हम अपने देहमें हाथोंसे ग्रहण करनेका, आँखोंसे देखनेका, कानोंसे सुननेका--इस प्रकार विभिन्न इन्द्रियोंके द्वारा यथायोग्य विभिन्न व्यवहार करते हैं, परन्तु आत्मीयताकी दृष्टिसे सबमें समता है। वैसे ही सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करते हुए आत्मीयताकी दृष्टिसे सबमें समता रहनी चाहिये। शास्त्रीय विषमता व्यवहारमें दूषित नहीं है, बल्कि परमार्थमें सहायक है। जिस विषमतासे किसीका अहित हो, वही वास्तविक विषमता है। स्त्रियोंके अवयव एक-से होनेपर भी माता, बहिन और पत्नीके साथ सम्बन्धके अनुसार ही यथायोग्य विभिन्न व्यवहार होते हैं और यह विषमता शास्त्रीय और न्यायसंगत होनेसे सेवनीय है। इतना ही नहीं, परम पूजनीया मातामें पूज्यभाव होनेपर भी रजस्वला या प्रसवकी स्थितिमें हम उसका स्पर्श नहीं करते, करनेपर स्नान करनेकी विधि है। ऐसी विषमता वस्तुतः विषमता नहीं है। इसके माननेमें लाभ है और न माननेमें हानि। घरमें कुत्तेको रोटी देते हैं, गायको घास देते हैं, बीमारको दवा दी जाती है परन्तु सभीको घास, दवा या

रोटी समान नहीं दी जाती। यह विषमता विषमता नहीं है। जैसे कोई भी अपने आत्माका जान-बूझकर अहित नहीं करता, उसे दुःख नहीं देता और अपना कल्याण चाहता है एवं सुख तथा कल्याणके लिये चेष्टा करता है—इसी प्रकार किसीको दुःख न पहुँचाकर, अहित न चाहकर सबका कल्याण चाहना और सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना ही समता है। फिर व्यवहारमें यथायोग्य कितनी ही विषमता क्यों न हो, विषमता नहीं है।

मान लीजिये, हमसे कोई मित्रता करता है और दूसरा कोई वैर करता है। उन दोनोंके न्यायका भार प्राप्त हो जाय तो हमें पक्षपातरहित होकर न्याय करना चाहिये, बल्कि कहीं अपने मित्रको समझाकर उसकी सम्मतिसे शत्रुता रखनेवालेका कुछ पक्ष भी कर लें तो वह भी समता ही है।

अनुकूल हितकर पदार्थके प्राप्त होनेपर सबके लिये समभावसे विभाग करना चाहिये, परन्तु कहीं दूसरोंको अधिक और श्रेष्ठ वस्तु दे दें, स्वयं कम लें—निकृष्ट लें या बिल्कुल ही न लें तो यह विषमता विषमता नहीं है! क्योंकि इसमें किसीका अहित नहीं है, बल्कि अपने स्वार्थका त्याग है! इसी प्रकार विपत्ति और दुःखकी प्राप्तिमें सबके लिये न्याययुक्त समविभाग करते समय भी यदि कहीं दूसरोंको बचाकर विपत्ति या दुःख अपने हिस्सेमें ले लिया जाय तो यह विषमता भी विषमता नहीं है, बल्कि स्वार्थका त्याग होनेके कारण इसमें उलटा गौरव है। प्रभुमें स्थित होनेके कारण संतमें प्रभुकी समताका समावेश हो जाता है। अतएव इस अनोखी समता-

का पूरा रहस्य तो प्रभुको प्राप्त करनेपर ही मनुष्य समझ सकता है।

मान-अपमान और निन्दा-स्तुतिमें भी संतमें समता रहती है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि व्यवहारमें सब जगह समताका ही प्रदर्शन हो। हृदयमें मान-अपमानकी प्राप्तिमें हर्ष, शोक आदि विकार नहीं होते।

प्र०—साधारण मनुष्योंको निन्दा और अपमानकी प्राप्तिमें जैसा दुःख होता है, क्या संतोंको वैसा ही स्तुति या मानमें होता है? अथवा स्तुति या मानमें लोगोंको जैसी प्रसन्नता होती है, संतोंको निन्दा या अपमानमें क्या वैसी ही प्रसन्नता होती है? इन दोनोंमेंसे संतकी समतामें हार्दिक भाव कैसा होता है?

उ०—दोनोंसे ही विलक्षण होता है, अर्थात् मान-अपमान और निन्दा-स्तुतिमें यथायोग्य न्याययुक्त व्यवहार-भेद होनेपर भी उन्हें हर्ष-शोक नहीं होते।

प्र०—तो क्या अपमान और निन्दाका प्रतिकार भी संत करते हैं?

उ०—यदि अपमान या निन्दा करनेवालेका या अन्य किसीका हित हो तो प्रतिकार भी कर सकते हैं।

प्र०—क्या वे मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी प्राप्तिको व्यवहारमें स्वीकार कर लेते हैं या उनका विरोध ही करते हैं?

उ०—देश, काल और परिस्थितिको देखकर शास्त्रानुकूल दोनों ही बातें कर सकते हैं। विरोध करनेमें किसीका हित होता है तो

विरोध करते हैं और स्वीकार करनेमें किसीका हित होता है तो न्यायसे प्राप्त होनेपर स्वीकार भी कर लेते हैं।

प्र०—तब फिर व्यवहारमें महापुरुषकी पहचान कैसे हो?

उ०—व्यवहारकी क्रियासे महापुरुषको पहचानना बहुत कठिन है। इतना ही जान सकते हैं कि ये अच्छे पुरुष हैं। फिर चाहे वे सिद्ध हों या साधक! दोनोंको ही संत माननेमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि साधक भी तो सिद्ध संत बननेवाला है। वस्तुतः जिसका व्यवहार सत् है वही संत है।

लाभ-हानि और जय-पराजयमें भी संतकी विलक्षण समता होती है।

प्र०—साधारण मनुष्योंको जैसे लाभ और जयमें प्रीति-प्रसन्नता होती है, तो क्या संतको इसके विपरीत हानि और पराजयमें प्रसन्नता होती है? अथवा साधारण मनुष्योंको जैसे हानि-पराजयमें द्वेष, घृणा, भय, शोक आदि होते हैं, तो क्या संतको लाभ और जयमें द्वेष, घृणा, भय, शोक आदि होते हैं?

उ०—नहीं, उसकी समता इन सबसे विलक्षण है। क्योंकि वे हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि समस्त विकारोंसे सर्वथा रहित होते हैं।

प्र०—ऐसी अवस्थामें क्या हानि-पराजय होनेपर साधारण मनुष्योंकी भाँति संतका व्यवहार ईर्ष्या और भयका-सा भी हो सकता है?

उ०—यदि संसारका हित हो, या न्याययुक्त मर्यादाकी रक्षा

हो तो हो भी सकता है। परन्तु उनके मनमें किसी प्रकारका भी विकार नहीं होता।

प्र०—जो कुछ भी बाहरी क्रिया होती है वह पहले मनमें आती है। बिना मनमें आये बाहरी क्रिया कैसे सम्भव है?

उ०—नाटकके पात्रोंमें जैसे सभी प्रकारके बाहरी व्यवहार होते हैं, परन्तु उनके मनमें अभिनय-बुद्धिके अतिरिक्त कोई वास्तविकता नहीं होती, इसी प्रकार संतोंके द्वारा नाटकवत् बाहरी व्यवहार होनेपर भी उनके मनमें वस्तुतः कोई विकार नहीं होता।

इसी प्रकार शीतोष्ण, सुख-दुःख आदि प्रिय-अप्रिय सभी पदार्थोंके सम्बन्धमें उनका समभाव रहता है। सबमें एक अखण्ड नित्य भगवत्स्वरूप समता सदा-सर्वदा सर्वत्र बनी रहती है।

संतोंमें विशुद्ध विश्वप्रेम

संतमें केवल समता ही नहीं, समस्त विश्वमें हेतु और अहंकाररहित अलौकिक विशुद्ध प्रेम भी होता है। जैसे भगवान् वासुदेवका सबमें अहैतुक प्रेम है, वैसे ही भगवान् वासुदेवकी प्राप्ति होनेपर संतका भी समस्त चराचर जगत्में अहैतुक प्रेम हो जाता है। क्योंकि साधन-अवस्थामें वह सबको वासुदेवस्वरूप ही समझकर अभ्यास करता है। अतएव सिद्धावस्थामें तो उसके लिये यह बात स्वभावसिद्ध होनी ही चाहिये।

प्र०—ऐसा अहैतुक प्रेम भक्तिके साधनसे होता है या ज्ञानके साधनसे?

उ०—दोनोंमेंसे किसी एकके साधनसे हो सकता है। जो

भक्तिका साधन करता है, वह सब भूतोंको ईश्वर समझकर अपने देह और प्राणोंसे बढ़कर उनमें प्रेम करता है; और जो ज्ञानका साधन करता है, वह सम्पूर्ण भूतोंको अपना आत्मा समझकर उनसे देह, प्राण और आत्माके समान प्रेम करता है।

प्र०—जैसे एक अज्ञानी मनुष्यका अपने शरीर, घर, स्त्री, पुत्र, धन, जमीन आदिमें प्रेम होता है, क्या संत पुरुषका सारे विश्वमें वैसा ही प्रेम होता है?

उ०—नहीं, इससे अत्यन्त विलक्षण होता है। अज्ञानी मनुष्य तो शरीर, घर, स्त्री, पुत्र आदिके लिये नीति, धर्म, न्याय, ईश्वर और परोपकारतकका त्याग कर देता है तथा अपने देह, प्राणकी रक्षाके लिये स्त्री, पुत्र, धन आदिका भी त्याग कर देता है, परन्तु संत तो नीति, धर्म, न्याय, ईश्वर और विश्वके लिये केवल स्त्री, पुत्र, धनका ही नहीं, अपने शरीरका भी त्याग कर देते हैं। वे विश्वकी रक्षाके लिये पृथ्वीका, पृथ्वीकी रक्षाके लिये द्वीपका, द्वीपके लिये ग्रामका, ग्रामके लिये कुटुम्बका, कुटुम्ब और उपर्युक्त सबके हितके लिये अपने प्राणोंका आनन्दपूर्वक त्याग कर देते हैं! फिर धर्म, ईश्वर और समस्त विश्वके लिये त्याग करना तो उनके लिये कौन बड़ी बात है। जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने आत्माके लिये सबका त्याग कर देता है, वैसे ही संत पुरुष धर्म, ईश्वर और विश्वके लिये सब कुछ त्याग कर देते हैं, क्योंकि धर्म, ईश्वर और विश्व ही उनका आत्मा है। परन्तु अज्ञानीका जैसे देहमें अहंकार और स्त्री-पुत्रादि कुटुम्बमें ममत्व होता है, वैसा संतका अहंकार और ममत्व कहीं

नहीं होता। उनका सबमें हेतुरहित विशुद्ध और अत्यन्त अलौकिक अपरिमित प्रेम होता है।

प्र०—भक्तिमार्गपर चलनेवाले भक्तका सम्पूर्ण चराचरमें प्राणोंसे बढ़कर अत्यन्त विलक्षण प्रेम क्यों और कैसे हो जाता है?

उ०—इसलिये होता है कि वे सारे विश्वको अपने इष्टदेवका साक्षात् स्वरूप समझते हैं।

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूपस्वामि भगवंत॥

वे भक्त समस्त विश्वके लिये अपने तन, मन, धनको न्योछावर किये रहते हैं। अपनी चीजें स्वामीके काममें आती देखकर वे इस भावसे बड़े ही आनन्दित होते हैं कि स्वामीने कृपापूर्वक हमको और हमारी वस्तुओंको अपना लिया। भक्त अपना यह ध्येय समझता है कि हमारी सब चीजें भगवान्‌की ही हैं, इसलिये उन्हींकी सेवामें लगनी चाहिये। परन्तु जबतक भगवान् उनको काममें नहीं लाते, तबतक भगवान्‌ने उनको स्वीकार कर लिया, ऐसा भक्त नहीं समझता और जबतक भगवान्‌ने स्वीकार नहीं किया, तबतक वह अपने ध्येयकी सिद्धि नहीं मानता। परन्तु जब वे वस्तुएँ प्रसन्नतापूर्वक विश्वरूप भगवान्‌के काममें आ जाती हैं तब वह अपने ध्येयकी सिद्धि समझकर परम प्रसन्न होता है। विश्वरूप भगवान्‌की प्रसन्नतामें ही उसकी प्रसन्नता है। इसीलिये वह अपने प्राणोंसे बढ़कर समस्त चराचर विश्वमें प्रेम करता है। यदि कहा जाय कि फिर उसका प्रेम हेतुरहित और विशुद्ध कैसे माना जा सकता है,

जब कि वह अपने इष्टको सन्तुष्ट और प्रसन्न करनेके हेतुसे प्रेम करता है ? तो इसका उत्तर यह है कि यह हेतु वस्तुतः हेतु नहीं है यह पवित्र भाव है। यही मनुष्यका परम लक्ष्य होना चाहिये।

जो प्रेम अपने व्यक्तिगत स्वार्थको लेकर होता है, वही कलंकित और दूषित है। परन्तु जब दूसरेके हितके लिये किया जानेवाला प्रेम भी पवित्र माना जाता है, तब दूसरे सबको साक्षात् भगवान्का स्वरूप समझकर ही उनसे प्रेम करना तो परम पवित्र प्रेम है।

प्र०—ज्ञानके मार्गमें चलनेवालेका देह, प्राण और आत्माके समान प्रेम क्यों और कैसे हो जाता है ?

उ०—ज्ञानके मार्गमें चलनेवाला सबके आत्माको अपना आत्मा ही समझता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(गीता ६। २९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है।'

जब सबको वह आत्मा ही समझता है तब सारे विश्वमें आत्माके सदृश उसका प्रेम होना युक्तियुक्त ही है। इसीलिये जैसे देहको आत्मा माननेवाला अज्ञानी अपने ही हितमें रत रहता है, वैसे

ही संत पुरुष सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत रहते हैं और ऐसे सर्वभूत-हितमें रत ज्ञानमार्गी साधक ही निर्गुण परमात्माको प्राप्त होते हैं। भगवान्ने कहा है—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
(गीता १२। ३-४)

'जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भलीप्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समानभाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

परन्तु जैसे अज्ञानी मनुष्यका देहमें अहंकार, अभिमान, ममता और आसक्ति होती है, वैसे संतका विश्वमें अहंकार, अभिमान, ममता और आसक्ति नहीं होती। उनका विश्वप्रेम विशुद्ध ज्ञानपूर्ण होता है। अहंकार, अभिमान, ममता, आसक्ति आदि दोषोंको लेकर अथवा व्यक्तिगत स्वार्थवश जो प्रेम होता है, वही दूषित समझा जाता है। क्षणभंगुर, नाशवान्, दृश्य पदार्थोंको सत्य मानकर उनके सम्बन्धसे होनेवाले भ्रमजन्य सुखको सुख मानकर उनमें प्रेम करना अज्ञानपूर्ण प्रेम है। ये दोनों बातें संतमें नहीं होतीं—इसलिये उस ज्ञानी संतका प्रेम विशुद्ध और ज्ञानपूर्ण होता है।

प्र०—जैसे भक्त सम्पूर्ण विश्वको साक्षात् अपना इष्टदेव भगवान् समझकर काम पड़नेपर विश्व-हितके लिये प्रसन्नतापूर्वक अपने सम्पूर्ण ऐश्वर्यसहित अपने-आपको बलि-वेदीपर चढ़ा देता है, क्या ज्ञानमार्ग-पर चलनेवाला भी अवसर आनेपर ऐसा ही कर सकता है ?

उ०—हाँ, कर सकता है। क्योंकि प्रथम तो उसकी दृष्टिमें ऐश्वर्य और देहका कोई मूल्य ही नहीं है। और दूसरे, अज्ञानी मनुष्य ऐश्वर्य और देहको आनन्ददायक मानकर मूल्यवान् समझते हैं। अतएव उनकी दृष्टिसे उन्हें सुख पहुँचानेके लिये ज्ञानी पुरुष ऐश्वर्य और देहका त्याग कर दें—इसमें आश्चर्य और शंका ही क्यों होनी चाहिये ?

ज्ञानमार्गपर चलनेवाला पुरुष समस्त चराचर विश्वको अपने चिन्मय आत्मरूपसे ही अनुभव करता है। अतएव उसका सबके साथ आत्मवत् व्यवहार होता है। जैसे किसी समय अपने ही दाँतों-से जीभके कट जानेपर कोई भी मनुष्य दाँतोंको दण्ड नहीं देना चाहता, वह जानता है कि दाँत और जीभ दोनों मेरे ही हैं। जीभ-में तो तकलीफ है ही, दाँतोंमें और तकलीफ क्यों उत्पन्न की जाय। इसी प्रकार ज्ञानमार्गी संत सबको अपना आत्मा समझनेके कारण किसीके द्वारा अनिष्ट किये जानेपर भी उसे दण्ड देनेकी भावना नहीं करते। कभी-कभी यदि ऐसी कोई बात देखी जाती है तो उसका हेतु भी आत्मोपम प्रेम ही होता है, जैसे अपने दूसरे अच्छे अंगोंकी रक्षाके लिये मनुष्य समझ-बूझकर सड़े हुए अंगको कटवा देनेमें अपना हित समझता है, इसी प्रकार संतोंके द्वारा भी विश्व-

हितार्थ स्वाभाविक ही कभी-कभी ऐसी क्रिया होती देखी जाती है।

संतोंके उपर्युक्त विश्वप्रेमका तत्त्व और रहस्य बड़ा ही विलक्षण है। वास्तवमें जो संत होते हैं, वे ही इसको जानते हैं। ऐसे संतोंके गुण, आचरण, प्रभाव और तत्त्वका अनुभव उनका सङ्ग और सेवन करनेसे ही हो सकता है।

संतोंके आचरण और उपदेश

प्र०—ऐसे संत-महात्माओंके आचरण अनुकरणीय हैं या उपदेश ?

उ०—आचरण और उपदेश दोनों ही अनुकरणीय हैं। केवल आचरण और उपदेश ही क्यों, उनके एक-एक गुणको अपने हृदयमें भलीभाँति धारण करना चाहिये। हाँ, यदि आचरण और उपदेशमें भिन्नता प्रतीत हो तो वहाँ उपदेशको ही प्रधान समझा जाता है। यद्यपि महापुरुषोंके आचरण शास्त्रके अनुकूल ही होते हैं और शास्त्रानुकूल ही वे उपदेश-आदेश करते हैं, परन्तु उन पुरुषोंके तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण जो-जो आचरण शास्त्रके अनुकूल न प्रतीत हों, उनका अनुकरण नहीं करना चाहिये।

यद्यपि उन महापुरुषोंके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथापि स्वाभाविक ही वे लोगोंपर दया कर लोकहितके लिये शास्त्रानुकूल आचरण करते हैं। उनसे शास्त्रविपरीत आचरण होनेका तो कोई कारण ही नहीं है। परन्तु शास्त्रके अनुकूल जितने कर्म होने चाहिये, उनमें स्वभावकी उपरामताके कारण अथवा शरीरका बाह्यज्ञान न रहनेके कारण या और किसी कारण उनमें कमी प्रतीत हो

तो उनको इसके लिये कोई बाध्य भी नहीं कर सकता, क्योंकि वे विधि-निषेधरूप शास्त्रसे पार पहुँचे हुए हैं। उनपर 'यह ग्रहण करो' और 'यह त्याग करो'—इस प्रकारका शासन कोई भी नहीं कर सकता। उनके गुण और आचरण ही सदाचार हैं। उनकी वाणी–उपदेश-आदेश ही वेदवाणी हैं। फिर उनके लिये विधान करनेवाला कौन? अतएव उनके द्वारा होनेवाले आचरण सर्वथा अनुकरणीय ही हैं, तथापि जिस आचरणमें सन्देह हो, जो शास्त्रके विपरीत प्रतीत होता हो, उसके लिये या तो उन्हीं पुरुषोंसे पूछकर सन्देह मिटा लेना चाहिये अथवा उसको छोड़कर जो शास्त्रानुकूल प्रतीत हों उन्हींके अनुसार आचरण करना चाहिये।

प्र०—जब ऐसे महापुरुषोंपर विधि-निषेध शास्त्रका कोई शासन ही नहीं, तब वे कर्मोंका आचरण क्यों करते हैं?

उ०—लोगोंपर दया कर केवल लोकहितके लिये। स्वयं भगवान् वासुदेव भी तो अवतार लेकर लोकहितार्थ कर्माचरण करते हैं। संतको करनेके लिये भी कहा है—

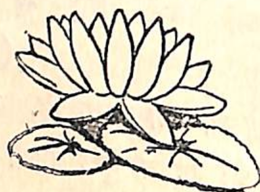
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

(गीता ३। २१-२२)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं, वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त

मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है। हे अर्जुन ! मुझे तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ।'

भगवान्‌के इस आदर्शके अनुसार यदि संत पुरुष आचरण करें तो इसमें उनका गौरव है और लोगोंका परम कल्याण है और इसीलिये संतोंके द्वारा स्वाभाविक ही लोकहितकर कर्म होते हैं। ऐसे संतोंका जीवन लोगोंके उपकारके निमित्त ही होता है। अतएव लोगोंको भी इस प्रकारके संत बननेके लिये भगवान्‌की शरण होकर पद-पदपर भगवान्‌की दयाका दर्शन करते हुए हर समय प्रसन्नचित्त रहना चाहिये। भगवान्‌को यन्त्री मानकर अपनेको उनके समर्पण करके उनके हाथका यन्त्र बनकर उनके आज्ञानुसार चलना चाहिये और यह याद रखना चाहिये कि जो इस प्रकार अपने-आपको भगवान्‌के अर्पण कर देता है, उसके सारे आचरण भगवत्कृपासे भगवान्‌के अनुकूल ही होते हैं—यही शरणागतिकी कसौटी है। इस शरणागतिसे ही भगवान्‌की अनन्त दयाके दर्शन होते हैं और भगवान्‌की दयासे ही देवताओंके द्वारा भी पूजनीय परम दुर्लभ संतभावकी प्राप्ति होती है।



भगवद्भक्तोंकी महिमा

भगवान्‌के भक्तोंकी महिमा अनन्त और अपार है। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदिमें जगह-जगह उनकी महिमा गायी गयी है, किन्तु उसका किसीने पार नहीं पाया। वास्तवमें भक्तोंकी तथा उनके गुण, प्रभाव और संगकी महिमा कोई वाणीके द्वारा गा ही नहीं सकता। शास्त्रोंमें जो कुछ कहा गया है अथवा वाणीके द्वारा जो कुछ कहा जाता है उससे भी उनकी महिमा अत्यन्त बढ़कर है। रामचरितमानसमें स्वयं श्रीभगवान्‌ने भाई भरतसे संतोंके लक्षण बताते हुए उनकी इस प्रकार महिमा कही है—

बिषय अलंपट सील गुनाकर।
पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी।
लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमलचित दीनन्ह पर दाया।
मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी।
भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन।
सांति बिरति बिनती मुदितायन॥

सीतलता सरलता मयत्री ।
द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री ॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं ।
परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं ॥
निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज ।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुंज ॥

भगवान्‌के भक्त क्षमा, शान्ति, सरलता, समता, सन्तोष, पवित्रता, चतुरता, निर्भयता, शम, दम, तितिक्षा, धृति, त्याग, तेज, ज्ञान, वैराग्य, विनय, प्रेम और दया आदि गुणोंके सागर होते हैं ।

भगवान्‌के भक्तोंका हृदय भगवान्‌की भाँति वज्रसे भी बढ़कर कठोर और पुष्पोंसे बढ़कर कोमल होता है । अपने ऊपर कोई विपत्ति आती है तो वे भारी-से-भारी विपत्तिको भी प्रसन्नतासे सह लेते हैं । भक्त प्रह्लादपर नाना प्रकारके प्रहार किये गये, पर वे किञ्चित् भी नहीं घबराये और प्रसन्नतासे सब सहते रहे । ऐसी स्थितिमें भक्तोंका हृदय वज्रसे भी कठोर बन जाता है, किन्तु दूसरोंका दुःख उनसे नहीं सहा जाता, उस समय उनका हृदय पुष्पसे भी बढ़कर कोमल हो जाता है । सर्वत्र भगवद्-बुद्धि होनेके कारण किसीके साथ उनका वैर या द्वेष तो हो ही नहीं सकता, और न किसीपर उनकी घृणा ही होती है । उन महापुरुषोंके साथ कोई कैसा ही क्रूर व्यवहार क्यों न करे, वे तो बदलेमें उसका हित ही करते रहते हैं । दयाके तो वे समुद्र ही होते हैं । दूसरोंके हितके

लिये वे अपने आपको महर्षि दधीचि और राजा शिबिकी भाँति बलिदान कर सकते हैं। दूसरोंकी प्रसन्नतासे उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती है, सब जीवोंके परम हितमें उनकी स्वाभाविक ही प्रीति होती है। दूसरोंके हितके मुकाबले वे मुक्तिको भी कोई चीज़ नहीं समझते।

इसपर एक दृष्टान्त है—एक धनी दयालु दानी पुरुष नित्य हजारों अनाथ, गरीब और भिक्षुकोंको भोजन देता था। एक दिन उसका सेवक, जो कि बड़ा कोमल और दयालु स्वभावका था, मालिकके साथ लोगोंको भोजन परोसनेका काम करने लगा। समय बहुत अधिक होनेके कारण मालिकने सेवकसे कहा कि 'जाओ तुम भी भोजन कर लो' यह सुनकर सेवकने कहा 'स्वामिन्! मैं इन सबको भोजन करानेके बाद भोजन कर लूँगा, आपको बहुत समय हो गया है इसलिये आप विश्राम कर सकते हैं। मुझे जितना आनन्द इन दुखी अनाथोंको भोजन करानेमें आता है उतना आनन्द अपने भोजन करनेमें नहीं आता।' किन्तु मालिक कब जानेवाला था, दोनों मिलकर ही सब दुखी अनाथोंको भोजन कराने लगे। थोड़ी देरके बाद उस धनिकने फिर अपने उस सेवकसे कहा कि 'समय बहुत अधिक हो गया है। तुमको भी तो भोजन करना है, जाओ भोजन कर लो।' यह सुनकर सेवकने कहा 'प्रभो! मैं बड़ा अकर्मण्य, स्वार्थी हूँ, इसीलिये आप मुझे इस कार्यको छोड़कर बार-बार भोजन करनेके लिये कह रहे हैं। यदि मैं अपने भोजन करनेकी अपेक्षा इनको भोजन कराना अधिक महत्त्वकी बात

समझता तो क्या आप मुझे ऐसा कह सकते ? परन्तु अच्छे स्वामी अकर्मण्य सेवकको भी निबाहते ही हैं ! मैं आपकी आज्ञाकी अवहेलना करता हूँ, आप मेरी इस धृष्टताकी ओर ध्यान न देकर मुझे क्षमा करें । प्रभो ! इन अनाथ भूखोंके रहते मैं भोजन कैसे करूँ ?' यह सुनकर मालिक बहुत प्रसन्न हुआ और सबको भोजन कराके अपने उस सेवकके साथ घर चला गया । वहाँ जाकर उसने सेवकसे कहा—'मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, जो कहो, करनेको तैयार हूँ, बोलो, तुम क्या चाहते हो ? तुम जो माँगोगे मैं तुम्हें वही दूँगा ।' सेवकने कहा—'प्रभो ! दीन-दुखियोंको भोजन करानेका जो काम आप नित्य स्वयं करते हैं—मुझे तो वही काम सबसे बढ़कर जान पड़ता है, अतएव वही मुझे दे दीजिये; काम चाहे अपने साथ रखकर करावें या मुझे अकेला रखकर ।'

यह दृष्टान्त है । दार्ष्टान्तमें ईश्वरको स्वामी, भक्तको सेवक, जिज्ञासुओंको भूखे-अनाथ-दुखी, और उनको संसारसे मुक्त करना ही भोजन कराना, एवं परमधामको जाना ही घर जाना समझना चाहिये ।

भगवान्के जो सच्चे प्रेमी भक्त होते हैं, वे अपनी मुक्तिकी परवा न करके सबके कल्याणके लिये प्रसन्नताके साथ तत्पर हो जाते हैं; और भगवान्से वर भी माँगते हैं तो यही कि—'सारे जीवोंका कल्याण हो जाय ।' ऐसे ही भक्तोंके लिये गोस्वामी तुलसी-दासजीने कहा है कि—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा । राम ते अधिक राम कर दासा ।।
राम सिंधु घन सज्जन धीरा । चंदन तरु हरि संत समीरा ।।

अर्थात् हे स्वामिन् ! मेरे मनमें तो ऐसा विश्वास है कि रामके दास रामसे भी बढ़कर हैं। राम समुद्र हैं और सन्त मेघ हैं, राम चन्दन वृक्ष हैं और सन्त पवन हैं। मेघ समुद्रका जल लेकर सब जगह बरसाते हैं और सारे जगत्को तृप्त कर देते हैं, वैसे ही सन्त-महात्मा भी अक्षय सुख और शान्तिको देनेवाली भगवान्के गुण, प्रेम और प्रभावकी बातें जिज्ञासुओंको सुनाकर उन्हें तृप्त करते हैं। एवं जैसे वायु चन्दनकी गन्धको लेकर नीम और साल आदि अन्य वृक्षोंको भी चन्दन बना देता है वैसे ही महात्मा पुरुष विज्ञानानन्दघन परमेश्वरके भावको लेकर जिज्ञासुओंको विज्ञानानन्दमय बना देते हैं।

स्वयं भगवान्ने भी अपने भक्तोंके महत्त्वका वर्णन करते हुए उनको अपनेसे बड़ा बताया है। राजा अम्बरीष भगवान्के बड़े प्रेमी भक्त थे। उन्होंने एकादशीका व्रत किया था। एक समय द्वादशीके दिन दुर्वासा ऋषि राजा अम्बरीषके घर पहुँचे और राजाके प्रार्थना करनेपर भोजन करना स्वीकार करके वे स्नानादि नित्यकर्म करनेके लिये यमुनातटपर चले गये। उस समय द्वादशी केवल एक घड़ी शेष रह गयी थी। तदनन्तर त्रयोदशी आती थी। व्रतका पारण द्वादशीमें ही करना अभीष्ट था। दुर्वासाजी स्नान करके समयपर नहीं लौटे, तब राजाने सोचा कि 'पारण न करनेसे तो व्रत भंग होता है और अतिथि ब्राह्मणको भोजन कराये विना स्वयं भोजन कर लेनेसे पापका भागी होना पड़ता है।' इसलिये राजाने विद्वान् ब्राह्मणोंसे परामर्श किया और उनकी आज्ञासे केवल चरणो-

दक लेकर पारण कर लिया। इतनेहीमें दुर्वासाजी भी स्नान करके लौट आये। इस बातका पता लगनेपर उन्हें बहुत क्रोध हुआ। राजाने बहुत प्रकारसे क्षमा-प्रार्थना की, किन्तु ऋषिने एक भी न सुनी। क्रोधमें भरकर राजाका नाश करनेके लिये उन्होंने तुरन्त ही अपनी जटासे केश उखाड़कर एक कृत्या उत्पन्न की। राजा उस समय भी हाथ जोड़े उनके सामने ही खड़े रहे। न तो कृत्याको देखकर भयभीत हुए और न उसका कोई प्रतीकार ही किया। किन्तु भगवान्‌के सुदर्शनचक्रसे यह नहीं सहा गया। वह कृत्याका नाश करके दुर्वासाकी ओर दौड़े। चक्रको देखते ही ऋषि घबड़ा गये और उससे छुटकारा पानेके लिये ब्रह्मा, शिव आदिकी शरणमें गये। किन्तु भगवान्‌के भक्तका अपराधी समझकर उन्हें किसीने भी सहायता नहीं दी। अन्तमें वे भगवान् विष्णुकी शरणमें गये तो उन्होंने भी साफ जवाब दे दिया। श्रीमद्भागवतमें वहाँका वर्णन इस प्रकार है। भगवान् कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(९।४।६३)

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

(९।४।६५)

ब्रह्मंस्तद्गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम्।
क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति॥

(९।४।७१)

'हे ब्रह्मन् ! मैं भक्तजनोंका प्रिय और उनके अधीन हूँ। मेरे साधु भक्तोंने मेरे हृदयपर अधिकार प्राप्त कर लिया है, अतः मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। जो स्त्री, पुत्र, घर, कुटुम्ब और उत्तम धन तथा अपने प्राणोंतकको न्योछावर करके मेरी शरण हो गये हैं, उन प्रिय भक्तोंका त्याग मैं कैसे कर सकता हूँ। इसलिये हे द्विज ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम महाभाग राजा अम्बरीषके पास जाकर उनसे क्षमा-याचना करो, इसीसे तुम्हें शान्ति मिलेगी, इसके लिये कोई दूसरा उपाय नहीं है।'

ऋषि लौटकर अम्बरीषकी शरणमें आये, तबतक राजा विना भोजनके उसी तरह खड़े ऋषिके आगमनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। दण्डवत्-प्रणाम करके ऋषिके क्षमा-प्रार्थना करनेपर राजाको बहुत ही संकोच हुआ। राजाने स्तुति-प्रार्थना करके सुदर्शनचक्रको शान्त किया। ऋषिको बहुत प्रकारसे सान्त्वना देकर भली प्रकारसे भोजन कराया और उनकी सेवा की। बादमें स्वयं भोजन किया। धन्य है ! भगवान्‌के भक्त ऐसे ही होने चाहिये।

भगवान्‌से भी भगवान्‌के भक्तोंको बढ़कर बतलानेमें भगवान्‌की निन्दा नहीं है। भक्तोंको उनसे बड़ा बतलानेमें भी बड़ाई भगवान्‌की ही होती है—क्योंकि भक्तोंका बड़प्पन भगवान्‌से ही है।

भगवान्‌की भक्तिका प्रचार अवश्यम्भावी नहीं होता। वह भगवान्‌के भक्तोंपर निर्भर है। अपनी भक्ति और महिमाके प्रचार

करनेमें स्वाभाविक ही सबको संकोच होता है। इसलिये भगवान् भी अपनी भक्तिका विस्तारसे प्रचार स्वयं न करके अपने भक्तोंके द्वारा ही कराते हैं। अतएव भगवान्की भक्ति और महिमाका प्रचार विशेषतासे भगवान्के भक्तोंपर ही निर्भर करता है। इसलिये भगवान्के भक्त भगवान्से बढ़कर हैं।

सारा संसार भगवान्के एक अंशमें स्थित है। (गीता १०। ४२) और भगवान् भक्तके हृदयमें स्थित हैं—इस युक्तिसे भी भगवान्के भक्त भगवान्से बड़े हैं।

पवित्रतामें तो भगवान्के भक्त तीर्थोंसे भी बढ़कर हैं, क्योंकि सारे तीर्थोंकी उत्पत्ति उन्हींके निमित्तसे या प्रतापसे हुई है। यदि कहो, बहुतसे तीर्थोंका निर्माण भगवान्के अवतार या लीलासे हुआ है, सो ठीक है। पर भगवान्का अवतार भी तो प्रायः भक्तोंके लिये ही होता है। अतएव उसमें भी भगवान्के भक्त ही निमित्त होते हैं। तीर्थ सारे संसारको पवित्र करनेवाले हैं, परन्तु भगवान्के भक्त तो तीर्थोंको भी पवित्र करनेवाले हैं।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि।

(नारदभक्तिसूत्र ६९)

'ऐसे भक्त तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको सत् शास्त्र कर देते हैं।'

महाराज भगीरथके घोर तपसे प्रसन्न होकर वर देनेके लिये आविर्भूत हुई भगवती श्रीगंगाजीने उनसे कहा—'भगीरथ! मैं

पृथ्वीपर कैसे आऊँ ? संसारके सारे पापी तो आ-आकर मुझमें अपने पापोंको धो डालेंगे, परन्तु उन पापियोंके अपार पापपङ्कको मैं कहाँ धोने जाऊँगी' इसपर आपने क्या विचार किया है ? इसके उत्तरमें भगीरथने कहा—

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः ।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ॥

(श्रीमद्भा० ९ । ९ । ६)

'हे मातः ! समस्त विश्वको पवित्र करनेवाले, विषयोंके त्यागी, शान्तस्वरूप, ब्रह्मनिष्ठ साधु-महात्मा आकर तुम्हारे प्रवाहमें स्नान करेंगे तब उनके अंगके संगसे तुम्हारे सारे पाप धुल जायँगे; क्योंकि उनके हृदयमें समस्त पापोंका नाश करनेवाले श्रीहरि निवास करते हैं ।'

गंगा, यमुना आदि तीर्थ तो स्नान-पान आदिसे पवित्र करते हैं, किन्तु भगवान्के भक्तोंका तो दर्शन और स्मरण करनेसे भी मनुष्य तुरन्त पवित्र हो जाता है; फिर भाषण और स्पर्शकी तो बात ही क्या है ? तीर्थोंमें तो लोगोंको जाना पड़ता है और जाकर स्नानादि करके वे पवित्र होते हैं, किन्तु महात्माजन तो श्रद्धा-भक्ति होनेसे स्वयं घरपर आकर पवित्र कर देते हैं ।

महात्माओंकी पवित्रताके विषयमें जितना कहा जाय थोड़ा ही है । स्वयं भगवान्ने उनकी महिमा अपने मुखसे गायी है ।

श्रद्धापूर्वक किया हुआ महापुरुषोंका संग भजन और ध्यानसे भी बढ़कर है । इसीलिये सनकादि महर्षिगण ध्यानको छोड़कर

भगवान्‌के गुणानुवाद सुना करते थे। राजा परीक्षित तो केवल भगवान्‌के गुणानुवाद सुननेसे मुक्त हो गये; क्योंकि सत्संगद्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव और प्रेमकी बातोंको सुननेसे ही भगवान्‌में श्रद्धा एवं प्रेम होता है।

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम होनेसे ही भजन-ध्यान होता है। श्रद्धा और प्रेमपूर्वक किये हुए भजन-ध्यानसे ही भगवान् शीघ्र मिलते हैं। अतएव भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम होनेके लिये महापुरुषोंका संग करके भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी अमृतमयी बातें सुनने और समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

महापुरुषोंका संग मुक्तिसे भी बढ़कर बतलाया गया है।

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सत संग॥

शास्त्र कहते हैं—मुक्ति तो महापुरुषोंकी चरणरजमें विराजमान रहती है अर्थात् श्रद्धा और प्रेमपूर्वक महापुरुषोंकी चरणरजको मस्तकपर धारण करनेसे मनुष्य मुक्त हो जाता है। भागवतमें भगवान्‌से उद्धवजी कहते हैं—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।

(१०।४७।६१)

'अहो ! क्या ही उत्तम हो, यदि मैं आगामी जन्ममें इस वृन्दावनकी लता, ओषधि या झाड़ियोंमेंसे कोई होऊँ, जिनपर इन गोपियोंकी चरणधूलि पड़ती है।'

भागवतमें अपने भक्तोंकी महिमाका वर्णन करते हुए स्वयं भगवान्‌ने कहा है कि—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(११।१४।१६)

'सब प्रकारकी अपेक्षासे रहित, मननशील, किसीसे भी वैर न रखनेवाले, समदर्शी एवं शान्त भक्तके पीछे-पीछे मैं सदा इस उद्देश्यसे फिरा करता हूँ कि इसके चरणोंकी धूलि पड़नेसे मैं पवित्र हो जाऊँगा।'

जो मनुष्य महापुरुषोंके तत्त्वको समझकर उनका संग करता है वह तो स्वयं दूसरोंको पवित्र करनेवाला बन जाता है। मुक्ति तो विना इच्छा ही जबरदस्ती उसको प्राप्त होती है, किन्तु वह मुक्तिका तिरस्कार करके भगवान्‌के गुण और प्रभावकी बातोंको सुन-सुनकर प्रेममें मुग्ध होता है और प्रेममें विह्वल होकर भगवान्‌को आह्लादित करता है। इस प्रकार भगवान्‌को आह्लादित करनेको वह मुक्तिसे भी बढ़कर समझता है।

संसारमें तीन प्रकारके पुरुष होते हैं—उनमें एक तो ऐसे हैं कि जो न्याययुक्त परिश्रमसे धन कमाकर अपना पेट भरते हैं, दूसरे ऐसे हैं जो माँगकर क्षेत्रोंसे या सदावर्तद्वारा शरीरका निर्वाह करते हैं

और तीसरे ऐसे हैं जो नित्य सदावर्त बाँटते हैं और सबको खिलाकर खाते हैं। पेट तीनोंका ही भरता है। तुष्टि, पुष्टि भी तीनोंकी ही समानरूपसे होती है। वर्णाश्रमानुसार न्याययुक्त जीविका करनेसे तीनों ही श्रेष्ठ होनेपर भी विशेष प्रशंसाके पात्र वे ही हैं जो नित्य सबको भोजन कराके यज्ञशिष्ट अमृतका भोजन करते हैं। इसी प्रकार मुक्तिके विषयमें भी समझना चाहिये।

जो भजन, ध्यान आदि साधन करके मुक्ति पाते हैं वे परिश्रम करके पेट भरनेवालोंके समान हैं। जो काशी आदि क्षेत्रोंकी एवं महात्मा पुरुषोंकी शरण लेकर मुक्ति प्राप्त करते हैं वे माँगकर शरीरनिर्वाह करनेवालोंके समान हैं और जो भगवान्‌के देनेपर भी मुक्तिको ग्रहण न करके सबके कल्याण होनेके लिये भगवान्‌के गुण, प्रेम, तत्त्व, रहस्य और प्रभावयुक्त भगवान्‌के सिद्धान्तका संसारमें प्रचार करते हैं, वे सबको खिलाकर भोजन करनेवालोंके समान हैं। यद्यपि सभीका कल्याण होता है और परम शान्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिमें सभी समान हैं, पर इन तीनोंमें यदि किन्हींको ऊँचा दर्जा दिया जाय तो वे ही सबसे श्रेष्ठ रहते हैं जो मुक्तिको भी न चाहकर सबका कल्याण करनेपर ही तुले हुए हैं। ऐसा अधिकार भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है; अतएव ऐसे पुरुषोंका संग मुक्तिसे भी बढ़कर है, ऐसे पुरुषोंकी स्वयं भगवान्‌ने भी गीता अध्याय १८ श्लोक ६८-६९ में श्रीमुखसे प्रशंसा की है—

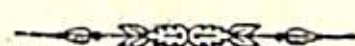
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीता-शास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है । मेरा उससे बढ़कर प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा मेरा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं ।'

ऐसे भक्तोंको जब भगवान् स्वयं मुक्ति देना चाहते हैं तब वे कहा करते हैं कि—'भगवन् ! मैं तो यही चाहता हूँ कि केवल आपके गुण, प्रेम, तत्त्व, रहस्य और प्रभावकी बातोंमें ही रात-दिन बिताऊँ, मुझे इससे बढ़कर और कुछ भी अच्छा नहीं लगता । यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहें तो मैं आपसे यही प्रार्थना करता हूँ कि सारे जीवोंका कल्याण कर दीजिये ।' क्या ही उत्तम भाव हैं ? यह याचना होते हुए भी निष्कामभाव है ।

ऐसे महात्माओंके अमोघ सङ्ग और महती कृपासे जो व्यक्ति परमात्माके रहस्यसहित गुण और प्रभावको तत्त्वसे जान जाता है वह स्वयं परम पवित्र होकर इस अपार संसार-सागरसे तरकर दूसरोंको भी तारनेवाला बन सकता है । इसलिये महापुरुषोंका संग अवश्यमेव करना चाहिये, क्योंकि सत्पुरुषोंका संग बड़े रहस्य और महत्त्वका विषय है । श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सत्संग करनेवाले ही इसका कुछ महत्त्व जानते हैं । पूरा-पूरा रहस्य तो स्वयं भगवान् ही जानते हैं, जो कि भक्तोंके प्रेमके अधीन हुए उनके पीछे-पीछे फिरते हैं ।



गीताके अनुसार स्थितप्रज्ञ, भक्त और गुणातीतके लक्षण तथा आचरण

वास्तवमें जीवन्मुक्त महापुरुषोंके व्यवहारका वर्णन वाणीद्वारा प्रकट करना असम्भव-सा है। उनके व्यवहारके रहस्यको साधारण मनुष्य कैसे समझ सकता है, उसका वर्णन करनेमें न तो मेरा अधिकार है और न योग्यता ही है; तथापि अपने मित्रोंकी प्रेरणासे, गीतादि शास्त्रोंके आधारपर अपनी साधारण बुद्धिसे जो कुछ समझमें आया है उसे पाठकोंकी सेवामें निवेदन करता हूँ।

जीवन्मुक्त महापुरुषोंका व्यवहार, उनका निजी स्वार्थ एवं राग-द्वेष और अहंकार न रहनेके कारण, केवल लोकहितार्थ ही हुआ करता है। उनके आचरण संसारमें प्रमाणस्वरूप माने जाते हैं, उनके आचरणोंमें पाप और स्वार्थकी गन्ध भी नहीं रहती, उनकी प्रत्येक क्रियामें परम उपदेश भरा रहता है। मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण आदि समस्त पदार्थोंमें; पशु, पक्षी, कीट, पतंग, मनुष्य और देवादि समस्त प्राणियोंमें; तथा सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, शीत-उष्ण, प्रिय-अप्रिय आदि समस्त भावोंमें और समस्त कर्मोंमें सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा उनका समभाव रहता है। उनके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें स्वार्थ, अहंकार, राग-द्वेष, विषमता और

भयका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण उनकी सारी क्रियाएँ साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा विलक्षण, परम पवित्र और दिव्य हुआ करती हैं। उनके आचरणोंमें किसी प्रकारका लेशमात्र भी दोष नहीं रहता। उनके अन्तःकरणमें समभाव, प्रसन्नता, परमशान्ति और ज्ञान, ये सब नित्य-निरन्तर अविच्छिन्न और अपार रहते हैं। यह सब होते हुए भी वास्तवमें वे महापुरुष इस त्रिगुणमयी माया और उसके कार्यरूप शरीरादिसे सर्वथा अतीत होते हैं। अतः उनको न तो प्रिय वस्तुकी प्राप्ति और अप्रियके वियोगमें हर्ष होता है और न किसी अप्रियकी प्राप्ति और प्रियके वियोगमें शोक ही होता है। यदि ऐसे महापुरुषोंको किसी भी प्रकारका कोई भारी दुःख पहुँचाया जाय, तो भी वे महापुरुष अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होते।

श्रीमद्भगवद्गीतामें परमपदकी प्राप्तिको भगवान्‌ने कहीं ब्रह्मनिर्वाण, सनातन ब्रह्म और ब्रह्मकी प्राप्तिके नामसे; कहीं आत्यन्तिक सुख, अनन्त सुख, अक्षय सुख और उत्तम सुखकी प्राप्तिके नामसे; कहीं अविनाशी शाश्वतपद, परम गति, परमधाम, परम दिव्य पुरुष, परम-सिद्धि, संसिद्धि, शान्ति, परमशान्ति, निर्वाणपरमशान्ति, शाश्वत शान्ति, अव्यक्त, अक्षर, अमृत, परमस्थान, शाश्वतस्थान, मद्भाव, मम साधर्म्य, परम और अपनी प्राप्ति इत्यादिके नामसे कहा है।

उस परमपदको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और आचरण गीता अध्याय १४ के अन्तमें गुणातीतके नामसे, अध्याय १२ के अन्तमें भक्तके नामसे और अध्याय २ के अन्तमें स्थितप्रज्ञके नामसे भगवान्‌ने बतलाये हैं; इसके सिवा अन्यान्य अध्यायोंमें भी

योगी, युक्त और ज्ञानी आदिके नामसे जीवन्मुक्तकी स्थितिका संक्षिप्त वर्णन आया है। ये सभी परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषके लक्षण हैं।

गीतापर भलीभाँति विचार करनेसे मालूम होता है कि अध्याय २ के श्लोक ५५ से ७२ तक स्थितप्रज्ञके नामसे कर्मयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और आचरण बताये गये हैं।

अध्याय १२ में श्लोक १३ से २० तक भक्तियोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और आचरण बताये गये हैं।

एवं अध्याय १४ में श्लोक २२ से २५ तक ज्ञानयोग यानी सांख्ययोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और आचरण बताये गये हैं।

इन तीनों स्थलोंको सामने रखकर उनपर विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि इनमेंके बहुत-से लक्षण और आचरण एक-दूसरेमें मिलते-जुलते-से ही हैं। क्योंकि परमात्माको प्राप्त होनेके उपरान्त सबकी स्थिति एक ही हो जाती है, इसलिये उनके लक्षण और आचरण भी प्रायः एक-से ही हुआ करते हैं। तथापि प्रकृति (स्वभाव) और साधनकालके अभ्यासके तथा वर्णाश्रमके भेदसे गुण और आचरणोंमें किसी-किसी स्थलमें भिन्नता भी आ जाती है, पर वह शास्त्रानुकूल ही होती है। भगवान्‌ने भी कहा है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

(गीता ३। ३३)

'सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं, अर्थात् अपने स्वभावके परवश हुए कर्म करते हैं। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा।'

सभी प्रकारके साधनोंसे परमात्माको प्राप्त हुए पुरुष परम पवित्र और साधारण मनुष्योंसे बहुत उत्तम होते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त पुरुषोंकी प्रकृति साधनकालमें ही शुद्ध हो जाती है। अतः सभी प्रकारके जीवन्मुक्त महापुरुषोंके आचरण शास्त्रसम्मत, आदर्शरूप, पवित्र और सर्वथा दिव्य होते हैं।

कर्मयोगीके लिये तो फलासक्तिरहित कर्मोंका करना ही योगकी सिद्धिमें हेतु बतलाया गया है (गीता ६। ३)। इसलिये उसके द्वारा कर्मोंका विस्तार होना स्वाभाविक ही हो जाता है और कर्मोंके विस्तारसे उसमें फँसाव होकर बन्धन हो जानेका डर रहता है। अतएव उसके लिये मन-इन्द्रियोंके निग्रह एवं काम-क्रोध, राग-द्वेष, ममता और परवा आदिके त्यागपर विशेष जोर दिया गया है। भक्ति-योगके साधकके लिये इन बातोंपर इतना जोर नहीं दिया गया। उनके लिये तो सर्वकर्म भगवान्‌के समर्पण करके भगवत्स्मरण करने-पर विशेष जोर दिया गया है। इस प्रकार करनेसे भगवान्‌की दयासे उपर्युक्त सारे दोष अपने-आप ही नष्ट हो जाते हैं। और ज्ञानमार्गसे चलनेवाले पुरुष तो सारे कर्म और सारे विकार प्रकृतिपर छोड़ देते हैं, अपनेसे उनका सम्बन्ध ही नहीं रखते; इस कारण उनके बाहरी कर्मोंका विस्तार नहीं भी हो सकता।

कर्मयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषमें, परमात्मा-की प्राप्तिके उत्तरकालमें भी, कर्मोंका बाहुल्य रह सकता है। उसके द्वारा स्वार्थ, आसक्ति, अहंकार आदिके विना ही केवल लोकसंग्रहार्थ स्वाभाविक कर्मोंकी क्रियाएँ विस्तारपूर्वक भी होती हैं और उसमें उसकी महिमा है। भगवान्‌ने भी कहा है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

(गीता ४। १९)

'जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म विना कामना और सङ्कल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।'

वे ममता, अहङ्कार, कामना आदिसे रहित हुए संसारमें विचरते हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २। ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्याग कर ममतारहित, अहङ्कार-रहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

क्योंकि साधनकालमें ही कर्मयोगीके साधनमें मन-इन्द्रियोंके संयमपूर्वक राग-द्वेष और स्वार्थके विना केवल कर्तव्यबुद्धिसे किये हुए कर्म

ही उसकी स्थितिको बढ़ाकर परमात्माका साक्षात्कार करानेमें हेतु होते हैं।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(गीता २।६४-६५)

'परन्तु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

पूर्वमें भी इस प्रकार साधन करके जनकादि परमपदको प्राप्त हो चुके हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि॥

(गीता ३।२०)

'जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे। इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है।'

इस कारण सिद्धावस्थाको प्राप्त होनेके बाद भी उन पुरुषों-द्वारा बहुलतासे कर्म हो सकते हैं। ऐसे पुरुषमें राग-द्वेषादि अवगुणों-का सर्वथा अभाव होनेके कारण, कर्मोंकी बहुलता होनेपर भी, उसके द्वारा किये हुए कर्मोंमें कोई दुराचारिता नहीं आ सकती; क्योंकि दुराचारिताका मूल कारण राग-द्वेषादि अवगुण ही हैं। अर्जुनके पूछनेपर भगवान्ने आसक्तिसे उत्पन्न होनेवाले काम-क्रोधको ही पापाचारमें हेतु बताया है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'हे अर्जुन! रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान।'

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मोंकी बहुलता स्थितिमें बाधक नहीं है, राग-द्वेष और काम-क्रोधादि अवगुण ही बाधक हैं और इनका उन महापुरुषोंमें सर्वथा अभाव होता है। स्वार्थ और राग-द्वेषको छोड़कर किये हुए कर्म ही कर्मयोगके साधकके लिये भगवत्प्राप्ति करानेवाले हैं और सिद्धोंकी शोभा बढ़ानेवाले हैं।

शास्त्रविहित स्वाभाविक कर्मोंमें जो अनिवार्य हिंसादि दोष हुआ करते हैं, वे दुराचार नहीं हैं (गीता १८। ४८); एवं ऐसे हिंसादि दोष फलेच्छा, राग-द्वेष और अहङ्काररहित मनुष्यको दूषित नहीं कर सकते (गीता १८। १७)।

यद्यपि परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषको कर्म करने या न करनेसे कोई अपना प्रयोजन नहीं रह जाता, तथापि लोगोंको उन्मार्गसे बचाने और सन्मार्गमें प्रवृत्त करनेके लिये ही उनके द्वारा निषिद्ध कर्मोंका त्याग और विहित कर्मोंका आचरण हुआ करता है। मोहसे कर्मोंको छोड़ बैठनेवाला अज्ञानी वास्तवमें त्यागी नहीं है (गीता १८ । ७); परन्तु इस प्रकार कर्म करनेवाला महापुरुष ही वास्तवमें बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है।

भगवान्ने कहा है—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

(गीता १८ । १०-११)

'हे अर्जुन ! जो मनुष्य अकुशल कर्मसे तो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता, वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित ज्ञानवान् और सच्चा त्यागी है। क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्मोंको त्याग देना शक्य नहीं है; इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही सच्चा त्यागी है, यह कहा जाता है।'

भक्तियोगद्वारा परमेश्वरको प्राप्त हुए महापुरुषमें परमेश्वरकी प्राप्तिके उत्तरकालमें भी सभी मनुष्योंके साथ दया और प्रेमका भाव अधिक व्यक्त हुआ करता है। क्योंकि उसके साधनकालमें ही ईश्वरविषयक

श्रद्धा, भक्ति, प्रेम और शरण आदि भावोंकी बहुलता उसकी स्थितिको बढ़ाकर परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु हुआ करती है; इससे उसका स्वभाव अत्यन्त कोमल हो जाता है और उसे सभी प्राणियोंमें अपने स्वामी आराध्यदेवको विराजमान देखनेका अभ्यास हो जाता है।

उसमें कोमलता, क्षमा और सुहृदता आदि गुणोंकी बहुलता होनेके कारण न्याय प्राप्त होनेपर भी उसके द्वारा किसी जीवको दण्ड दिया जाना कठिन-सा हो जाता है। इस कारण उससे किसी भी जीवको उद्वेग नहीं होता और अन्य जीवोंद्वारा अनुचित कष्ट दिये जानेपर भी वह स्वयं उद्वेगवान् नहीं होता और उनसे वह न्यायपूर्वक भी बदला लेना नहीं चाहता।

भगवान्‌ने भी कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

(गीता १२। १३–१५)

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है।

'तथा जो योगी निरन्तर सन्तुष्ट है, मन, इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है ।

'जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता; तथा जो हर्ष-अमर्ष*, भय और उद्वेगादिसे रहित है वह भक्त मुझको प्रिय है ।'

दया, प्रेम और क्षमा आदि सद्गुणोंसे उसका अन्त:करण प्रभावित हो जानेके कारण, वह अपने साथ बुरा बर्ताव करनेवालेको भी प्रेमपूर्वक उसके हितकी चेष्टाओंद्वारा उसके अन्त:करणमें साधुभाव उत्पन्न करते हुए ही शिक्षा देनेका प्रयत्न किया करता है ।

नीतिकी आवश्यकता पड़नेपर भी साम और दामसे ही काम लेनेका उसका स्वभाव हो जाता है । दण्ड और भेदनीतिका प्रयोग प्राय: उसके द्वारा नहीं हो सकता ।

उसकी प्रत्येक क्रियामें ईश्वरभक्ति, श्रद्धा, स्वार्थत्याग, चतुरता, कोमलता, विनय, प्रेम, दया और चित्तकी प्रसन्नता आदि भाव विशेषरूपसे झलकते रहते हैं । क्योंकि साधनकालमें इन भावोंसे ही उसकी स्थिति बढ़कर उसे परमेश्वरकी प्राप्ति होती है, अत: उसका स्वभाव ही ऐसा बन जाता है ।

ऐसे महापुरुषकी सभी क्रियाएँ भगवान्‌की प्रेरणाके अनुसार समस्त प्राणियोंको अभयदान देते हुए ही हुआ करती हैं ।

दूसरोंका सत्कार करना और उनको मान-बड़ाई देना उसका साधारण स्वभाव हो जाता है । ऐसे महापुरुषके मन और बुद्धि

---

* दूसरेकी उन्नतिको देखकर सन्ताप होनेका नाम 'अमर्ष' यानी ईर्षा है ।

निरन्तर भगवान्में ही समर्पित रहते हैं। अतः उसके जीवनका अधिक समय भगवान्के भजन, ध्यान, गुणानुवाद और सेवा आदिमें ही लगता है।

उसके द्वारा कर्मयोगीकी भाँति व्यावहारिक कर्मोंका विस्तार होना कठिन है। क्योंकि अहर्निश भगवच्चिन्तनका स्वभाव हो जानेके कारण साधनकालमें ही उसकी रुचि लौकिक कर्मोंसे हट-सी जाती है। आवश्यकतानुसार सब कुछ करते हुए भी ऐसे महापुरुषोंकी स्थिति निरन्तर परमेश्वरमें ही रहती है। भगवान्ने कहा भी है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६। ३१)

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।'

ज्ञानयोग (सांख्ययोग) द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषमें ज्ञान, वैराग्य, उपरामता, निरहङ्कारता आदि गुणोंकी प्रधानता होनेके कारण एवं दृश्य संसारमें अनित्यबुद्धि होनेसे, उसके द्वारा शास्त्रविहित लौकिक और धार्मिक कर्मोंका भी विस्तार प्रायः कम होता है।

वर्णाश्रमके अनुसार जीविकानिर्वाह आदिके आवश्यक कर्म भी उसके द्वारा कर्तृत्वाभिमानके बिना होते हुए-से प्रतीत होते हैं। क्योंकि साधनकालमें भी उसका ऐसा ही अभ्यास रहता है कि समस्त कर्म प्रकृतिद्वारा ही किये हुए हैं, इन्द्रियाँ ही अपने-अपने

अर्थोंमें वर्तती हैं, गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, मेरा इन कर्मोंसे, भोगोंसे, शरीरसे और संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। भगवान्‌ने कहा भी है—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(गीता ५ । ८-९)

'हे अर्जुन! तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बर्त रही हैं, इस प्रकार समझकर निःसन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।'

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

(गीता ३ । २८)

'हे महाबाहो! गुणविभाग* और कर्मविभागके† तत्त्वको‡

---

*·† त्रिगुणात्मक मायाके कार्यरूप पाँच महाभूत और मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय, इन सबके समुदायका नाम 'गुणविभाग' है और इनकी परस्परकी चेष्टाओंका नाम 'कर्मविभाग' है।

‡ उपर्युक्त 'गुणविभाग' और 'कर्मविभाग' से आत्माको पृथक् अर्थात् निर्लेप जानना ही इनका तत्त्व जानना है।

जाननेवाला ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता ।'

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥

(गीता १४ । १९)

'हे अर्जुन ! जिस कालमें द्रष्टा अर्थात् समष्टिचेतनमें एकीभावसे स्थित हुआ साक्षी पुरुष तीनों गुणोंके सिवा अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता, अर्थात् गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं*, ऐसा देखता है और तीनों गुणोंसे अति परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस कालमें वह पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ।'

ममता-अहंकारादि विकारोंका अत्यन्त अभाव और परिग्रहका त्याग, एकान्त देशका सेवन, मन-इन्द्रियोंका संयम, सांसारिक मनुष्योंसे, सर्व पदार्थोंसे और कर्मोंसे वैराग्य और उपरामता, निरन्तर विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित रहना उसके मनका स्वाभाविक धर्म-सा हो जाता है; क्योंकि साधनकालमें भी उसने ऐसा ही अभ्यास किया है । भगवान्‌ने भी कहा है—

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥

(गीता १८ । ५२)

'जो एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, मन, वाणी और

---

* त्रिगुणमयी मायासे उत्पन्न हुए अन्तःकरणके सहित इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें विचरना ही गुणोंका गुणोंमें बर्तना है ।

शरीरको वशमें कर लेनेवाला, भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला और निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला है।'

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(गीता १८। ५३)

'वह अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित होनेका पात्र होता है।' इस कारण उसके द्वारा कर्मोंका विस्तार नहीं हो सकता।

इस तरहसे तीनों प्रकारके महापुरुषोंके आचरण परम पवित्र, दिव्य और अलौकिक होते हैं। ऐसे महापुरुषोंके आचरणको ही शास्त्रकारोंने सदाचारके नामसे कहा है और बारम्बार उनका अनुकरण करनेके लिये जोर दिया है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं; वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

राजा युधिष्ठिरने भी यक्षके पूछनेपर ऐसे पुरुषोंको लक्ष्य बनाकर ही कहा था—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥
(महा० वन० ३१३ । ११७)

'धर्मके विषयमें तर्ककी कोई प्रतिष्ठा (स्थिरता) नहीं, श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न तात्पर्यवाली हैं, तथा ऋषि-मुनि भी कोई एक नहीं हुआ है, जिससे उसीके मतको प्रमाणस्वरूप माना जाय, धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा हुआ है अर्थात् धर्मकी गति अत्यन्त गहन है, इसलिये (मेरी समझमें) जिस मार्गसे कोई महापुरुष गया हो, वही मार्ग है अर्थात् ऐसे महापुरुषका अनुकरण करना ही धर्म है ।'

अतः मनुष्यमात्रको उचित है कि ऐसे महापुरुषोंके आचरणको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करनेके लिये अर्थात् अपने जीवनको उन्हींके जैसा बनानेके लिये विशेष प्रयत्न करें ।

प्र०—ज्ञानीके प्रारब्ध कर्म नष्ट होते हैं या नहीं ?

उ०—परमात्माको प्राप्त हुए ज्ञानी पुरुषके वास्तवमें प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण, सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं । कहा भी है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥
(गीता ४ । ३७)

'हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनको भस्ममय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देता है ।'

तथापि व्यावहारिक दृष्टिसे यह माना जाता है कि ज्ञानीके प्रारब्धकर्म रहते हैं, इसीसे उसका शरीर बना रहता है, प्रारब्धकर्म अपना फल भुगताकर ही समाप्त होते हैं इत्यादि । किन्तु कर्मका फल जाति, आयु और भोग बताया गया है । उनमें जन्मरूप फल तो हो ही चुका, आयु समयपर अपने आप खतम हो ही जायगी; रही भोगकी बात, सो सुख-दुःखका भोक्ता प्रकृतिस्थ पुरुषको ही माना गया है (गीता १३ । २१) । शुद्ध आत्मामें भोक्तापन नहीं है । ज्ञानीकी स्थिति परब्रह्म परमात्मामें हो जाती है । अतः उसे सुख-दुःखकी प्राप्ति नहीं बन सकती । सुतरां यही सिद्ध हुआ कि प्रारब्धका भोग केवल लोकदृष्टिसे ही ज्ञानीको होता हुआ-सा प्रतीत होता है, वास्तवमें ज्ञानीका प्रारब्धकर्मसे भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता ।

सुख-दुःखादिकी प्राप्तिके हेतु जो खान-पान, रोग, पीड़ादि हैं, वे सब शरीरमें होते हुए भी ज्ञानीको उसकी स्थितिसे विचलित नहीं कर सकते । वह सदा निर्विकार रहता है, हर्ष-शोकादिसे सर्वथा रहित हो जाता है । श्रुतिमें भी कहा है—'हर्षशोकौ जहाति', (कठ० १ । २ । १२) अर्थात् वह हर्ष और शोकको छोड़ देता है । 'तरति शोकमात्मवित्' (छान्दोग्य० ७ । १ । ३), अर्थात् आत्मवेत्ता शोकसे तर जाता है । वास्तवमें हर्ष-शोकका

होना ही प्रारब्धका फल है, उससे ज्ञानी पार हो जाता है; स्त्री, पुत्र, धन, गृह आदि प्रिय वस्तुओंकी उत्पत्ति और विनाशमें उसको किञ्चिन्मात्र भी हर्ष-शोक नहीं होता। क्योंकि उसने साधनकालमें ही शरीर और स्त्री-पुत्र-गृहादिमें अहंता, ममता और आसक्तिके अभाव तथा समभावका अभ्यास किया है (गीता १३। ९)। हर्ष-शोककी प्राप्तिमें राग-द्वेष, अहंता-ममता आदि दुर्गुण ही कारण हैं। इनके अभावके अभ्याससे साधनकालमें ही हर्ष-शोक आदि विकार प्रायः क्षीण हो जाते हैं, फिर सिद्धावस्थामें तो अहंता-ममता आदिका अत्यन्त अभाव हो जानेसे हर्ष-शोक आदि विकारोंका होना असम्भव ही है।

संसारमें भी यह बात देखी जाती है कि जिन स्त्री-पुत्रोंमें या गृह आदि समस्त पदार्थोंमें हमारा स्नेह और ममत्व नहीं होता, उनके बनने-बिगड़नेमें हमें सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि नहीं होते। इसी तरह ज्ञानीका अपने शरीरमें अहंभाव न रहनेसे और शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले स्त्री, पुत्र, गृह आदिमें ममत्व और स्नेह न रहनेसे किसी अवस्थामें भी हर्ष-शोकका न होना उचित ही है। अतः लोकदृष्टिमात्रसे उनके स्त्री, पुत्र, गृह आदि पदार्थोंका बनना-बिगड़नारूप प्रारब्धकर्मका भोग होते हुए भी न होनेके समान ही है।

ज्ञानीके शरीरद्वारा लोकदृष्टिसे क्रियमाण कर्म होते हुए-से दिखलायी देते हैं; परन्तु अहंकार, स्वार्थ और राग-द्वेषका अभाव होनेके कारण उनके कर्म वास्तवमें कर्म नहीं हैं। कोई-कोई कह दिया करते हैं कि ज्ञानीद्वारा किये हुए क्रियमाण पुण्यकर्मोंका

फल उनकी स्तुति करनेवालोंको और पापकर्मोंका फल उनकी निन्दा करनेवालोंको मिलता है। किन्तु यह कहना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि ज्ञानीद्वारा पापकर्मोंका आचरण होता ही नहीं। साधनावस्थामें ही उसके अंदर राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि दुर्गुणोंका एवं चोरी, जारी, हिंसा, मिथ्याभाषणादि दुराचारोंका प्राय: अभाव हो जाता है; फिर सिद्धावस्थाकी तो बात ही क्या? अविद्या, अहंकार, राग-द्वेष और भय, यही सब पापाचारके कारण हैं। इनका सर्वथा अभाव होनेके बाद पापाचार कैसे हो सकता है। बुद्धिपूर्वक पापकर्म तो ज्ञानीद्वारा हो नहीं सकते और अज्ञात हिंसादिका पाप लगता नहीं। इनके सिवा जो शास्त्रविहित स्वाभाविक कर्मोंमें हिंसादि पापकर्म होते हुए दिखलायी देते हैं वे भी वास्तवमें अहंकार और राग-द्वेषरहित होनेके कारण पापकर्म नहीं हैं। कहा भी है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

'हे अर्जुन! जिस पुरुषके अन्त:करणमें 'मैं कर्ता हूँ', ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और सम्पूर्ण कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है।'*

---

* जैसे अग्नि, वायु और जलके द्वारा प्रारब्धवश किसी प्राणीकी हिंसा होती देखनेमें आवे, तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है; वैसे ही जिस पुरुषका देहमें अभिमान नहीं है और जिसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ

ऐसे पुरुषके द्वारा शास्त्रविहित पुण्यकर्म केवल लोकसंग्रहार्थ होते हैं। वे कर्म भी फलेच्छा, आसक्ति या अहंकारपूर्वक नहीं किये जाते, तब वे दूसरे किसीको भी फलदायक कैसे हो सकते हैं? उनका तो यही प्रत्यक्ष फल है कि जो कोई उनके आचरणोंपर श्रद्धा करके उनका अनुकरण करने लग जाता है वह अपने जीवनका सुधार कर लेता है। अश्रद्धालु उनके कर्मोंसे विशेष लाभ नहीं उठा सकते।

उनकी निन्दा या स्तुति करनेवालोंको पाप-पुण्य अवश्य होता है; पर वह ज्ञानीके कर्मोंका फल नहीं है, उन्हींकी क्रियाका फल उन्हें मिलता है। साधारण मनुष्यकी निन्दा करनेसे भी पाप होता है; पर ज्ञानी, शास्त्र और ईश्वरकी निन्दाका पाप अधिक होता है। क्योंकि उनकी निन्दासे लोगोंकी विशेष हानि होती है। सञ्चित कर्म तो ज्ञानीके सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, प्रारब्ध कर्मोंका फल दूसरोंको मिल नहीं सकता और क्रियमाण कर्म भुने हुए बीजकी भाँति फल उत्पन्न करनेकी शक्तिसे रहित होते हैं। अतः ज्ञानीके पुण्य-पापोंका सर्वथा अभाव होते हुए ज्ञानीके कर्मोंका फल निन्दा-स्तुति करनेवालोंको मिलनेका प्रसंग ही कैसे आ सकता है।

स्वार्थरहित तथा केवल संसारके हितके लिये ही होती हैं, उस पुरुषके शरीर और इन्द्रियोंद्वारा यदि किसी प्राणीकी हिंसा होती हुई लोकदृष्टिमें देखी जाय, तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है। क्योंकि आसक्ति, स्वार्थ और अहंकारके न होनेसे किसी प्राणीकी हिंसा हो ही नहीं सकती तथा विना कर्तृत्व-अभिमानके किया हुआ कर्म वास्तवमें अकर्म ही है, इसलिये वह पुरुष पापसे नहीं बँधता।

कोई-कोई विद्वान् ज्ञान होनेके अनन्तर भी प्रारब्धकर्मके आधारपर लेशाविद्याका आश्रय लेकर राग-द्वेष, काम-क्रोधादिको अन्तःकरणका धर्म मानकर झूठ, चोरी, व्यभिचारादि दुराचरणोंका भी उस ज्ञानीके द्वारा होना मानते हैं । किन्तु वस्तुतः ज्ञानोत्तर-कालमें जीवन्मुक्त पुरुषके अन्दर सर्व कर्मोंका सर्वथा अभाव बतलाया गया है (गीता ४ । ३७); उसका देह अज्ञानियोंकी दृष्टिमें प्रारब्धभोगके लिये रहता है । जो तत्त्ववेत्ता पुरुष हैं उनकी दृष्टिमें तो एक नित्य विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त शरीर और संसारका सर्वथा अभाव है; फिर वहाँ लेशमात्र भी अविद्या (अज्ञान) को गुंजाइश कहाँ है ? यदि लेशमात्र भी अविद्या (अज्ञान) माना जाय तो इस लेशाविद्याका धर्मी किसको माना जायगा ? जैसे सूर्योदयके उत्तरकालमें रात्रिका लेशमात्र भी रहना सम्भव नहीं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी सूर्यके उदय होनेपर, अज्ञानका लेशमात्र भी रहना सम्भव नहीं । अतएव उन ज्ञानी महात्माओंमें लेशमात्र भी अविद्याका मानना भूल है ।

वे लोग यह भी कहते हैं कि 'प्रारब्धवश ज्ञानीद्वारा भी चोरी, परस्त्रीगमनादि पापकर्म हो सकते हैं । क्योंकि काम-क्रोधादि अवगुण अन्तःकरणके धर्म होनेके कारण जबतक शरीर रहेगा तबतक ये रहेंगे ही, साक्षीका इनसे कुछ सम्बन्ध नहीं है; अतः प्रारब्धकर्म अपना भोग देनेके लिये ज्ञानीको भी बलात् पापकर्मोंमें प्रवृत्त कर देते हैं, पर इतने मात्रसे उनका तत्त्वज्ञान नष्ट नहीं हो जाता' इत्यादि । तथा अपने मतकी पुष्टिके लिये वे यह भी कहते हैं कि 'कुपथ्यसेवी, राजाकी स्त्रीसे प्रेम रखनेवाला और चोरी करनेवाला,

ये तीनों भविष्यमें दण्ड मिलना जानते हुए भी, प्रारब्धभोगके वशमें होकर स्वेच्छासे कुपथ्यसेवन, चोरी और परस्त्रीगमनादि पापकर्म करते हैं।' पर यह कहना न तो शास्त्रसम्मत है और न युक्तियुक्त ही है।

किसी पापकर्मका फल भोगनेके लिये पुनः पापकर्म करना पड़ेगा, इस कथनको शास्त्रसम्मत माननेसे पापकर्मोंकी अनवस्थाका दोष आवेगा; ऐसी व्यवस्था करनेवालेमें भी मूर्खता और निर्दयताका दोष आवेगा; 'धर्मका आचरण करो, सत्य बोलो, पाप मत करो' इत्यादि शास्त्रोक्त विधि-निषेधबोधक वचन व्यर्थ होंगे और शास्त्रोंमें पापकर्मका फल दुःख बतलानेवाले जो वचन मिलते हैं, उन वचनोंमें विरोध आवेगा। अतः चोरी, व्यभिचार आदि पापकर्मोंका फल दुःखभोग होना शास्त्रसम्मत है, न कि पुनः पाप करना। यदि पापकर्म प्रारब्धका फल हो तो उस पापका फल दुःख कैसे होगा। और उससे बचनेके लिये शास्त्रोंमें प्रेरणा क्यों की जायगी।

साधारण न्यायकर्ता राजा भी ऐसा कानून नहीं बनाता कि अमुक पापकर्म करनेवालेको उसके फलस्वरूप पुनः पापकर्म करना पड़ेगा, बल्कि लोगोंको पापकर्मसे रोकनेके लिये ऐसा कानून बनाता है कि अमुक आज्ञाका पालन नहीं करनेसे यह दण्ड मिलेगा। और जो कोई उसकी आज्ञाके विरुद्ध चलता है उसको राजा दण्ड देता भी है, ताकि दूसरे उसे देखकर सावधान हो जायँ और आज्ञाका पालन करें। फिर परम दयालु सर्वशक्तिमान् ईश्वरद्वारा ऐसा कानून कैसे बनाया जा सकता है कि अमुक निषिद्ध कर्मका फल भोगनेके लिये अमुक निषिद्ध कर्म करना पड़ेगा।

गीता ३ । ३३ में जो यह लिखा गया है कि ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, वहाँ प्रकृति उसके स्वभावका नाम है । उसका स्वभाव साधनकालमें ही शुद्ध हो जाता है, अतः उसकी चेष्टा पापरूप नहीं होती । उसके द्वारा स्वेच्छा-पूर्वक प्रारब्धभोगके लिये जो कुछ चेष्टा होती है, सभी न्याययुक्त होती है । और लोकहितार्थ जो क्रियमाण कर्मोंकी चेष्टा होती है, वह भी न्याययुक्त ही होती है । ज्ञानियोंके लोकदृष्टिसे अवशिष्ट प्रारब्ध-भोग भिन्न-भिन्न रहते हैं, एवं साधनकालमें भिन्न-भिन्न ही अभ्यास होता है । इस उद्देश्यको लेकर यह कहा गया है कि सब ज्ञानियों-की चेष्टा एक-सी नहीं होती, अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार होती है । अभिप्राय यह है कि सभी मनुष्योंको अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्म करने पड़ते हैं, बिना कर्म किये कोई रह नहीं सकता, इसके लिये हठ करना व्यर्थ है । मनुष्यको उचित है कि प्रत्येक इन्द्रियके भोगमें जो राग और द्वेषरूप शत्रु छिपे हुए हैं, जो पापकर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाले हैं, उनके वशमें न हो और धर्मपालनमें डटा रहे । यदि भगवान्‌का यहाँ यह सिद्धान्त मान लिया जाय कि प्रारब्धवश मनुष्यको पापकर्म करने पड़ते हैं, तब तो राग-द्वेषके वशमें न होने और धर्मपालनके लिये तत्पर होनेके लिये जो अगले श्लोकोंमें जोर दिया गया है उन श्लोकोंकी कोई संगति ही न बैठेगी और भगवान्‌का महत्त्वपूर्ण उपदेश व्यर्थ हो जायगा । अतः गीताके श्लोकका ऐसा उलटा अर्थ समझाना लोगोंको भ्रममें डालना है । अवश्यम्भावीका प्रतीकार नहीं हो सकता, उसे कोई टाल नहीं सकता, यह कहना सर्वथा सत्य है; परन्तु प्रारब्धकर्मके

भोगरूप सुख-दु:खादिकी प्राप्तिके लिये फिर नया पापकर्म स्वेच्छा-पूर्वक अवश्य करना पड़े, ऐसा अवश्यम्भावी नहीं हो सकता, क्योंकि यह न्यायसंगत नहीं है । यदि धनप्राप्तिके लिये चोरी करनी पड़ेगी या स्त्रीसुखभोगके लिये परस्त्रीगमन करना पड़ेगा या राजदण्ड पानेके लिये चोरी-व्यभिचार आदि पापकर्म करना पड़ेगा—ऐसा अवश्यम्भावी प्रारब्ध होता तो शास्त्रोंमें न्यायपूर्वक धन प्राप्त करनेकी, स्त्रीसुखभोगके लिये विवाहादिकी, रोगादिसे बचनेके लिये औषध और पथ्यकी, चोरी, व्यभिचार आदि पापकर्मोंसे बचनेके लिये ~~क्यों कहा जाता तथा~~ राजदण्ड आदिकी व्यवस्था ही क्यों की जाती ?

प्रत्यक्षमें भी देखा जाता है कि साधनद्वारा जो मनुष्य अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें कर लेता है एवं राग-द्वेष और काम-क्रोधादि शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेता है, उसकी भी प्राय: पापाचारमें प्रवृत्ति नहीं होती, और साधनहीन मनुष्य काम-क्रोधसे प्रेरित होकर पापाचार करते हैं । इसके सिवा उपर्युक्त सिद्धान्त माननेसे किसी स्त्रीसे पुरुषका परस्पर संयोग परस्त्रीगमनरूप पाप-कर्मके द्वारा होना या किसी पुरुषका स्वस्त्रीव्रती होना स्वाधीन नहीं हो सकेगा, पापकर्मोंके करनेमें और धर्मके त्यागमें भी प्रारब्धको कारण मानना होगा, जो कि सर्वथा न्यायविरुद्ध है ।

धनकी प्राप्ति या रतिभोगकी प्राप्ति आदि सुखभोगके निमित्त अवश्यम्भावी बनाये जाते हैं, ऐसा माननेसे कोई राजा या धनी वैराग्य होनेपर भी गृहस्थका त्याग न कर सके, ऐसा न्याय प्राप्त

होगा। इससे 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' (जाबाल० ४) अर्थात् 'जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो उसी दिन गृहस्थको छोड़कर संन्यास ग्रहण करना चाहिये' इस प्रकार कहनेवाली श्रुतियाँ व्यर्थ हो जायँगी। तथा आश्रमका परिवर्तन और मुक्तिका होना भी प्रारब्धहीपर निर्भर हो जायगा जो सर्वथा अयुक्त है अतः यही सिद्ध होता है कि शुभ कर्मोंका फल जो प्रारब्धफलरूप सुखभोग है उसका त्याग करनेमें मनुष्य सदा ही स्वतन्त्र है। 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' (कैवल्य० १। २)—त्यागसे ही मुक्तिका होना शास्त्र बतलाता है, अगर त्यागमें यह स्वतन्त्रता न होगी तो मुक्ति कैसे होगी।

हाँ, यह बात अवश्य है कि पापकर्मका फल जो दुःखभोग है, उसका त्याग करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है। परन्तु प्रारब्धरूप पापकर्मका फल भोगनेके लिये नया पापकर्म करना पड़े, यह मानना न्यायसंगत नहीं है। क्योंकि ऐसा माननेसे होनेवाला दुःखरूप फल कौन-से पापकर्मका फल है, यह निर्णय होना भी मुश्किल हो जायगा और पापकर्मोंमें अनवस्थाका दोष आवेगा। संसारमें भी देखा जाता है कि कोई राजा चोरी, जारी आदि बुरे कर्मोंका फल यह नहीं देता कि ऐसा करनेवाला राजाज्ञाके विरुद्ध कर्म फिर करे, बल्कि फिर कभी वह राजाज्ञाका उल्लंघन न करे इसके लिये उसे दण्ड देता है।

प्र०—तब स्वेच्छापूर्वक प्रारब्धकर्मका फलभोग किस प्रकार होता है?

उ०—स्वेच्छासे न्याययुक्त चेष्टा करते हुए जो उसका परिणाम-स्वरूप सुखभोग होता है, वह प्रारब्धरूप पुण्यकर्मका फल है और जो दुःखभोग होता है वह प्रारब्धरूप पापकर्मका फल है । जैसे अपनी धर्मपत्नीके साथ न्यायपूर्वक रतिसुखभोग, स्ववर्णोचित न्याय-युक्त वृत्तिद्वारा धनलाभ होना, उससे न्यायपूर्वक भोगोंका भोगना, न्यायपूर्वक चेष्टासे पुत्रादिका उत्पन्न होना एवं न्यायपूर्वक व्यवहार करते हुए भी धनादिकी हानि, अपने या स्त्री-पुत्रादिके शरीरमें बीमारी होनेपर न्याययुक्त उपाय करते हुए भी आराम न होना बल्कि उलटा परिणाम हो जाना इत्यादि अनेक प्रकारसे स्वेच्छापूर्वक प्रारब्धकर्मका फलभोग होता है ।

इसलिये प्रारब्धकर्मका फल भोगनेके लिये पापकर्म करना अवश्यम्भावी नहीं है, चेष्टा करनेसे मनुष्य पापोंसे बच सकता है । ऐसा होते हुए भी जो लोग धनोपार्जन या स्त्रीभोगादिके लोभसे पापाचरण करते हैं, वे राग-द्वेषादि अवगुणोंके वशीभूत होकर भारी भूल करते हैं । सुखभोगके अनुसार उनके पुण्यका क्षय होगा और पापकर्मका फल आगे जाकर अवश्य भोगना पड़ेगा और अन्यायाचारकी चेष्टा करनेसे भी विना प्रारब्धके सुख नहीं मिलेगा । यह सोचकर भी मनुष्यको उचित है कि भोगोंके लोभसे पापाचरण न करे ।

इसके सिवा उन विद्वानोंका यह भी कहना है कि अनिच्छा-पूर्वक प्रारब्धभोगके लिये भी मनुष्यको अपनी इच्छा न रहते हुए भी पापाचार करना पड़ता है; इसकी पुष्टिमें वे गीताके इन श्लोकोंका प्रमाण देते हैं—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥
(३। ३६)

'हे कृष्ण! यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?'

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
(गीता ३। ३७)

(इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण महाराज बोले—) 'हे अर्जुन! रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान।'

किन्तु ऐसा सिद्धान्त मानकर गीताद्वारा उसका समर्थन करना गीताका दुरुपयोग करना और लोगोंको भ्रममें डालना है, क्योंकि यहाँ अर्जुनका प्रश्न अनिच्छाप्रारब्धभोगके विषयमें नहीं है, क्रियमाण पापकर्मके विषयमें है। अर्जुनके प्रश्नका भाव यह है कि भगवान् मनुष्यसे पापकर्म कराना नहीं चाहते, फिर भी उसके द्वारा पापकर्म होते हैं, मानो कोई जबरन् उनसे ऐसा कराता है, तो इसमें कारण क्या है?

उसके उत्तरमें भगवान् नवीन क्रियमाण पापकर्मोंके होनेमें न तो ईश्वरको कारण बताते हैं और न प्रारब्धको ही कारण मानते हैं। वे तो स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि 'हे अर्जुन! काम

और उसीका दूसरा रूप क्रोध, जो मनुष्यके ज्ञान और विज्ञानके नाशक प्रबल शत्रु तथा नरकके द्वाररूप हैं, यही नवीन पापकर्ममें हेतु हैं। अतः इन्द्रियोंको वशमें करके तू इनका नाश कर।'

यदि काम-क्रोध भी प्रारब्धके ही परिणाम होते तो भगवान् उन्हें नाश करनेकी बात कैसे कहते? क्योंकिप्रारब्ध तो अवश्यम्भावी है। अतः यह प्रसंग अनिच्छाप्रारब्धभोगविषयक नहीं है, क्रियमाण-कर्मविषयक है। उसका दुरुपयोग करना लोगोंको भ्रममें डालना है।

प्र०—तब फिर अनिच्छासे प्रारब्धकर्मका भोग कैसे हो सकता है?

उ०—अनिच्छासे यानी किसी दैवी घटनासे, अपने आप, अपनी या दूसरेकी इच्छाके विना ही जो सुख और दुःखोंका भोग होता है वह अनिच्छापूर्वक प्रारब्धभोग है; जैसे बिजली गिरनेसे लोग मर जाते हैं, धन और मकानकी हानि हो जाती है। इसी प्रकार जलकी बाढ़से, भूकम्पसे, रोगसे या अन्य किन्हीं कारणोंसे शरीर, धन, स्त्री, पुत्र आदिका वियोग हो जाना, अथवा धनादि सुखभोगोंका प्राप्त हो जाना इत्यादि अनेक भोग हुआ करते हैं। ये सभी अनिच्छापूर्वक प्रारब्धभोग हैं। इनमें अन्यथा कल्पना करके उनमें पापाचारका समावेश कर देना लोगोंको धोखेमें डालना है।

प्र०—तो परेच्छापूर्वक प्रारब्धभोगका क्या स्वरूप है?

उ०—इसी तरह दूसरोंकी इच्छा और प्रयत्नसे जो मनुष्यको सुख और दुःखोंका भोग प्राप्त होता है, वह परेच्छापूर्वक प्रारब्ध-कर्मका भोग है; जैसे चोर, डाकू आदिके द्वारा धनहरण, मृत्यु या स्त्री-पुत्रादिका नाश या अन्य किसी प्रकारकी हानिका होना, इत्यादि।

यदि किसीको दत्तक पुत्र बना लेनेके नाते कोई धन देता है, तो ऐसे पुत्रको उस धनका मिलना; कोई स्त्री न्यायपूर्वक किसीको अपना पति बनाती है, तो ऐसे पतिको स्त्रीका मिलना; कोई अपने जामाता या बेटी आदिको जो धन देते हैं, ऐसी हालत-में उन जामाता, बेटी आदिको धनका मिलना—ये सब परेच्छा-पूर्वक प्रारब्धभोगके उदाहरण हैं।

अतः स्वेच्छा, अनिच्छा और परेच्छापूर्वक प्रारब्धकर्मफलभोगकी अन्यथा कल्पना करके प्रारब्धकर्मका फल भोगनेके लिये पापकर्मोंका अवश्यम्भावी होना मानना या ज्ञान होनेके उपरान्त भी ज्ञानीके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, काम-क्रोधादि अवगुणोंका होना स्वीकार करना सर्वथा शास्त्रविरुद्ध, न्यायविरुद्ध और भ्रमपूर्ण है।

मनका धर्म मनन करना और बुद्धिका धर्म निश्चय करना होते हुए भी इस रहस्यको न जाननेके कारण ही काम-क्रोध, राग-द्वेष, सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंको लोग अन्तःकरणके धर्म बतलाते हैं। किन्तु ये अन्तःकरणके धर्म नहीं, विकार हैं। भगवान्‌ने भी इनको गीतामें विकार ही माना है—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥
(१३ । ६)

'इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और स्थूल देहका पिण्ड एवं चेतनता* और धृति, इस प्रकार यह क्षेत्र विकारोंके सहित† संक्षेपसे कहा गया ।'

इनको अन्तःकरणके धर्म माननेसे, जबतक अन्तःकरण रहेगा तबतक इनका नाश नहीं होगा और विकार माननेसे नाश हो सकता है । तत्त्ववेत्ता पुरुषोंमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदिका अत्यन्त अभाव बतलाया है, इसलिये भी ये विकार ही सिद्ध होते हैं ।

ज्ञानोत्तरकालमें ज्ञानीके मन-बुद्धि भी भुने हुए बीजके समान रह जाते हैं । फिर भला, उनमें काम-क्रोधादि विकारोंके लिये गुंजाइश कहाँ ? काम-क्रोधादि तो आसुरी सम्पदावालोंमें होते हैं और वे नरकके द्वार माने गये हैं (गीता १६ । २१); ये आत्माके पतन करनेवाले हैं । इसीलिये कल्याणकामी मनुष्यको इनसे मुक्त होनेके लिये भगवान् कहते हैं और सिद्धमें तो ये हो ही नहीं सकते ।

भगवान्ने कहा है—

---

* शरीर और अन्तःकरणकी एक प्रकारकी चेतनशक्ति ।

† पाँचवें श्लोकमें कहा हुआ तो क्षेत्रका स्वरूप समझना चाहिये और इस श्लोकमें कहे हुए इच्छादि क्षेत्रके विकार समझने चाहिये ।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

(गीता ५ । २६)

'काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं ।'

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥

(गीता १५ । ५)

'जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्ति-रूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं—वे सुख-दुःखनामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ।'



भगवत्प्राप्तिके कुछ साधन

मनुष्यजन्म सबसे उत्तम एवं अत्यन्त दुर्लभ और भगवान्‌की विशेष कृपाका फल है। ऐसे अमूल्य जीवनको पाकर जो मनुष्य आलस्य, भोग, प्रमाद और दुराचारमें अपना समय बिता देता है वह महान् मूढ़ है। उसको घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

छः घंटेसे अधिक सोना एवं भजन, ध्यान, सत्संग आदि शुभ कर्मोंमें ऊँघना आलस्य है।

करनेयोग्य कार्यकी अवहेलना करना एवं इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरसे व्यर्थ चेष्टा करना प्रमाद है। शौक, स्वाद और आरामकी बुद्धिसे इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करना भोग है।

झूठ, कपट, हिंसा, चोरी, जारी आदि शास्त्रविपरीत आचरणोंका नाम दुराचार (पाप) है।

अपने हितकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको इन सब दोषोंको मृत्युके समान समझकर सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

क्लेश, कर्म और सारे दुःखोंसे मुक्ति, अपार, अक्षय और सच्चे सुखकी प्राप्ति एवं पूर्ण ज्ञानका हेतु होनेके कारण यह मनुष्य-शरीर चौरासी लाख योनियोंमें सबसे बढ़कर है। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य,

सदाचार, मुक्ति और शिक्षाकी प्रणाली सदासे बतलानेवाली होनेके कारण यह भारतभूमि सर्वोत्तम है। सारे मत-मतान्तरोंका उद्गमस्थान, विद्या, शिक्षा और सभ्यताका जन्मदाता तथा स्वार्थत्याग, ईश्वरभक्ति, ज्ञान, क्षमा, दया आदि गुणोंका भण्डार, सत्य, तप, दान और परोपकार आदि सदाचारका सागर और सारे मत-मतान्तरोंका आदि और नित्य होनेके कारण वैदिक सनातनधर्म सर्वोत्तम धर्म है।

केवल भगवान्‌के भजन और कीर्तनसे ही अल्पकालमें सहज ही कल्याण करनेवाला होनेके कारण कलियुग सर्व युगोंमें उत्तम युग है। ऐसे कलिकालमें सर्व वर्ण, आश्रम और जीवोंका पालन-पोषण करनेवाला होनेके कारण सर्व आश्रमोंमें गृहस्थाश्रम उत्तम है। यह सब कुछ प्राप्त होनेपर भी जिसने अपना आत्मोद्धार नहीं किया वह महान् पामर एवं मनुष्यरूपमें पशुके समान ही है। उपर्युक्त सारे संयोग ईश्वरकी अहैतुकी और अपार दयासे ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि जीवोंकी संख्याके अनुसार यदि बारीका हिसाब लगाकर देखा जाय तो इस जीवको पुनः मनुष्यका शरीर लाखों, करोड़ों वर्षोंके बाद भी शायद ही मिले। वर्तमानमें मनुष्योंके आचरणोंकी ओर ध्यान देकर देखा जाय तो भी ऐसी ही बात प्रतीत होती है। प्रथम तो मनुष्यका शरीर ही मिलना कठिन है और यदि वह मिल जाय तो भी भारत-भूमिमें जन्म होना, कलियुगमें होना तथा वैदिक सनातनधर्म प्राप्त होना दुर्लभ है। इससे भी दुर्लभतर शास्त्रोंके तत्त्व और रहस्यके बतलानेवाले पुरुषोंका संग है। इसलिये जिन पुरुषोंको उपर्युक्त संयोग प्राप्त हो गये हैं वे यदि परम शान्ति और परम आनन्ददायक

परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहें तो इससे बढ़कर उनकी मूढ़ता क्या होगी।

ऐसे क्षणिक, अल्पायु, अनित्य और दुर्लभ शरीरको पाकर जो अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताते, जिनका तन, मन, धन, जन और सारा समय केवल सब लोगोंके कल्याणके लिये ही व्यतीत होता है वे ही जन धन्य हैं। वे देवताओंके लिये भी पूजनीय हैं। उन्हीं बुद्धिमानोंका जन्म सफल और धन्य है।

प्रथम तो जीवन है ही अल्प और जितना है वह भी अनिश्चित है। न मालूम मृत्यु कब आकर हमें मार दे। यदि आज ही मृत्यु आ जाय तो हमारे पास क्या साधन है जिससे हम उसका प्रतीकार कर सकें। यदि नहीं कर सकते तो हम तो अनाथकी तरह मारे जायँगे। इसलिये जबतक देहमें प्राण हैं और मृत्यु दूर है तबतक हमलोगोंको अपना समय ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगाना चाहिये। शरीर और कुटुम्बका पोषण एवं धनका संग्रह भी यदि सबके मंगलके कार्यमें लगे तभी करना चाहिये; यदि ये सब चीज हमें सच्चे सुखकी प्राप्तिमें सहायता नहीं पहुँचातीं तो इनका संग्रह करना मूर्खता नहीं तो और क्या है? देहपातके बाद धन, सम्पत्ति, कुटुम्बकी तो बात ही क्या, हमारी इस सुन्दर देहसे भी हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा और हम अपने देह और सम्पत्ति आदिको अपने उद्देश्यके अनुसार अपने और संसारके कल्याणके काममें नहीं लगा सकेंगे। सम्पत्ति तो यहाँ ही रह जायगी और देहकी मिट्टी या राख हो जायगी, अतः वह किसी भी काममें नहीं आवेगी।

सब बातें सोचकर हमको अपनी सब वस्तुएँ ऐसे काममें लगानी चाहिये जिससे हमें पश्चात्ताप न करना पड़े। परम शान्ति, परम आनन्द और परम प्रेमरूप परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें ही इस जीवनको बितानेकी तत्परताके साथ प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

उस परमात्माकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें अनेक साधन बतलाये गये हैं। उनमेंसे किसी भी एक साधनको यदि मनुष्य स्वार्थ त्याग कर निष्कामभावसे करे तो सहजमें और शीघ्र ही सफलता मिल सकती है। उन साधनोंमेंसे कुछका वर्णन किया जाता है—

(१) सांख्ययोग

इसके कई प्रकार हैं—

(क) एकान्त और पवित्र स्थानमें सुखपूर्वक स्थिर, सम एवं अपने अनुकूल आसनसे बैठकर भोग, आराम और जीवनकी सम्पूर्ण इच्छाओं एवं वासनाओंको छोड़कर मनके द्वारा इन्द्रियोंको वशमें करके बाहरके सारे विषयभोगों तथा अन्य पदार्थोंसे इन्द्रियोंको हटाना चाहिये। तदनन्तर मनके द्वारा होनेवाले विषयचिन्तनका भी विवेक और विचारके द्वारा परित्याग कर देना चाहिये। इसके पश्चात् धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके ध्यानमें लगाना चाहिये अर्थात् केवल एक नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपका ही चिन्तन करना चाहिये। उसके सिवा अन्य किसीका भी चिन्तन नहीं करना चाहिये अर्थात् शरीर और संसारको इस प्रकार एकदम भुला देना चाहिये कि पुनः इसकी स्मृति हो ही नहीं। यदि पूर्वाभ्यासवश हो जाय तो पुनः उसे विस्मरण कर देना चाहिये।

इस प्रकार करते-करते जब बहुत कालतक चित्तकी वृत्ति उस परमात्माके स्वरूपमें ठहर जाती है अर्थात् मनमें कोई भी संसारकी स्फुरणा नहीं होती तो उसके सम्पूर्ण पापोंका नाश होकर सुखपूर्वक सहजमें ही नित्य और अतिशय सर्वोत्तम परम आनन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति सदाके लिये हो जाती है । जैसे घड़ेके फूटनेसे घटाकाश और महाकाशकी एकता हो जाती है, यद्यपि घटाकाश और महाकाशकी वस्तुसे नित्य एकता है, केवल घड़ेकी उपाधिसे ही भेद प्रतीत होता है, घड़ेके फूटनेसे प्रतीत होनेवाले भेदका भी सदाके लिये अत्यन्त अभाव हो जाता है, ऐसे ही अज्ञानके कारण संसारके सम्बन्धसे जीवात्मा और परमात्माका भेद प्रतीत होता है । विवेक और विचारके द्वारा संसारके चिन्तनको छोड़कर परमात्माके चिन्तनके अभ्याससे मन और बुद्धिकी वृत्तियाँ परमात्माके स्वरूपमें तन्मय होकर तत्त्वज्ञानद्वारा अज्ञानके कारण प्रतीत होनेवाले जीव और ईश्वरके भेदका सदाके लिये अत्यन्त अभाव हो जाता है अर्थात् साधकको उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपकी अभेदरूपसे यानी एकीभावसे सदाके लिये प्राप्ति हो जाती है ।

परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद व्युत्थान अवस्थामें भी अर्थात् समाधिसे उठनेके बाद भी यह संसार उस योगीके अन्तःकरणमें निद्रासे जागृत हुए पुरुषको स्वप्नके संसारकी भाँति सत्तारहित प्रतीत होता है, अर्थात् एक विज्ञानानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य सत्ता वहाँ नहीं रहती ।

(ख) संसारमें जो कुछ भी क्रिया हो रही है, वह

गुणोंके द्वारा ही हो रही है, अर्थात् इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं; ऐसा समझकर साधक अपनेको सब प्रकारकी क्रियासे अलग, उन सब क्रियाओंका द्रष्टा समझे। अभी हम लोगोंने इस साढ़े तीन हाथके स्थूल शरीरके साथ अपना तादात्म्य कर रखा है अर्थात् इस शरीरको ही हम अपना स्वरूप समझे हुए हैं। किन्तु इस शरीरसे परे पृथ्वी है, पृथ्वीके परे जल है, जलके परे तेज है, तेजके परे वायु है, वायुके परे आकाश है, आकाशके परे मन है, मनके परे बुद्धि है, बुद्धिके परे समष्टिबुद्धि अर्थात् महत्तत्त्व है। समष्टिबुद्धिके परे अव्याकृत माया है और उसके परे सच्चिदानन्दघन परमात्मा है। मायापर्यन्त यह सब दृश्यवर्ग द्रष्टारूप परमात्माके आधारपर स्थित है, जो इन सबके परे है। उस परमात्मामें एकीभावसे स्थित होकर समष्टिबुद्धिके द्वारा इस सारे दृश्यवर्गको अपने उस अनन्त निराकार चेतन स्वरूपके अन्तर्गत उसीके संकल्पके आधार, क्षणभङ्गुर देखे। इस प्रकारका निरन्तर अभ्यास करनेसे संसारका सारा व्यवहार करते हुए भी उसको एकीभावसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् सबका अभाव होकर केवल एक विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही शेष रह जाता है। भगवान्-ने भी गीतामें कहा है—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(१४।१९)

हे अर्जुन! जिस कालमें द्रष्टा अर्थात् समष्टि चेतनमें एकीभाव-से स्थित हुआ साक्षी पुरुष तीनों गुणोंके सिवा अन्य किसीको

कर्त्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं ऐसा देखता है और तीनों गुणोंसे अति परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है उस कालमें वह पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ।

(ग) साधक अपने तथा सम्पूर्ण चराचर जगत्के बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे सब ओर एक सर्वव्यापक विज्ञानानन्दघन परमात्माको ही परिपूर्ण देखे और अपने शरीरसहित इस सारे दृश्य-प्रपञ्चको भी परमात्माका ही स्वरूप समझे । जैसे आकाशमें स्थित बादलोंके ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर सब ओर एकमात्र आकाश ही परिपूर्ण हो रहा है और स्वयं बादल भी आकाशसे भिन्न नहीं हैं, क्योंकि आकाशसे वायु, वायुसे तेज और तेजसे जलकी उत्पत्ति होनेसे जलरूप मेघ भी आकाश ही हैं । इसी प्रकार साधक अपने-सहित इस सारे ब्रह्माण्डको सब ओर एकमात्र परमात्मासे ही घिरा हुआ एवं परमात्माका ही स्वरूप समझे । वह परमात्मा ही सबकी आत्मा होनेके कारण निकट-से-निकट एवं दूर-से-दूर है । इस प्रकारका निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे केवल एक विज्ञानानन्दघन परमात्माकी ही सत्ता रह जाती है और साधक उस परमात्माको एकीभावसे प्राप्त हो जाता है । गीता कहती है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥

(१३ । १५)

वह परमात्मा चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और

चर-अचररूप भी वही है और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और दूरमें भी स्थित वही है।

(घ) सम, अनन्त, नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके साथ साधक अपनेको अभिन्न समझकर अर्थात् स्वयं उस परमात्माका स्वरूप बनकर सारे भूतप्राणियोंको अपने संकल्पके आधार एवं अपनेको उन भूतप्राणियोंके अंदर आत्मरूपसे व्याप्त देखे यानी अपनेको सबका आत्मा समझे। जैसे आकाश वायु, तेज, जल और पृथ्वी—इन चारों भूतोंका आधार एवं कारण होनेसे ये सब भूत आकाशमें ही स्थित हैं और इन सबमें आत्मरूपसे अनुस्यूत होनेके कारण आकाश इन सबके अंदर भी है, अथवा जैसे स्वप्नका जगत् स्वप्न देखनेवालेके संकल्पके आधार है और वह स्वयं इस जगत्में तद्रूप होकर समाया हुआ है; उसी प्रकार साधक भी चराचर विश्वको अपने संकल्पके आधार और अपनेको उस विश्वके अंदर आत्मरूपसे देखे। ऐसा अभ्यास करनेपर भी साधकको उस नित्यविज्ञानानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(६। २९)

'हे अर्जुन! सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है।' अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगा हुआ

पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है, वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है ।

(ङ) पवित्र और एकान्त स्थानमें सम, स्थिर और सुखपूर्वक आसनसे बैठकर पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द—इन शब्दोंके भावका पुनः-पुनः मनके द्वारा मनन करे । इस प्रकार करते-करते मन तद्रूप बन जाता है । तब इन विशेषणोंसे विशिष्ट परमात्माके स्वरूपका निश्चय होकर बुद्धिके द्वारा उसका ध्यान होने लगता है । इस प्रकार ध्यान करते-करते बुद्धि परमात्माकी तद्रूपताको प्राप्त होकर सविकल्प समाधिमें स्थित हो जाती है, जिसमें उस सच्चिदानन्द परमात्माके शब्द, अर्थ और ज्ञानका ही विकल्प रह जाता है, अर्थात् परमात्माके नाम और रूपका ही वहाँ ज्ञान रहता है । इस प्रकार उस साधककी परमात्माके स्वरूपमें दृढ़ निष्ठा होकर फिर उसकी निर्विकल्प स्थिति हो जाती है, जिसमें केवल अर्थमात्र एक नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माका ही स्वरूप रह जाता है और वह साधक उस परमात्माके परायण हो जाता है अर्थात् परमात्मामें मिल जाता है । उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेवाला पुरुष पापरहित हुआ परमात्माके तत्त्वको जानकर परमगति अर्थात् परमात्माके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ।

(२) कर्मयोग

(क) सब कुछ भगवान्‌का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें

समत्वभाव रखते हुए आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग करके भगवदाज्ञानुसार केवल भगवान्‌के ही लिये शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करनेसे तथा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरसे सब प्रकार भगवान्‌की शरण होकर नाम, गुण और प्रभावसहित उनके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करनेसे भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है ।

(ख) परमात्मा ही सबका कारण एवं सबकी आत्मा होनेसे सारे भूतप्राणी परमात्माके ही स्वरूप हैं, ऐसा समझकर जो मनुष्य भगवत्प्रीत्यर्थ दूसरोंकी स्वार्थरहित, निष्काम सेवा करता है और ऐसा करनेमें अतिशय प्रसन्नता एवं परम शान्तिका अनुभव करता है, उसे इस प्रकारके साधनसे परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है । इस प्रकारकी सेवाके द्वारा परमात्माकी प्राप्तिके अनेकों उदाहरण शास्त्रोंमें मिलते हैं । अभी कुछ ही शताब्दियों पूर्व दक्षिणमें एकनाथजी नामके प्रसिद्ध महात्मा हो चुके हैं । उनके सम्बन्धमें यह इतिहास मिलता है कि वे एक समय गंगोत्रीकी यात्रा करके वहाँका जल काँवरमें भरकर रामेश्वरधामकी ओर जा रहे थे । रास्तेमें बरार प्रान्तमें उन्हें एक ऐसा मैदान मिला, जहाँ जलका बड़ा अभाव था और एक गदहा प्यासके मारे तड़पता हुआ जमीनपर पड़ा था । उसकी प्यास बुझानेके लिये एकनाथजी महाराजने उस जलको, जिसे वे इतनी दूरसे रामेश्वरके शिवलिंगपर चढ़ानेके लिये लाये थे, उस गदहेको भगवान् शंकरका रूप समझकर पिला दिया । इस प्रकार प्रत्येक भूतप्राणीमें परमात्माकी भावना करके उसकी निःस्वार्थभावसे सेवा करनेसे परमात्माकी प्राप्ति सहजहीमें हो जाती है ।

(ग) राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति या विश्वरूप अथवा केवल ज्योतिरूप आदि किसी भी स्वरूपको सर्वोपरि, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् परम दयालु परमात्माका स्वरूप समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादिके द्वारा उनके चित्रपट, प्रतिमा आदिकी अथवा मानसिक* पूजा करनेसे भगवान् प्रकट होकर भक्तको दर्शन देकर कृतार्थ कर देते हैं । गीतामें भी कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
(९ । २६)

'हे अर्जुन ! (मेरे पूजनमें यह सुगमता भी है कि) जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र, पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ ।'

(घ) भगवान्‌को ही अपना इष्ट एवं सर्वस्व मानकर प्रेमपूर्वक अनन्यभावसे गुण और प्रभावसहित उनके स्वरूपका निरन्तर तैलधारावत् चिन्तन करते रहनेसे और इस प्रकार चिन्तन करते हुए ही समस्त लौकिक व्यवहार करनेसे भी भगवान् सहजमें ही प्राप्त हो जाते हैं । प्रेमस्वरूपा परम भक्तिमती गोपियोंके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें ऐसा उल्लेख मिलता है कि वे सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-

---

* मानसिक पूजा तथा ध्यानकी विधिके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित 'प्रेमभक्तिप्रकाश' नामक पुस्तक देखनी चाहिये ।

पीते, गाय दुहते, गोबर पाथते, बच्चोंको खिलाते-पिलाते, पतियोंकी सेवा करते, धान कूटते, आँगन लीपते, दही बिलोते, झाड़ू लगाते तथा गृहस्थीके अन्य सब धन्धोंको करते हुए हर समय भगवान् श्रीकृष्णका मनसे चिन्तन और वाणीसे गुणानुवाद करती रहती थीं—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ४४ । १५)

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(८ । ७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा ।'

(ङ) कठिनसे भी कठिन विपत्ति आनेपर, यहाँतक कि मृत्यु उपस्थित होनेपर भी उस विपत्ति अथवा मृत्युको अपने प्रियतम भगवान्का भेजा हुआ मंगलमय विधानरूप पुरस्कार समझकर उसे प्रसन्नतापूर्वक सादर स्वीकार करनेसे और किञ्चिन्मात्र भी विचलित न होनेसे तथा उस विपत्ति अथवा मृत्युके रूपमें अपने इष्टदेवका ही दर्शन करते रहनेसे अति शीघ्र भगवान्की प्राप्ति हो जाती है ।

जैमिनीयाश्वमेधमें भक्त सुधन्वाकी कथा आती है, उसे जब पिताने उबलते हुए तेलके कड़ाहमें डालनेकी आज्ञा दी तो वह भगवान्‌को स्मरण करता हुआ सहर्ष उसमें कूद पड़ा किन्तु तेल उसके शरीरको नहीं जला सका। भक्तशिरोमणि प्रह्लादका चरित्र तो प्रसिद्ध ही है। वे तो अपने पिताके दिये हुए प्रत्येक दण्डमें अपने इष्टदेवका ही दर्शन करते थे, जिससे उन्हें सहजहीमें भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी। इस प्रकार भयंकर-से-भयंकर रूपमें भी अपने प्रियतमका दर्शन करनेवाले भक्तको सहजहीमें भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है।

(च) राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति आदि किसी भी नामको भगवान्‌का ही नाम समझकर निष्काम प्रेमसहित केवल जप करनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। शास्त्रोंमें नाम और नामीमें अभेद माना गया है और गीतामें भी भगवान्‌ने नाम-जपको अपना ही स्वरूप बतलाया है—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।' यों तो नामकी सभी युगोंमें महिमा है परन्तु कलियुगमें तो उसका विशेष महत्त्व है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(नारदपु० १।४१।१५)

गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग केवल नाम अधारा।
सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा॥

यह जप वाणीसे, मनसे, श्वाससे, नाड़ीसे कई प्रकारसे हो

सकता है। जिस किसी प्रकारसे भी हो, निष्कामभावसे तथा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक करनेसे इससे शीघ्र ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। योगसूत्रमें भी कहा है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। (२। ४४)

'स्वाध्याय अर्थात् गुण और नामके कीर्तनसे इष्टदेवताकी प्राप्ति हो जाती है।'

(छ) महान् पुरुषोंका अर्थात् भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषोंका श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक संग करनेसे भी संसारके विषयोंसे वैराग्य एवं भगवान्‌में अनन्य प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है। देवर्षि नारदने अपने भक्तिसूत्रमें कहा है—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च। (३९)

महान् पुरुषोंका संग बड़ा दुर्लभ है और मिल जानेपर उन्हें पहचानना कठिन है, किन्तु पहचानकर उनका संग करनेसे परमात्म-स्वरूप महान् फलकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है। क्योंकि महत्पुरुषों-का संग कभी निष्फल नहीं होता। महान् पुरुषोंका संग बिना जाने करनेसे भी वह खाली नहीं जाता क्योंकि वह अमोघ है। योगदर्शनमें तो यहाँतक कहा है कि महत्पुरुषोंके चिन्तनमात्रसे चित्तवृत्तियोंका निरोध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है—

वीतरागविषयं वा चित्तम्। (१। ३७)

(ज) गीतामें कहे हुए उपदेशोंके यथाशक्ति पालन करनेका उद्देश्य रखकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अर्थ एवं भावसहित उसका अध्ययन

करनेसे भी भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। भगवान्ने भी स्वयं गीताके अन्तमें कहा है—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥
(१८।७०)

'हे अर्जुन! जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है।'

(झ) सब भूतोंके सुहृद् परमात्माकी अपने ऊपर अहैतुकी दया एवं परम प्रेम समझकर क्षण-क्षणमें उसे याद करके मुग्ध होनेसे मनुष्य परम पवित्र होकर परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

(ञ) माता, पिता, आचार्य, महात्मा, पति, स्वामी आदि अपने किसी भी अभीष्ट व्यक्तिमें परमेश्वरबुद्धि करके श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनकी सेवा अथवा ध्यान करनेसे भी चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। योगसूत्रमें भी कहा है—

'यथाभिमतध्यानाद्वा।' (१।३९)

इसी प्रकार और भी बहुत-से अन्य उपाय श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थोंमें बताये गये हैं। ऊपर बताये हुए साधनोंमेंसे जो मनको रुचिकर एवं अनुकूल प्रतीत हो, उस किसी भी एक साधनका अभ्यास करनेसे परम गतिरूप परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

यदि कहें कि जिसकी मृत्यु आज ही होनेवाली है, क्या वह भी इस प्रकारसे साधन करके परम कल्याणको प्राप्त हो सकता है ? हाँ, यदि प्रेमभावसे भजन-ध्यान तत्परताके साथ मृत्युके क्षण-तक निरन्तर किया जाय तो ऐसा हो सकता है। भगवान्‌के वचन हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(गीता ८।५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गीता ८।१४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

अन्तमें जो लोग नियमित रूपसे साधन करना चाहते हैं, उनके लिये कुछ थोड़े-से सामान्य नियम तथा साधन जो अवश्य ही करने चाहिये, नीचे बताये जाते हैं—

प्रातःकाल सोकर उठते ही सबसे पहले भगवान्का स्मरण करना चाहिये और फिर शौच-स्नानादि आवश्यक कृत्यसे निवृत्त होकर यथासमय (सूर्योदयसे पूर्व) सन्ध्या तथा गायत्री-मन्त्रका कम-से-कम १०८ जप करे। फिर इनके साथ-साथ गीताके कम-से-कम एक अध्यायका अर्थसहित पाठ तथा षोडश मन्त्रकी १४ माला या अपने इष्टदेवके नामका २२००० जप प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये। तथा परमात्माके गुणप्रभावसहित अपने इष्टस्वरूपका ध्यान तथा मानसिक पूजा करे। इसके अनन्तर यदि घरमें कोई देवविग्रह हो तो उसका शास्त्रोक्त विधिसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पूजन करे, माता-पिता तथा अन्य गुरुजनोंको प्रणाम करे तथा हवन, तर्पण एवं बलिवैश्व-देव करके फिर भगवान्को अर्पण कर और अतिथि-सत्कार करके भोजन करे। इसी प्रकार सायंकालको भी यथासमय (सूर्यास्तसे पूर्व) सन्ध्या और गायत्रीका जप करे तथा प्रातःकालकी भाँति ही नाम-जप, ध्यान और मानसिक पूजा करे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीन वर्णोंको छोड़कर अथवा इनमेंसे भी जिनका उपनयनसंस्कार नहीं हुआ हो उन्हें सन्ध्या तथा गायत्रीजप नहीं करना चाहिये।



भगवत्प्राप्तिके चार साधनोंकी सुगमताका रहस्य



ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग आदि साधन करनेके विषयमें उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, योगदर्शन, श्रीमद्भागवत और गीता आदि शास्त्रोंको देखनेपर अधिकांश मनुष्योंके चित्तमें अनेक प्रकारकी शङ्काएँ उठा करती हैं और किसी-किसीके चित्तमें तो किंकर्तव्यविमूढताका-सा भाव आ जाता है।

उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रको देखकर जब वेदान्तके सिद्धान्तके अनुसार साधक जगत्‌को स्वप्नवत् समझता हुआ सम्पूर्ण संकल्पोंका यानी स्फुरणामात्रका और जिन वृत्तियोंसे संसारके चित्रोंका अभाव किया उनका भी त्याग करके केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अभेदरूपसे नित्य निरन्तर स्थित रहनेका अभ्यास करता है तब आलस्यके कारण चित्तकी वृत्तियाँ मायामें विलीन हो जाती हैं और साधक कृतकार्य नहीं होने पाता। ऐसी अवस्थामें विचारवान् पुरुष भी चिन्तातुर-सा हो जाता है। बहुत-से जो इस तत्त्वको नहीं जानते हैं वे तो इस लय-अवस्थाको ही समाधि समझकर अपनी ब्रह्ममें स्थिति मान बैठते हैं। उस सुषुप्तिका जो तामस सुख है उसको ही वे ब्रह्मप्राप्तिका सुख मानकर गाढ़ निद्रामें अधिक सोना ही पसन्द करते हैं। जो इस प्रकार भ्रमसे निद्रासुखको सुख मानते हुए विशेष समय सोनेमें ही बिता देते हैं, अज्ञानके कारण उनका जीवन नष्टप्राय हो जाता है। किन्तु जो विवेकशील इस निद्राके सुखको तामस सुख मानते हुए इस लयदोषसे अपनेको बचाना चाहते हैं, वे भी बलात्कारसे आलस्य और निद्राके शिकार बन जाते हैं। अतएव इनको क्या करना कर्तव्य है?

जब साधक योगदर्शनके अनुसार एकान्तमें बैठकर ध्यानयोगद्वारा चित्तकी वृत्तियोंके निरोधरूप समाधि लगानेकी चेष्टा करता है तब विक्षेप और आलस्यदोषके कारण चित्त उकता जाता है। उनमें भी आलस्य तो इतना घेर लेता है कि साधक तंग आ जाता है। आलस्यमें स्वाभाविक ही आराम प्रतीत होता है, इससे साधक-

का स्वभाव तामसी बनकर उसे साधनसे गिरा देता है। बुद्धि और विवेकद्वारा आलस्यको हटानेके लिये साधक अनेक प्रकारसे प्रयत्न करता है। भोजन भी सात्त्विक और अल्प करता है। आसन लगाकर भी बैठता है। विशेष शारीरिक परिश्रम भी नहीं करता। रोगनिवृत्तिकी भी चेष्टा करता रहता है। समयपर सोने-की चेष्टा रखता है। इस प्रकार प्रयत्न करनेपर भी मनुष्यको आलस्य दबा लेता है। इसलिये साधक कृतकार्य हो नहीं पाता और किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो जाया करता है। ऐसी अवस्थामें उसे क्या करना चाहिये ?

कितने ही जो श्रीमद्भागवतमें बतायी हुई नवधा भक्तिके अनुसार जप, स्तुति, प्रार्थना, ध्यान, सेवा-पूजा, नमस्कार आदि करते हुए अपने समयको बिताते हैं, उन लोगोंको भी जैसा आनन्द आना चाहिये वैसा आनन्द नहीं आता। और उनका चित्त साधन-से ऊब जाता है। तथा अकर्मण्यता बढ़ जाती है। एवं कितने ही लोग भगवान्‌की रासलीलाको देखकर प्रसन्न होते हैं किन्तु उनमें भी झूठ, कपट, हँसी, मजाक, विलासिता आदि दोष देखनेमें आ जाते हैं।

दूसरे जो गीतोक्त भक्तियुक्त कर्मयोगकी दृष्टिसे अपनी बुद्धिके अनुसार स्वार्थ, आराम और आसक्तिको त्याग कर लोकोपकारकी बुद्धिसे लोकसेवारूप निष्काम कर्मका साधन करते हैं, उनके चित्त-में भी अनेक प्रकारकी स्फुरणाएँ और विक्षेप होते हैं, इससे उनको बड़ा झंझट-सा प्रतीत होने लगता है और भगवत्‌की स्मृति भी

काम करते हुए निरन्तर नहीं होती अतः उनके चित्तमें उकताहट पैदा हो जाती है। न कर्मयोगकी सिद्धि होती है और न काम करते हुए भजन-ध्यानरूप ईश्वरभक्ति ही बनती है इसलिये वे तंग आकर यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि उस लोकोपकाररूप शुभ कर्मोंको स्वरूपसे ही छोड़नेकी इच्छा करने लगते हैं। जब एकान्तमें जाकर ध्यान करनें बैठते हैं तब आलस्य आने लगता है, इसलिये वे भी किंकर्तव्यविमूढ-से हो जाते हैं। ऐसी परिस्थितिमें कैसे क्या करना चाहिये ?

इसी प्रकार और भी परमात्माकी प्राप्तिके जितने साधन शास्त्रोंमें बतलाये हैं तथा महात्मा लोग बतलाते हैं उन सभी साधनोंको करनेवाले साधकोंको कार्यकी सिद्धि कठिन-सी प्रतीत होती है। किन्तु बहुत-से महात्मा और शास्त्र इन साधनोंको सहज और सुगम बतलाते हैं एवं उनका परिणाम भी सर्वोत्तम बतलाते हैं तथा विचारनेपर युक्तियोंसे भी यह बात ऐसी ही समझमें आती है। फिर भी उपर्युक्त साधन उन्हें सुगम क्यों नहीं प्रतीत होते तथा सभी पुरुष प्रयत्न क्यों नहीं करते; क्योंकि सभी क्लेश, कर्म और दुःखोंसे रहित होकर सुख-शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं। फिर वे कृतकार्य नहीं होते––इसका क्या कारण है ? ऐसे-ऐसे बहुत-से प्रश्न साधकोंकी ओरसे आते हैं; अतः इनपर कुछ विचार किया जाता है।

देहाभिमान रहनेके कारण तो ज्ञानयोगमें और आलस्यके कारण ध्यानयोगमें तथा तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण

भक्तियोगमें एवं स्वार्थबुद्धि होनेके कारण कर्मयोगमें कठिनता प्रतीत होती है, पर वास्तवमें कठिनता नहीं है।

परमात्माकी प्राप्तिके सभी साधन सुगम होनेपर भी सुगम माननेसे सुगम हैं और दुर्गम माननेसे दुर्गम हैं। श्रद्धापूर्वक तत्त्व और रहस्य समझकर साधन करनेसे सभी साधन सुगम हो सकते हैं। इनमें भी भक्तिसहित कर्मयोग या केवल भगवान्‌की भक्ति सबके लिये बहुत ही सुगम है।

किन्तु प्रायः सभी मनुष्य अज्ञानके कारण आलस्य, भोग और प्रमादके वशीभूत हो रहे हैं। इसलिये परमात्माकी प्राप्तिके साधनोंके तत्त्व, रहस्य और प्रभावको नहीं जानते। अतः उन्हें ये सब कठिन प्रतीत होते हैं तथा इसी कारण उनमें श्रद्धा और प्रेमकी कमी रहती है। और इसीसे सभी लोग साधनमें नहीं लगते।

शास्त्रोंमें जो अनेक उपाय बतलाये हैं वे अधिकारीके भेदसे सभी ठीक हैं। किन्तु इस तत्त्वको न जाननेके कारण साधक कभी किसी साधनमें लग जाता है और कभी किसीमें। बहुत-से तो इस हेतुसे कृतकार्य नहीं होते और बहुत-से अपनेको क्या करना कर्तव्य है इस बातको न समझकर अपनी योग्यताके विपरीत साधनका आरम्भ कर देते हैं––इस कारण भी कृतकार्य नहीं होते और कितने ही विवेकी पुरुष अपनी योग्यताके अनुसार कार्य करते हुए भी उसका तत्त्व और रहस्य न जाननेके कारण अहंता, ममता, अज्ञान, राग-द्वेष, संशय, भ्रम, अश्रद्धा आदि स्वभावदोष

तथा पूर्वसञ्चित पाप और कुसंगके कारण शीघ्र कृतकार्य नहीं होने पाते। इसलिये उन पुरुषोंको महात्माओंका संग करके उपर्युक्त ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग आदिका तत्त्व-रहस्य समझकर अपनी रुचि और अधिकारके अनुसार महात्माके बतलाये हुए किसी एक साधनको विवेक, वैराग्य और धैर्ययुक्त बुद्धिसे आजीवन करनेका निश्चय करके उसी साधनके लिये तत्परताके साथ प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकार श्रद्धा-भक्तिपूर्वक साधन करनेसे साधकके सम्पूर्ण दुर्गुणोंका, पापोंका और दुःखोंका मूलसहित नाश हो जाता है एवं वह कृतकृत्य होकर सदाके लिये परमानन्द और परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

ज्ञानयोगका साधन देहाभिमानसे रहित होकर करना चाहिये। सच्चिदानन्द परमात्मामें अभेदरूपसे स्थित होकर व्यवहारकालमें तो सम्पूर्ण दृश्यवर्गको 'गुण ही गुणोंमें वर्त रहे हैं अर्थात् इन्द्रियाँ अपने अर्थोंमें वर्त रही हैं'—ऐसा मानकर उन सारे पदार्थोंको मृगतृष्णाके जल या स्वप्नके सदृश अनित्य समझना चाहिये। और ध्यानकालमें वृत्तियोंसहित सम्पूर्ण पदार्थोंके संकल्पोंका त्याग करके केवल एक नित्य विज्ञानरूप परमात्मामें ही अभेदरूपसे स्थित होना चाहिये। ऐसी अवस्थामें चिन्मय (विज्ञानमय) का लक्ष्य न रहनेके कारण स्वाभाविक आलस्यदोषसे लयवृत्ति हो जाती है अर्थात् मनुष्यकी तन्द्रा-अवस्था हो जाती है। इसलिये ध्यानावस्थामें केवल ज्ञानकी दीप्ति यानी चेतनताकी बहुलता रहना अत्यावश्यक है। क्योंकि जहाँ ज्ञान है, वहाँ अज्ञान और अज्ञानके कार्यरूप निद्रा,

आलस्य और लय आदि दोषोंका रहना सम्भव नहीं। इस रहस्यको जाननेवाले वेदान्तमार्गी विवेकी पुरुष निद्रा और आलस्यके शिकार न बनकर कृतकृत्य हो जाते हैं।

पातञ्जलयोगदर्शनके अनुसार साधन करनेवालोंको भी आत्मसाक्षात्कारके लिये केवल चितिशक्ति अर्थात् गुणोंसे रहित केवल चेतनका ही ध्यान रखना चाहिये। इस प्रकार जहाँ केवल चेतनका ही लक्ष्य रहता है वहाँ जैसे सूर्यके पास अन्धकार नहीं आ सकता वैसे ही उनके पास भी निद्रा-आलस्य नहीं आ सकते। अतएव इनको भी युक्त आहार, निद्रा और आसन आदिका पालन करते हुए विशेषरूपसे विज्ञानमय चेतनताकी तरफ ही लक्ष्य रखना चाहिये। इस प्रकार उस शुद्ध निरतिशय ज्ञानमय परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान करनेसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश हो जाता है और साधक कृतार्थ हो जाता है।

परमेश्वर और उसकी प्राप्तिके साधनोंमें श्रद्धा और प्रेमकी कमी होनेके कारण ही साधन करनेमें उत्साह नहीं होता। आरामतलबी स्वभावके कारण आलस्य और अकर्मण्यता बढ़ जाती है इसीसे उन्हें परमशान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये श्रीमद्भागवतमें बतलायी हुई नवधा भक्तिका तत्त्व-रहस्य महापुरुषोंसे समझकर श्रद्धा और प्रेमपूर्वक तत्परताके साथ भक्तिका साधन करना चाहिये।

भगवान्‌के रासका विषय तो अत्यन्त ही गहन है। भगवान् और भगवान्‌की क्रीडा दिव्य, अलौकिक, पवित्र, प्रेममय और मधुर

है। जो माधुर्यरसके रहस्यको जानता है, वही उससे लाभ उठा सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण और गोपियोंकी जो असली रासक्रीडा थी, उसको तो जाननेवाले ही संसारमें बहुत कम हैं। उनकी वह क्रीडा अति पवित्र, अलौकिक और अमृतमय थी। वर्तमानमें होनेवाले रासमें तो बहुत-सी कल्पित बातें भी आ जाती हैं तथा अधिकांशमें रास करनेवाले आर्थिक दृष्टिसे ही करते हैं। उनका उद्देश्य दर्शकोंको प्रसन्न करना ही रहता है। इसलिये दर्शकोंके चित्तपर यह असर पड़ता है कि भगवान् भी ये सब आचरण किया करते थे। तथा यह बात स्वाभाविक ही है कि साधक जो इष्टमें देखता है, वह बात उसमें भी आ जाती है। भगवान्के तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण उनकी प्रेममय लीला काममय दीखने लगती है और निर्दोष बात दोषयुक्त प्रतीत होने लगती है। इस कारण ही देखनेवाले किसी-किसी स्त्री-पुरुष और बालकोंमें झूठ, कपट, हँसी, मजाक, विलासिता आदि दोष आ जाते हैं। अतः सर्वसाधारणको तो भागवतमें बतलायी हुई नवधा भक्तिका* साधन ही करना चाहिये।

---

* श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(श्रीमद्भा० ७।५।२३)

१. भगवान्के नाम और गुणोंका श्रवण, २. कीर्तन, ३. भगवान्का स्मरण, ४. भगवान्के चरणोंकी सेवा, ५. भगवद्विग्रहका पूजन, ६. भगवान्को प्रणाम करना, ७. अपनेको भगवान्का दास समझकर उनकी सेवामें तत्पर रहना, ८. अपनेको भगवान्का सखा मानकर उनसे प्रेम करना और ९. भगवान्को आत्मसमर्पण करना—यही नौ प्रकारकी भक्ति है।

जिन्हें माधुर्य रसवाली प्रेमलक्षणा भक्तिकी ही इच्छा हो उनको भी प्रथम नवधा भक्तिका ही अभ्यास करना चाहिये; क्योंकि विना नवधा भक्तिका अभ्यास किये वह साधक प्रेमलक्षणा भक्तिका सच्चा पात्र नहीं बन सकता और उस प्रेमलक्षणा भक्तिका रहस्य भगवत्प्राप्त पुरुष ही बतला सकते हैं। इसलिये उस प्रेमलक्षणा भक्तिके जिज्ञासुओंको उन महापुरुषोंके संग और सेवाद्वारा उसका तत्त्व और रहस्य समझकर उसका साधन करना चाहिये।

गीतोक्त भक्तियुक्त कर्मयोगके साधकोंको तो भगवान्‌पर ही भरोसा रखकर सारी चेष्टाएँ करनी चाहिये। सब समय भगवान्‌को याद रखते हुए ही भगवान्‌में प्रेम होनेके उद्देश्यसे भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही सारे कर्म करने चाहिये। अथवा अपनी बागडोर भगवान्‌के हाथमें सौंप देनी चाहिये, जिस प्रकार भगवान् करवावें वैसे ही कठपुतलीकी भाँति कर्म करे। इस प्रकार जो अपने आपको भगवान्‌के हाथमें सौंप देता है उसके द्वारा शास्त्र-निषिद्ध कर्म तो हो ही नहीं सकते। यदि शास्त्रविरुद्ध किञ्चिन्मात्र भी कर्म होता है तो समझना चाहिये कि हमारी बागडोर भगवान्‌के हाथमें नहीं है, कामके हाथमें है; क्योंकि अर्जुनके इस प्रकार पूछनेपर कि—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

'हे कृष्ण! यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे

लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ?' स्वयं भगवान्‌ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(गीता ३ । ३७)

'हे अर्जुन ! रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान ।'

इसके अतिरिक्त शास्त्रानुकूल कर्मोंमें भी उससे काम्य कर्म नहीं होते । यज्ञ, दान, तप और सेवा आदि सम्पूर्ण कर्म केवल निष्काम भावसे हुआ करते हैं । भगवदर्थ या भगवदर्पण कर्म करनेवाले पुरुषके द्वारा दृढ़ अभ्यास होनेपर भगवत्स्मृति होते हुए ही सारे कर्म होने लगते हैं । तभी तो भगवान्‌ने कहा है कि—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।

(गीता ८ । ७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब कालमें मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर ।'

अतएव हमलोगोंको भी इसी प्रकार अभ्यास डालना चाहिये । भगवदर्थ या भगवदर्पण कर्म तो साक्षात् भगवान्‌की ही सेवा है । यह रहस्य समझनेके बाद उसे प्रत्येक क्रियामें प्रसन्नता और शान्ति ही मिलनी चाहिये । क्या पतिव्रता स्त्रीको कभी पतिके अर्थ या पतिके अर्पण किये हुए कर्मोंमें झंझट प्रतीत होता है ? यदि होता है

तो वह पतिव्रता कहाँ ? कोई स्त्री पतिके नामका जप और स्वरूपका ध्यान तो करती है किन्तु पतिकी सेवाको झंझट समझकर उससे जी चुराती है वह क्या कभी पतिव्रता कही जा सकती है ? वह तो पतिव्रतधर्मको ही नहीं जानती । जो सच्ची पतिव्रता स्त्री होती है वह तो पतिको अपने हृदयमें रखती हुई ही पतिके आज्ञानुसार उसकी सेवा करती हुई हर समय पतिप्रेममें प्रसन्न रहती है । पतिकी प्रत्येक आज्ञाके पालनमें उसकी प्रसन्नता और शान्तिका ठिकाना नहीं रहता । फिर साक्षात् परमेश्वर-जैसे पतिकी आज्ञाके पालनमें कितनी प्रसन्नता और शान्ति होनी चाहिये । अतएव जिन्हें भगवदर्थ या भगवदर्पण कर्मोंमें झंझट प्रतीत होता है वे न कर्मोंके, न भक्तिके और न भगवान्के ही तत्त्वको जानते हैं ।

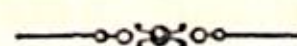
एक राजाका चपरासी राजाकी आज्ञाके अनुसार किसी भी राजकार्यको करता है तो उसे हर समय यह खयाल रहता है कि मैं राजाका कर्मचारी हूँ—राजाका चपरासी हूँ । फिर भगवान्की आज्ञाके अनुसार भगवत्कार्य करनेवाले भगवद्भक्तको हर समय यह भाव क्यों नहीं रहना चाहिये कि मैं भगवान्का सेवक हूँ ।

जो भगवत्कार्य करते हुए भगवान्को भूल जाते हैं वे खास करके सभी कार्योंको भगवान्के कार्य नहीं मानते, अपना कार्य मानने लग जाते हैं । इसी कारण वे भगवान्के नाम और रूपको भूल जाते हैं । अतएव साधकोंको दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि सारे संसारके पदार्थ भगवान्के ही हैं । जैसे कोई भृत्य अपने स्वामीका कार्य करता है तो यही समझता है कि यह स्वामीका ही

है, मेरा नहीं; अर्थात् स्वामीकी नौकरी करनेवाले उस भृत्यका क्रियाओंमें, उनके फलमें एवं पदार्थोंमें सदा-सर्वदा यही निश्चय रहता है कि ये सब स्वामीके ही हैं उसी प्रकार साधकको भी सम्पूर्ण पदार्थोंको, क्रियाओंको और अपने आपको परमात्माकी ही वस्तु समझनी चाहिये। साधारण स्वामीकी अपेक्षा परमात्मामें यह और विशेषता है कि परमात्मा प्रत्येक क्रिया और पदार्थमें व्याप्त होकर स्वयं स्थित है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ और क्रियामें स्वामीका जो निश्चय और स्मरण है वह स्वामीका भजन ही है। इसलिये उपर्युक्त तत्त्वको जाननेवाले पुरुषको उस परमात्माकी विस्मृति होना सम्भव नहीं। यदि स्मृति निरन्तर नहीं होती तो समझना चाहिये कि वह तत्त्वको यथार्थरूपसे नहीं जानता। अतएव हमलोगोंको सम्पूर्ण संसारके रचयिता लीलामय परमात्माको सर्वदा और सर्वत्र व्याप्त समझते हुए उसकी आज्ञाके अनुसार उसके लिये ही कर्म करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकारका अभ्यास करते-करते परमात्माका तत्त्व और रहस्य जान लेनेपर न तो कर्मोंमें उकताहट ही होगी और न भगवान्की विस्मृति ही होगी बल्कि भगवत्के स्मरण और भगवदाज्ञाके पालनसे प्रत्येक क्रिया करते हुए शरीरमें प्रेमजनित रोमाञ्च होगा और पद-पदपर अत्यन्त प्रसन्नता और परम शान्तिका अनुभव होता रहेगा।



कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ



सभी कार्योंमें स्वार्थत्याग प्रधान है । किसी भी वैधकार्यमें स्वार्थका त्याग होनेसे नीच-से-नीच प्राणीका भी कल्याण हो जाता है।

उतने ही भोगोंका अनासक्त भावसे ग्रहण किया जाय जितने शरीरनिर्वाहके लिये आवश्यक हैं । तथा केवल आसक्तिका त्याग कर देनेसे भी कल्याण हो जाता है ।

जो कुछ भी कार्य करे उसमें अहंकारका त्याग कर दे । किसी भी उत्तम कार्यमें अहंकारको पास न आने दे ।

घरमें भगवान्‌की मूर्ति रखकर भक्तिभावसे उसकी पूजा, आरती, स्तुति एवं प्रार्थना करनेसे भी कल्याण हो जाता है ।

प्रतिदिन नियमपूर्वक एकान्तमें बैठकर मनसे सम्पूर्ण संसारको भूल जावे । इस प्रकार संसारको भुला देनेसे केवल एक चैतन्य आत्मा शेष रह जायगा । तब उस चैतन्य स्वरूपका ध्यान करे । ध्यान करनेसे समाधि हो जाती है और मुक्ति हो जाती है ।

यह नियम ले ले कि शरीरसे वही कार्य निष्कामभावके साथ किया जायगा कि जिससे दूसरेका उपकार हो । इसके समान कोई भी धर्म नहीं है । भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कहा है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई । पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

इस नियमको धारण कर लेनेसे भी संसारसे मुक्ति हो जाती है।

यदि इन्द्रियाँ और मन वशमें हों तो भगवान्‌का ध्यान ही

सबसे बढ़कर कल्याणका साधन है। यदि मन, इन्द्रियाँ वशमें न हों तो ऐसी अवस्थामें बिना किसी कामनाके केवल आत्माके कल्याणके लिये व्रत एवं उपवास आदिका साधन करना चाहिये। परमात्माकी प्राप्तिके अतिरिक्त उनसे और कुछ भी कामना नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार साधन करनेसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है। सारांश यह है कि यदि मन एवं इन्द्रियाँ वशमें हों तब तो ध्यानयोगका साधन करे। नहीं तो बिना किसी कामनाके केवल भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही तप एवं उपवास आदिका साधन करे। लेकिन इन सबसे भी सुगम उपाय तो भजन ही है।

उठते, बैठते, चलते हर समय नामहीका जप किया जाय। नामको कभी भी न भूले, यह भगवत्प्राप्तिका बहुत सुगम उपाय है। कहा भी है—

कलिजुग केवल नाम अधारा। सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥

एक ऐसा साधन भी है कि जिससे हर समय आनन्द रहता है और जिसमें परिश्रम भी नहीं करना पड़ता। वह है आनन्दमयका अभ्यास 'आनन्दमयोऽभ्यासात्'। (ब्र० सू० १। १। १२) आनन्द परमात्माका स्वरूप है। चारों तरफ बाहर-भीतर आनन्द-ही-आनन्द भरा हुआ है, सारे संसारमें आनन्द छाया हुआ है। यदि ऐसा दिखलायी न दे तो वाणीसे केवल कहते रहो और मनसे मानते रहो। जलमें डूब जाने, गोता खा जानेके समान निरन्तर आनन्दहीमें डूबा रहे और गोता लगाता रहे। रात-दिन आनन्दमें मग्न रहे। किसीकी मृत्यु हो जाय,

घरमें आग लग जाय, अथवा और भी कोई अनिष्ट कार्य हो जाय तो भी आनन्द-ही-आनन्द, कुछ भी हो केवल आनन्द-ही-आनन्द। इस प्रकारका अभ्यास करनेसे सम्पूर्ण दुःख एवं क्लेश नष्ट हो जाते हैं। वाणीसे उच्चारण करे तो केवल आनन्दहीका, मनसे मनन करे तो आनन्दहीका तथा बुद्धिसे विचार करे तो आनन्दहीका परन्तु यदि ऐसी प्रतीति न हो तो कल्पितरूपसे ही आनन्द अनुभव करे। इसका भी फल बहुत अच्छा होता है। ऐसा करते-करते आगे चलकर नित्य-आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। इस साधनको सब कर सकते हैं। पुराने जमानेमें मुसलमानोंके राज्यमें हिन्दुओंसे कहा गया कि तुम मुसलमान मत बनो, हिन्दू ही रहो एवं हिन्दूधर्मका ही पालन करो, केवल मुसलमानोंमें अपना नाम लिखा दो। कोई पूछे तो कहो कि हम मुसलमान हैं। इसमें तुम्हारा क्या बिगड़ता है। उन्होंने यह बात स्वीकार कर ली। आगे चलकर उनकी सन्तानसे काजियोंने कहा कि तुम तो मुसलमान हो इसलिये मुसलमानोंके धर्मका पालन करो। अन्तमें यहाँतक हुआ कि वे लोग कट्टर मुसलमान बन गये। इसी प्रकार हमलोगोंको भी यह निश्चय कर लेना चाहिये कि हम सब एक आनन्द ही हैं। ऐसा निश्चय कर लेनेसे आनन्द-ही-आनन्द हो जायगा।

भगवान्‌की मूर्ति या चित्रको सामने रखकर तथा आँखें खोलकर उनके नेत्रोंसे अपने नेत्र मिलावे। त्राटककी भाँति आँख खोलकर उसमें ध्यान लगा दे। ध्यानके समय यह विश्वास रक्खे कि इसमें भगवान् प्रकट होंगे। विश्वासपूर्वक ऐसा ध्यान करनेपर इससे भी भगवान् मिल जाते हैं। यह भी भगवत्प्राप्तिका सुगम साधन है।

वृक्ष, पत्थर, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि संसारकी जो भी वस्तुएँ दिखलायी दें उन सबमें यह भाव करे कि भगवान्‌ने ही ये सब रूप धारण कर रक्खे हैं। मनसे कहे, जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहीं जाओ, सब रूप तो भगवान्‌ने ही धारण कर रक्खे हैं। जो भी वस्तुएँ दिखलायी देती हैं वे सब परमात्मा नारायणका ही रूप हैं। सारे संसारमें सबको भगवान्‌का रूप समझकर मन-ही-मन भगवद्-बुद्धिसे सबको प्रणाम करे। एक परमात्माने ही अनन्त रूप धारण कर लिये हैं इस प्रकारके अभ्याससे भी कल्याण हो जाता है। इस प्रकार शास्त्रोंमें बहुत उपाय बतलाये गये हैं। जिसको जो सुगम माल्रम पड़े उसको उसीका साधन करना चाहिये। क्योंकि उनमेंसे किसी भी एकका साधन करनेसे कल्याण हो सकता है।

वृत्तियाँ दो हैं—अनुकूल और प्रतिकूल। जो मनको अच्छी लगे वह अनुकूल एवं जो मनके विरुद्ध हो वह प्रतिकूल कही जाती है। कोई भी काम जो मनके अनुकूल होता है उसमें स्वाभाविक ही प्रसन्नता होती है और जो मनके प्रतिकूल होता है उसमें दुःख होता है। उस दुःखको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर उसमेंसे प्रतिकूलताको निकाल दे और यह विचार करे कि जो कुछ भी होता है भगवान्‌की इच्छासे होता है। भगवान्‌की इच्छाके विना पेड़का एक पत्तातक नहीं हिल सकता।

हमलोग अनुकूलमें तो प्रसन्न होते हैं और प्रतिकूलमें द्वेष करते हैं। भला इस प्रकार कहीं भगवान् मिल सकते हैं? भगवान्‌की प्रसन्नतामें ही प्रसन्नताका निश्चय करना चाहिये। जो बात मनके अनुकूल होती है उसमें तो ऐसा निश्चय करनेमें कोई कठिनाई

है ही नहीं, लेकिन जो मनके प्रतिकूल हो उसको अनुकूल बना लेना चाहिये। स्मरण रखना चाहिये कि भगवान्‌के प्रतिकूल तो वह है नहीं, उनके प्रतिकूल होता तो होता ही कैसे ? इस साधनसे भी उद्धार हो सकता है।

वाणीसे सत्य बोले, व्यवहार सत्य करे, सत्यका आचरण करे। इससे कल्याण हो जाता है।

साँच बरोबर तप नहीं झूठ बरोबर पाप।
जाके हिरदै साँच है ताके हिरदै आप॥

सब संसारके जितने पदार्थ जिस रूपमें दिखलायी देते हैं वे सब सचमुच नाशवान् हैं। वे जैसे हैं हमारी आँखोंके सामने हैं। उन सब पदार्थोंमें समबुद्धि कर ले। उनमेंसे भेदभाव उठा दे। किसी भी वस्तुमें भेद न रक्खे। जैसे शरीरमें अपनापन है, भेद नहीं, अङ्गोंमें अन्तर नहीं, इसी तरह एक दूसरेसे भेद न रक्खे। सबमें समता कर ले, भेदबुद्धि उठा दे। इस भेदबुद्धिके उठानेसे भी कल्याण हो जायगा।

गङ्गाजीके प्रवाहका, हवा, पशु, पक्षी आदिका जो भी शब्द सुनायी दे उसमें ऐसी भावना करे कि शब्द ही भगवान् है। किसी प्रकारका भी शब्द सुनायी क्यों न दे। 'नादं ब्रह्म' शब्दको ही ब्रह्म समझे। जो कुछ भी सुनायी दे वह भगवान् है। चाहे कोई गाली दे चाहे आशीर्वाद दे दोनोंको ही भगवान् समझे। यदि गाली सुनकर हमें दुःख होता है तो फिर हमने शब्दको भगवान् कहाँ समझा। भगवान् समझनेपर तो आनन्द-ही-आनन्द होगा। भगवान्‌के दर्शनोंसे जो आनन्द हो, गाली सुननेसे भी उसी

आनन्दका अनुभव करे। इस बातसे भी कल्याण हो जाता है।

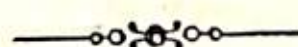
संकल्पमात्र (स्फुरणामात्र) को भगवान्‌का स्वरूप समझकर एकान्तमें आँखें मीचकर बैठ जावे। मन जहाँ जाता है और जो कुछ देखता है सब भगवान् है ऐसी भावना करे। यह निश्चय कर ले कि मेरा मन भगवान्‌के सिवा और किसी भी वस्तुका चिन्तन ही नहीं करता है। मन घट, पट आदि जिस किसी भी पदार्थका चिन्तन करे उसीको भगवान् समझ ले, उसमें भगवद्‌बुद्धि कर ले। यह विश्वास कर ले कि जो कुछ मन चिन्तन करता है वह भगवान् है। भगवान्‌का स्वरूप वही है जो मन चिन्तन करता है। चाहे वह स्त्री, पुत्र, धन आदिका ही चिन्तन करे, उनको स्त्री, पुत्र एवं धन न समझे किन्तु भगवान् समझे। पत्थर तथा वृक्ष जिस किसीका भी चिन्तन करे सब भगवान् है। जैसा दीखे वैसा ही भगवान्‌का स्वरूप मान ले। यह भी कल्याणप्राप्तिका सीधा रास्ता है। ऊपर जितनी बातें बतलायी गयी हैं उनमेंसे एक-एकके पालनसे कल्याण हो सकता है। हाँ, यह बात जरूर है कि श्रद्धा और रुचिकी तारतम्यतासे किसी साधनमें समय अधिक लगता है और किसीमें कम। लेकिन कल्याण सभीसे होता है।

स्वप्नमें जो संसार दीखता है, आँखें खोलनेसे जागनेपर वह नहीं दीखता। इसी तरह यह विश्वास कर ले कि मैं स्वप्नमें हूँ, मुझे जो कुछ भी प्रतीत होता है वह सब स्वप्न है। जब स्वप्न समाप्त हो जायगा तब अपने-आप ही असली सत्य वस्तु दीखने लगेगी। यह विश्वास कर ले कि जो दीखती है वह सच्ची वस्तु नहीं है, यह स्वप्नवत् है। जो भासती है वह है नहीं। स्वप्न

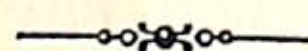
मिटनेवाला जरूर है। आँख खुलते ही मिट जायगा। इसपर यदि यह कहा जाय कि आजतक आँख क्यों नहीं खुली? तो इसका उत्तर यह है कि आजतक संसारके स्वप्नवत् होनेका निश्चय ही कब किया था? आत्माका सङ्कल्प सत्य है। इसलिये यह निश्चय करो कि यह संसार स्वप्न है। चाहे वह सत्य ही क्यों न दिखायी दे उसे स्वप्नवत् मानते रहो। मानते-मानते एक दिन स्वप्नका नाश हो जायगा और सत्य वस्तु प्राप्त हो जायगी।

सबको प्राण ही सबसे बढ़कर प्यारे हैं। प्राणके समान प्यारा कुछ भी नहीं है, प्रिय-से-प्रिय वस्तु तो याद रहेगी ही। इसलिये प्राणोंमें ब्रह्मकी भावना करे। आने-जानेवाले श्वासकी तरफ लक्ष्य रक्खे। श्वास तो अन्ततक आता ही है। यदि इस तरह अभ्यास किया जायगा तो अन्त समयमें उद्धार हो जायगा। प्राणको ब्रह्म मान ले! उसमें होनेवाले शब्दको ब्रह्मका नाम मान ले क्योंकि प्राणोंसे सोऽहं सोऽहं शब्दका उच्चारण होता रहता है। यह भी परमात्माका नाम है। इसलिये प्राण ही ब्रह्म है ऐसा निश्चय करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। अब जिसको जो उपाय सुगम एवं प्यारा मालूम हो वह उसीका साधन करे।

इस प्रकार कल्याणकी प्राप्तिके और भी सैकड़ों उपाय हैं परन्तु कुछ-न-कुछ तो करना ही होगा। साधन किये विना, कल्याण नहीं हो सकता। ये सब साधन गीता, वेद तथा श्रुतिमें बतलाये गये हैं। श्रेयार्थियोंको इनमेंसे कोई-सा भी एक साधन, जो उन्हें पसन्द हो, करना चाहिये।



परमानन्दकी प्राप्तिके लिये साधनकी आवश्यकता



संसारमें सभी लोग सुखकी खोजमें हैं, सभी परमानन्द पाना चाहते हैं। रात-दिन सुख ही प्राप्त करनेकी चेष्टामें लगे हुए हैं, परन्तु सुख तो दूर रहा, असली सुखकी तो छाया भी नहीं मिलती। इसमें क्या कारण है? इतना प्रयत्न करनेपर भी सुख क्यों नहीं मिलता?

इस प्रश्नपर विचार करनेसे यह मालूम होता है कि हमारे सुखकी प्राप्तिमें तीन बड़े बाधक शत्रु हैं। उन्हींके कारण हम सुखके समीप नहीं पहुँच पाते। वे हैं मल, विक्षेप और आवरण।

मल है मनकी मलिनता, विक्षेप है चञ्चलता और आवरण है अज्ञानका पर्दा। जबतक इन तीनोंका नाश नहीं होता तबतक यथार्थ सुखकी प्राप्ति असम्भव है। इनमें आवरणका नाश तो सहज ही हो सकता है। आवरणको हटानेके लिये खास प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् स्वयं बुद्धियोग प्रदान करके सारा मोह हर लेते हैं। भगवान् कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

(गीता १० । ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं, उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

जबतक मन मलिन और चञ्चल है तबतक इसका प्रेमपूर्वक भजन ही नहीं होता फिर बुद्धियोग कहाँसे मिले । पापके कारण मनमें जो अनेकों प्रकारके मलिन विचार उठा करते हैं, एकान्तमें ध्यानके लिये बैठनेपर जो बुरे-बुरे भाव मनमें उत्पन्न होते हैं, यही मनकी मलिनता है । राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, अभिमान, कपट, ईर्ष्या आदि दुर्गुण और दुर्भाव मलके ही कारण होते हैं । जिस व्यक्तिमें ये दोष जितने अधिक हैं, उसका चित्त उतना ही मलसे आच्छन्न है ।

मल-दोषके नाशके लिये कई उपाय बतलाये गये हैं । इनमेंसे प्रधान दो हैं—भगवान्के नामका जप और निष्काम कर्म । भगवान्का नाम पापके नाशमें जादूका-सा काम करता है । नाममें पाप-

नाशकी अपरिमेय शक्ति है । परन्तु नाममें प्रीति, श्रद्धा और विश्वास होना चाहिये । जैसे लोभी व्यापारीका एकमात्र ध्येय रुपया पैदा करना और इकट्ठा करना होता है और वह जैसे निरन्तर उसी ध्येयको ध्यानमें रखकर सब काम करता है, ठीक इसी प्रकार भगवत्प्रेमका लक्ष्य बनाकर हमें रामनामरूपी सच्चा धन एकत्र करना चाहिये--

कबिरा सब जग निरधना, धनवंता नहिं कोय ।
धनवंता सो जानिये, जाके रामनाम धन होय ॥

इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगसे भी मलका नाश होता है । निष्काम कर्मयोगके प्रधान दो भेद हैं—भक्तिप्रधान कर्मयोग और कर्म-प्रधान कर्मयोग । पहलेमें भक्ति मुख्य होती है और दूसरेमें कर्मकी मुख्यता होती है । इन दोनोंमें भक्तिप्रधान कर्मयोग विशेषरूपसे श्रेष्ठ है । वास्तवमें दोनोंमें ही भगवत्-प्रीति ही लक्ष्य है । अन्य कोई भी स्वार्थ नहीं है । स्वार्थका अभाव हुए विना कर्मयोग बनता ही नहीं । फलासक्तिको त्याग कर भगवत्प्रेमके लिये जो शास्त्रोक्त कर्म किये जाते हैं, उन्हींको निष्काम कर्मयोग समझना चाहिये । इस निष्काम कर्मयोगसे हमारे मनके मलरूप दुर्गुणों और दुराचारोंका नाश होकर सद्‌गुण, सदाचार, शान्ति और सुखकी प्राप्ति होती है । सात्त्विक भावों और गुणोंका परम विकास होता है । इस प्रकार मलदोषका नाश होनेपर विक्षेप अपने आप ही मिट जाता है और चित्त परम निर्मल और शान्त होकर भगवान्‌की भक्तिमें लग जाता है । तदनन्तर भगवत्कृपासे आवरणका भंग हो जाता है । आवरणका नाश होते ही परमानन्दकी प्राप्ति होती है और मानवजीवन सफल हो जाता

है। मुक्ति अथवा भगवत्साक्षात्कार करनेके लिये निष्कामभावसे की हुई भगवान्‌की भक्तिसे बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं है। हमारा लक्ष्य यही रहे कि भगवान्‌में हमारा अनन्य प्रेम हो। इसीके लिये तत्परतासे चेष्टा हो। सफलता चाहनेवाले सभी लोग अपना लक्ष्य बनाकर चलते हैं, सब अपने जीवनका एक ध्येय रखते हैं और अपनी बुद्धिके अनुसार उसी ध्येयको परम श्रेष्ठ, सर्वोत्तम मानते हैं। ध्येयमें सर्वश्रेष्ठ बुद्धि न होगी तो उस ओर बढ़ना कठिन ही नहीं, असम्भव है। संसारमें सबसे बढ़कर हमारा लक्ष्य हो, उस लक्ष्यसे विचलित करनेवाला राग-द्वेषसे उत्पन्न हुआ मोह है क्योंकि मोहके वश होकर हम अपने यथार्थ लक्ष्यको नहीं देख पाते—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥

(गीता ७। २७)

'हे भारत! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञानताको प्राप्त हो रहे हैं।' यह प्रायः सभी प्राणियोंकी दशा है।

बहुत-से भाई यह कहते सुने जाते हैं कि इतने दिनोंसे साधन कर रहा हूँ पर भगवत्प्राप्ति नहीं होती। इसका एकमात्र कारण यही है कि मन-बुद्धि पवित्र और स्थिर नहीं हैं। साधनकी सफलता मन-बुद्धिकी पवित्रता और स्थिरतापर ही निर्भर है। मन और बुद्धि पवित्र और स्थिर नहीं हैं तो फिर साधनका फल प्रत्यक्ष होगा ही कैसे? निष्ठापूर्वक साधनसे ही मन और बुद्धिमें निर्मलता तथा

स्थिरता आती है। मन और इन्द्रियाँ शुद्ध और स्थिर होकर भगवत्-में प्रवेश कर जायँ इसके लिये पहले आवश्यकता इस बातकी है कि मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें किया जाय। जबतक ये काबूमें नहीं आते तबतक भगवान्‌के स्वरूपमें स्थिर होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो नहीं सकती।

महर्षि पतञ्जलिने मनको वशमें करनेका उपाय बतलाया है—अभ्यास और वैराग्य। इससे चित्त वशमें होता है। वृत्तियाँ एकाग्र होती हैं और चित्तका 'निरोध' होता है। यही भाव भगवान्‌ने गीतामें व्यक्त किया है—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(६। ३५)

'अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है।' जिसका चित्त संयत है वही प्रयत्न करनेपर भगवान्‌की प्राप्ति कर सकता है। व्यभिचारिणी वृत्तियोंसे भगवान्‌को पकड़ना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव-सा है।

जबतक चित्तमें विषयासक्ति है, तबतक चित्तका वशमें होना कठिन है। विषयासक्तिके नाशके लिये वैराग्य ही प्रधान उपाय है। विचार करना चाहिये कि संसारके विषय सभी दुःखरूप हैं। भगवान्‌ने संसारके भोगोंको दुःखमूलक और क्षणिक बतलाकर यह कहा है कि बुधजन इनमें नहीं रमते—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

अतएव बुद्धिमान् मनुष्योंको विचार करना चाहिये कि जब मूर्ख ही इन विषयोंमें रमते हैं तब हम समझदार कहलाते हुए मूर्ख क्यों बनें ? विषयोंमें जो रमता है वह मूर्ख इसलिये है कि उसका समय और धन व्यर्थ जाता है, जीवन पापमय होता है और पापके कारण उसे दुःख उठाना पड़ता है।

जो मनुष्य अपने आप दुःखका कारण बनता है वही मूर्ख है। इसलिये चित्तकी वृत्तियोंको विषयोंसे बराबर हटाते रहना चाहिये। संसारके जितने भोग हैं उनमें दुःख और दोषका दर्शन करे। यद्यपि मोह और आसक्तिके कारण विषय अमृतके समान सुखकारी लगते हैं परन्तु परिणाममें विषके समान घातक हैं, प्राण हर लेनेवाले हैं, लोक-परलोक बिगाड़नेवाले हैं। विषयोंका भोक्ता संसारमें बार-बार जन्मता-मरता है और नाना प्रकारके दुःखोंमें घुलता रहता है। विषयोंका भोग विष-भक्षणसे भी अधिक बुरा है। विचारके द्वारा विषयोंमें जो केवल दुःख-ही-दुःख देखता है वही बुद्धिमान् है। दोष-दर्शनका अभिप्राय यही है कि सारे विषय अत्यन्त अपवित्र हैं, घृणा करने लायक हैं; और उनमें रमना पाप है। साथ ही यह भी विचार करना चाहिये कि यदि ये विषय कदाचित् स्थायी होते तो सदा सुख देनेवाले समझे जा सकते, परन्तु ये क्षणभङ्गुर हैं; पल-पलमें इनका रूप बदलता रहता है।

इसके सिवा इनमें सुख भी क्षणिक ही होता है (यद्यपि वह भी भ्रमसे ही होता है)। क्षणभरके लिये सुख देकर महान् दुःखके सागरमें डुबा जाते हैं। वे यदि वस्तुतः सुखरूप होते तो सदा ही सुखरूप ही होते। अतएव विषय अनित्य हैं, अस्थायी हैं, असुख हैं, विषरूप हैं, नरकमें गिरानेवाले हैं। विषयोंके प्रति जो हमारी रागदृष्टि है और वैराग्यके प्रति जो हमारी विरक्ति है इसीके कारण सारी व्यवस्था उलटी हो गयी है और विषयोंमें हमें सुख भासता है और वैराग्यमें दुःख।

असलमें तो नित्य न होनेके कारण विषय सर्वथा असत् हैं।

विषयोंकी यह अनित्यता और उनका असत्पन प्रत्यक्ष देखते हुए और अनुभव करते हुए भी हम उनके उपभोगके लिये प्रवृत्त होते हैं, यही हमारी मूर्खता है। इस मूर्खताको विचारसे हटाना चाहिये। विचारसे विवेक उत्पन्न होगा और फिर विवेकसे ही वैराग्यका शुभोदय होगा। इस दृढ़ वैराग्यशस्त्रसे विषयरूप संसार-वृक्षको काटना गन्नेको काटनेके समान सुगम सहज हो जाता है। विषयोंकी ओर वृत्तियोंका कदापि न जाना, उनसे परम उपरामता हो जाना, उनका चिन्तन न होना ही इनका काटना है। सारे अनर्थोंकी उत्पत्ति इन्हींके चिन्तनसे होती है। भगवान्ने कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २। ६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है तथा क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है और स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है ।'

सत्ता और आसक्तिको लेकर विषयोंका चिन्तन करना ही गिरनेका कारण है । नाशवान्, क्षणभङ्गुर और अनित्य समझकर इनको दुःखका कारण समझें तो ये हमें स्पर्श भी नहीं कर सकते ।

भगवान्ने गीतामें बतलाया है—जिसके सारे कर्म और सारे पदार्थोंमें आसक्ति नहीं है वही सर्वसंकल्पोंका संन्यासी है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥

(गीता ६ । ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है ।'

जिसका मन पदार्थों और कर्मोंमें आसक्त नहीं होता वही योगी है । क्रिया करता है पर आसक्त नहीं होता । स्फुरणा हो पर आसक्ति नहीं, ऐसा सर्वसंकल्पोंका त्यागी ही योगारूढ़ है । इससे यही सिद्ध हुआ कि पदार्थोंको क्षणभङ्गुर, नाशवान् समझ

लेनेपर उनका स्मरण होना स्फुरणामात्र है अतएव यह अनर्थकारी नहीं है। सत्ता होनेपर ही आसक्ति होती है, असत् अर्थात् अभावमें आसक्ति नहीं होती। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि ये चराचर जीव भी असत् हैं; वे असत् नहीं हैं। कार्यरूप हमारा यह शरीर असत् है, क्षणभङ्गुर है, नाशवान् है, आदि और अन्तवाला है। जो असत् है उसका भाव नहीं होता, जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं होता। भगवान्‌ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

तथा—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥*

(गीता २। १८)

देह नाशवान् है पर देही (आत्मा) अविनाशी है। देह असत् है, देही सत् है। देहके सभी पदार्थ अनित्य और क्षणभङ्गुर हैं। संसारमें जो कुछ भी सत्ता-स्फूर्ति हम देख रहे हैं वह सब परमात्माकी ही है। वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा नित्य है, शाश्वत है, सनातन है, अव्यय है। उसी एकसे सब सत्ता, सब स्फूर्ति है। सारी चेतना और स्फुरणा उसीकी है। वही नित्य-सत्यस्वरूप है। संसारकी सत्ताके मूलमें परमात्माका निवास है। यह सारी दमकती हुई चेतनता परमात्माकी स्फूर्ति है। यह सब परमात्माका स्वरूप

---

* इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर।

है। सबके नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता। वह सर्वदा, सर्वत्र प्रत्यक्ष विद्यमान है। ऐसे उस परमेश्वरकी शरण ग्रहण करके आनन्दके समुद्रमें गोते लगाना चाहिये। इसके लिये प्रभुने कई उपाय बतलाये हैं—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३। २४-२५)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं। परन्तु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

महात्माजन क्या उपाय बतलाते हैं? वे किसी एकके अंग-मात्रको बतला दें—उस एक अंगमात्रके साधनसे भी उस साधकका कल्याण हो जाता है।

छान्दोग्य-उपनिषद्‌में उद्दालकने सत्यकामको गौओंकी सेवा ब्रह्मज्ञानके लिये बतलायी। केवल गौओंकी सेवामात्रसे सत्यकामको भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी। महात्माके द्वारा बतलाये जानेके कारण

गौकी सेवा ही परम साधन हो गया । महर्षि पतञ्जलिके बतलाये हुए अष्टांगयोगमेंसे भी किसी एक अंग अथवा किसी उपांगमात्रसे भी ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है । केवल ध्यानसे या प्राणायामसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है । नियमके एक अंग स्वाध्याय अथवा ईश्वरप्रणिधानसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है ।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा । (योग० १ । २३)

अतएव इससे यही प्रमाणित हुआ कि एक अंग अथवा एक उपांगसे भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है । हृदयको पवित्र, मन-बुद्धिको स्थिर करनेके लिये शास्त्रोंमें बतलाये हुए विभिन्न मार्गोंमेंसे किसी भी मार्गको निश्चित कर प्राणपणसे प्रयत्न करना चाहिये । भगवत्कृपासे विजय निश्चित है, सफलता मिलेगी ही ।

बारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने यह बतलाया है कि जो मेरे परायण हुए भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मेरेमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही तैलधाराके सदृश अनन्य ध्यानयोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, उन मेरेमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूपी संसारसागरसे उद्धार कर देता हूँ । इसके अनन्तर भगवान्‌ने अर्जुनको उपदेश दिया कि तू मेरेमें मन लगा, मेरेमें ही बुद्धिको लगा, इसके अनन्तर तू मेरेमें ही निवास करेगा अर्थात् मेरेको ही प्राप्त होगा इसमें कुछ भी संशय नहीं है । फिर यदि तू मनको अचलरूपसे मुझमें नहीं लगा सकता तो अभ्यासके द्वारा मेरेको प्राप्त होनेके लिये इच्छा कर । यदि तू इस अभ्यासको करनेमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो । इस

प्रकार मेरे अर्थ कर्मोंको करता हुआ मुझे ही प्राप्त होगा, यदि इसको भी करनेमें तू अपनेको असमर्थ पाता है तो सब कर्मोंके फलका त्याग कर। ऐसे त्यागसे तत्काल ही परमशान्ति होती है।

ऊपरके अवतरणमें भगवान्‌ने साधनाके विभिन्न मार्ग सुझाये हैं। जिसको जो रुचे, जिसकी जैसी योग्यता हो वह उसीको कर सकता है। इसी प्रकार चौथे अध्यायमें भी भगवान्‌ने यज्ञके नामसे साधनकी कई युक्तियाँ और मार्ग बतलाये हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥

(गीता ४। २४—३०)

'जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्त्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले पुरुषद्वारा प्राप्त किये जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही है। दूसरे योगीजन देवताओंके पूजनरूप यज्ञका ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं और अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें अभेददर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मारूप यज्ञका हवन किया करते हैं। अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियोंको संयमरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं और दूसरे योगीलोग शब्दादि समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं। दूसरे योगीजन इन्द्रियों-की सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं। कई पुरुष द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ करनेवाले हैं, कितने ही तपस्यारूप यज्ञ करनेवाले हैं तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करनेवाले हैं और कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं। दूसरे कितने ही योगीजन अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायुमें अपानवायुको हवन करते हैं तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करनेवाले—प्राणायामपरायण पुरुष प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन किया करते हैं। ये सभी साधक यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश कर देनेवाले और यज्ञोंको जाननेवाले हैं।'

ऊपरके श्लोकोंमें भगवान्ने साधनाके भिन्न-भिन्न मार्ग तथा

कल्याणके अनेक उपाय बतलाये हैं। इनमेंसे किसी एकको भी चरितार्थ करनेवाला व्यक्ति परमात्माको प्राप्त कर सकता है। यहाँ 'यज्ञ' शब्द साधनका वाचक है जिसके द्वारा सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा—इन्हीं दोके भेद विस्तारसे बतलाये गये हैं। इनके अनेक अंग-उपांग हैं। उनमेंसे एक किसी भी मार्गका साधन महात्मा पुरुष बतला दें तो हम संसार-सागरसे तर जायँ और हमें भगवत्की प्राप्ति हो जाय। कर्मयोग और सांख्य-योगके साधनोंसे जो अध्यात्मपथमें प्रवेश करते हैं उनकी सफलता तो निश्चित है ही। पर संत महापुरुषोंके बतलाये हुए किसी भी एक मार्गका जो अनुसरण करते हैं वे भी परमपदको प्राप्त हो जाते हैं।

ऊपर बताये हुए साधनोंमेंसे किसी एक साधनका अवलम्बन करनेसे मल, विक्षेप और आवरणका सर्वथा नाश हो जाता है अर्थात् उसके सारे दुर्गुण, दुराचार, दुःख और विघ्नोंका एवं मोहका अत्यन्त अभाव हो जाता है और मन, बुद्धि स्थिर होकर भगवत्कृपासे भगवत्तत्त्वको जानकर साधक परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त हो जाता है।



आचरण करनेयोग्य पचीस बातें



१–सन्ध्या अत्यन्त प्रेमपूर्वक करनी चाहिये; अर्थपर ध्यान रखते हुए गायत्रीमन्त्रका जप करना चाहिये तथा 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे' इस मन्त्रका भी प्रेम और भक्तिपूर्वक जप-कीर्तन करना चाहिये।

२–सब भाइयोंको गीताका अर्थ समझनेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। गीताका खूब अभ्यास करे; जिस समय पाठ करे उस समय अर्थपर खूब ध्यान रक्खे। पहले अर्थ पढ़ ले, पीछे श्लोक पढ़े।

३–अपने घरपर रहते हुए भी हर एक भाईको एकान्तसेवन करते रहना चाहिये। एकान्तमें भगवान्‌का ध्यान करे। पहले विचार करे कि आत्माका कल्याण कैसे होगा। यदि कोई विचार न सूझे तो भगवान्‌से प्रार्थना करे—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

(गीता २।७)

'कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला और धर्मके विषय-में मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चय ही कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।'

—इस श्लोकके अनुसार शरण होकर रुदन करे। फिर ध्यान करे। ध्यानके लिये अलग कमरा रखे, उसके लिये आसन भी अलग ही होना चाहिये।

४—सेवाका अभ्यास डालना चाहिये। हमलोगोंमें सेवाका अभ्यास बहुत कम है। अपने घरपर आये हुए अतिथिका खूब सत्कार करना चाहिये। यदि कोई सत्संगी मिले तो उससे भगवद्वि-षयक प्रश्न करे। भगवत्सम्बन्धी बातोंकी खोजमें खूब तत्परतासे रहे। यदि कोई सत्संग करके आया हो अथवा कोई सत्संगसम्बन्धी पत्र मिला हो तो आपसमें मिलकर चर्चा करनी चाहिये। गीताके श्लोकोंमें कोई नयी बात जान पड़े तो उसे कण्ठस्थ कर ले।

५—जो साधन बतलाया गया हो उसे कठिन न समझे। सदा ऐसा साहस रक्खे कि दुर्गुण-दुराचार आ ही कैसे सकता है? यदि हम सावधान रहेंगे तो चोर हमारे घरमें कैसे घुस सकता है?

६—डाक्टरी दवा नहीं लेनी चाहिये। डाक्टरी दवासे बहुत अधिक हानि होती है। बाजारकी मिठाई, पूड़ी, दूध, दही, चाह आदि नहीं खाने चाहिये। भाँग आदि मादक द्रव्योंको भी त्याग देना चाहिये।

७-वास्तविक बात यह है कि सत्संगमें जितनी बातें बतलायी

जाती हैं यदि उनकी धारणा कर ले, उनका नियम-सा कर ले तो अवश्य सुधार हो जाय।

८—रसोई पवित्रतासे बनानी चाहिये। बालक आदि रसोईघरमें न जाने चाहिये। रसोई बनाते समय धुले हुए वस्त्र धारण करे। आहार शुद्ध होनेसे मन भी शुद्ध होता है। 'जैसा खावे अन्न तैसा बने मन।' मुख्यतासे अन्न तीन प्रकारसे पवित्र होता है—सात्त्विक कमाईसे, पवित्रतापूर्वक तैयार करनेसे तथा सात्त्विक भोजन होनेसे।

९—वाणीके संयमपर खूब ध्यान रखना चाहिये। सदा विचार-कर बोले। वाणीके तपका बहुत बड़ा महत्त्व है। नेत्रोंके संयमकी भी बड़ी आवश्यकता है। संसारी पदार्थोंकी ओर नेत्रोंको न जाने दे, ऐसा न हो, तो स्त्रियोंकी ओर तो उनकी प्रवृत्ति होने ही न दे। यदि चले जायँ तो उपवास करे। ऐसा करनेसे अच्छा सुधार हो सकता है। हाथोंका भी संयम करे, उनसे कोई कामोद्दीपक कुचेष्टा न करे, कामवृत्तिको जड़से उखाड़ डाले। क्रोधको तो ऐसा जीते कि सामनेवाला मनुष्य कितना ही उत्तेजित हो जाय, स्वयं शान्त ही रहे।

१०—दूसरोंका उपकार करनेकी आदत डालनी चाहिये। यह बड़े महत्त्वकी बात है कि अपनेसे किसीका उपकार बन जाय। किन्तु वह उपकार होना चाहिये उदारता और दयाबुद्धिसे।

११—प्रत्येक मनुष्यके साथ जो व्यवहार किया जाय उसमें स्वार्थदृष्टिको त्याग देना चाहिये। व्यवहार स्वार्थसे ही बिगड़ता है। एक स्वार्थके त्याग देनेसे ही व्यवहार सुधर जाता है।

१२–लोगोंसे छोटे-छोटे जीवोंकी बहुत हिंसा होती है । हमें चलने, हाथ धोने, कुल्ला करने तथा मल-मूत्र त्याग करनेमें इस बातका ध्यान रखना चाहिये । हम इन जीवोंके जीवनका कुछ मूल्य नहीं समझते । किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि इस उपेक्षाके कारण बदलेमें हमें भी ऐसी ही निर्दयताका शिकार होना पड़ेगा । जो मनुष्य जीवोंकी हिंसाका कानून बनाता है उसे तरह-तरहके कष्ट उठाने पड़ेंगे । यदि कोई पुरुष कुत्तेको रोटी देना बंद करेगा तो उसे भी कुत्ता बनकर भूखों मरना पड़ेगा । यदि किसीने म्युनिसिपलिटीमें कुत्तोंको मारनेका कानून बनाया तो उसे भी कुत्ता बनकर निर्दयतापूर्वक मृत्युका सामना करना पड़ेगा । कसाइयोंकी तो बड़ी ही दुर्दशा होगी । धन्य है उन राजाओंको जिनके राज्यमें हिंसा नहीं थी ।

१३–सूर्योदयसे पूर्व प्रातः-सन्ध्या और सूर्यास्तसे पूर्व सायं-सन्ध्या नियमानुसार आदर और प्रेमपूर्वक करनी चाहिये । सन्ध्यासे लाभ नहीं मालूम होता इसमें हमारे श्रद्धा और प्रेमकी न्यूनता ही कारण है ।

१४–व्यापारमें नियम कर ले कि मुझे झूठ या कपटका व्यवहार नहीं करना है । खानेको न मिले तो भी कोई परवा मत करो । मेरा तो विश्वास है कि सचाईका व्यवहार जैसा चलता है वैसा झूठ-कपटका कभी नहीं चल सकता । पहले मिथ्या भाषण किया है, इसलिये आरम्भमें लोग विश्वास नहीं करते; सो कोई चिन्ता नहीं, पहले कियेका प्रायश्चित्त भी तो करना ही चाहिये । यदि यह सूत्र याद रक्खा जाय कि 'लोभ ही पापका मूल है' तो व्यवहारमें पाप नहीं हो सकता ।

१५–हमारे साथ पथप्रदर्शकरूपसे गीतादि शास्त्रोंके रहते हुए भी यदि हमारी दुर्गति हो तो बड़ी लज्जाकी बात है। श्रीमद्भगवद्गीता-की ध्वजा फहरा रही है; फिर हमारी अवनति क्यों होनी चाहिये? हमें भजन करनेकी स्वतन्त्रता है; फिर संसारमें भगवान्‌का नाम रहते हुए भी हमारी दुर्गति क्यों हो।

१६–कुसंग कभी न करना चाहिये। जो पुरुष विषयी, पामर, दुराचारी, पापी या नास्तिक हैं उनका संग कभी न करे और न उन्हें अपने पड़ोसमें ही बसावे। उनसे सर्वदा दूर रहे। वे प्लेगकी बीमारीके समान हैं। इसलिये उनके आचरण और दुर्गुणोंसे घृणा करे, किन्तु उनसे घृणा न करे।

१७–किसी भी प्रकारका न्याय करना हो तो समदृष्टि रखे; यदि विषमता करनी हो तो अपने पक्षमें पौने सोलह आने रक्खे और विपक्षके लिये सवा सोलह आने।

१८–यदि कोई कठिन कार्य आकर प्राप्त हो तो उसे स्वयं करनेको तैयार हो जाय।

१९–हानि-लाभ, जय-पराजय एवं सुख-दुःखादिमें समानरूपसे ईश्वरकी दयाका दर्शन करे।

२०–ईश्वरकी प्राप्तिमें खूब विश्वास रक्खे। ऐसा विचार करे कि मेरे और कोई आधार नहीं है, केवल भगवान्‌की दयालुता देख-कर मुझे पूरा भरोसा है कि वे अवश्य मेरी भी सुधि लेंगे।

२१–सब प्रकारके विषयोंको विषके समान त्याग देना चाहिये। विष मिला हुआ मधुर पदार्थ भी सेवन करने योग्य नहीं

होता, इसी प्रकार विषय सुखरूप जान पड़ें तो भी त्याज्य ही हैं।

२२–ज्ञान या प्रेम किसी भी मार्गका अवलम्बन करके उत्तरोत्तर उन्नति करता चला जाय। कलकी अपेक्षा आज कुछ-न-कुछ साधन बढ़ा ही देना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर उन्नति करे। चलते-फिरते, उठते-बैठते किसी भी समय एक मिनटके लिये भी भगवान्‌को न भूले। भगवान् कहते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

(गीता ८। ७)

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।

(गीता ८। १४)

२३–भगवान्‌की दया और प्रेमका स्मरण कर हर समय भगवत्प्रेममें मुग्ध और निर्भय रहे। भगवच्चिन्तनमें खूब प्रेम और श्रद्धाकी वृद्धि करे। यह बड़ी ही मूल्यवान् चीज़ है।

२४–कुतर्क करनेवालोंसे विशेष बातें नहीं करनी चाहिये। अपने हृदयकी गूढ़ और मार्मिक बातें हर किसीसे नहीं कहनी चाहिये।

२५–अपने गुणोंको छिपावे तथा किसीकी निन्दा-स्तुति न करे। करनी ही हो तो स्तुति भले ही करे, निन्दा अपनी की जा सकती है, स्तुति करनेके योग्य तो केवल एक परमात्मा ही है।



अमूल्य वचन



'सात्त्विक आचरण और भगवान्‌की विशुद्ध भक्तिसे अन्तः-करणकी शुद्धि होनेपर जब भ्रम मिट जाता है, तभी साधक कृतकृत्य हो जाता है।'

'भगवान् गुणातीत हैं, बुरे-भले सभी गुणोंसे युक्त हैं और केवल सद्‌गुणसम्पन्न हैं।'

'भगवान् चाहे जैसे, चाहे जब, चाहे जहाँ, चाहे जिस रूपमें प्रकट हो सकते हैं।'

'चराचर ब्रह्माण्ड ईश्वर है, उसकी सेवा ईश्वरकी सेवा है। संसारको सुख पहुँचाना परमात्माको सुख पहुँचाना है।'

'निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक विधिसहित जप करनेवाला साधक बहुत शीघ्र अच्छा लाभ उठा सकता है ।'

'भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी विशुद्ध प्रेमभक्ति और भगवत्-साक्षात्कारके सिवा अन्य किसी भी सांसारिक वस्तुकी कामना, याचना या इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये ।'

'भगवान्‌में सच्चा प्रेम होने तथा भगवान्‌की मनोमोहिनी मूर्तिके प्रत्यक्ष दर्शन मिलनेमें विश्वास ही मूल कारण है ।'

'निराकार-साकार सब एक ही तत्त्व है ।'

'वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वसमर्थ, सर्वसाक्षी, सत्, चित्, आनन्दघन परमात्मा ही अपनी लीलासे भक्तोंके उद्धारके लिये भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करके अनेक लीलाएँ करता है ।'

'उस परमात्माके शरण होना साधकका कर्तव्य है, शरण होनेके बाद तो प्रभु स्वयं ही सारा भार सँभाल लेते हैं ।'



ब्राह्मणत्वकी रक्षा परम आवश्यक है

हिन्दूजातिकी आज जो दुर्दशा है, वह पराधीन है, दीन है, दु:खी है और सभी प्रकारसे अवनत है; इसके कारणपर विचार करते समय आजकल कुछ भाई ऐसा मत प्रकट किया करते हैं कि 'वर्णाश्रम-धर्मके कारण ही हिन्दूजातिकी ऐसी दुर्दशा हुई है। वर्णाश्रमधर्म न होता तो हमारी ऐसी स्थिति न होती।' परन्तु विचार करनेपर मालूम होता है कि इस मतको प्रकट करनेवाले भाइयोंने वर्णाश्रम-धर्मके तत्त्वको वस्तुतः समझा ही नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि जबतक इस देशमें वर्णाश्रम-धर्मका सुचारुरूपसे पालन होता था, तबतक देश स्वाधीन था तथा यहाँपर प्रायः सभी प्रकारकी सुख-समृद्धि थी। जबसे वर्णाश्रम-धर्मके पालनमें अवहेलना होने लगी, तभीसे हमारी दशा बिगड़ने लगी। इतनेपर भी वर्णाश्रम-

धर्मकी दृढ़ताने ही हिन्दूजातिको बचाये रक्खा। वर्णाश्रम न होता और उसपर हिन्दूजातिकी आस्था न होती तो शताब्दियोंमें होनेवाले आक्रमणोंसे और विजेताओंके प्रभावसे हिन्दूजाति अबतक नष्ट हो गयी होती !

पर-देशीय और पर-धर्मीय लोगोंकी सभ्यता, भाषा, आचार-व्यवहार, रहन-सहन और पोशाक-पहनाव आदिके अनुकरणने वर्णाश्रम-धर्मकी शिथिलतामें बड़ी सहायता दी है। पहले तो मुसल्मानी शासनमें हमलोग उनके आचारोंकी ओर झुके—किसी अंशमें उनके आचार-व्यवहारकी नकल की, परन्तु उस समयतक हमारी अपने शास्त्रोंमें, अपने पूर्वजोंमें, अपने धर्ममें, अपनी नीतिमें श्रद्धा थी, इससे उतनी हानि नहीं हुई, परन्तु वर्तमान पाश्चात्त्य शिक्षा, सभ्यता और संस्कृतिकी आँधीमें तो हमारी आँखें सर्वथा बन्द-सी ही हो गयीं। हम मानो आँखें मूँदकर—अन्धे होकर उनकी नकल करने लगे हैं। इसीसे वर्णाश्रम-धर्ममें आजकल बहुत शिथिलता आ गयी है। और यदि यही गति रही तो कुछ समयमें वर्णाश्रम-धर्मका बहुत ही ह्रास हो जायगा। और हमारा ऐसा करना अपने ही हाथों अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मारनेके समान होगा। धर्म और नीतिके त्यागसे एक बार भ्रमवश चाहे कुछ सुख-सा प्रतीत हो परन्तु वह सुखकी चमक उस बिजलीके प्रकाशकी चमकके समान है जो गिरकर सब कुछ जला देती है। धर्म और नीतिका त्याग करनेवाले रावण, हिरण्यकशिपु, कंस और दुर्योधन आदिकी भी एक बार बहुत कुछ उन्नति-सी दिखायी दी थी परन्तु अन्तमें उनका समूल विनाश हो गया !

दुःखकी बात है कि पाश्चात्त्य शिक्षा और संस्कृतिके मोहमें पड़कर आज हिन्दूजातिके अधिकांश पढ़े-लिखे लोग दूसरोंके आचार-व्यवहारका अनुकरण कर बोलचाल, रहन-सहन और खान-पानमें धर्मविरुद्ध आचरण करने लगे हैं और इसके परिणामस्वरूप वर्णाश्रम-धर्मको न माननेवाली, विधर्मी जातियोंमें विवाहादि सम्बन्ध स्थापित करके वर्णमें संकरता उत्पन्न कर रहे हैं। वर्णमें संकरता आनेसे जब वर्ण-धर्म, जाति-धर्म नष्ट हो जायगा तब आश्रम-धर्म तो बचेगा ही कैसे ? अतएव सब लोगोंको बहुत चेष्टा करके पाश्चात्त्य आचार-व्यवहारोंके अनुकरणसे स्वयं बचना और भ्रमवश अनुकरण करनेवाले लोगोंको बचाना चाहिये।

हिन्दू-सनातनधर्ममें अत्यन्त छोटेसे लेकर बहुत बड़ेतक सभी कार्योंका धर्मसे सम्बन्ध है। हिन्दूका जीवन धर्ममय है। उसका जन्मना-मरना, खाना-पीना, सोना-जागना, देना-लेना, उपार्जन करना और त्याग करना—सभी कुछ धर्मसंगत होना चाहिये। धर्मसे बाहर उसकी कोई क्रिया नहीं होती। इस धर्मका तत्त्व ही वर्णाश्रम-धर्ममें भरा है। वर्णाश्रम-धर्म हमें बतलाता है कि किसके लिये, किस समय, कौन-सा कर्म, किस प्रकार करना उचित है। और इसी कर्म-कौशलसे हिन्दू अपने इहलौकिक जीवनको सुखमय बिताकर अपने सब कर्म भगवान्‌के अर्पण करता हुआ अन्तमें मनुष्यजीवनके परम ध्येय परमात्माको प्राप्त कर सकता है। इस धर्ममय जीवनमें चार वर्ण हैं और उन चार वर्णोंमें धर्मकी सुव्यवस्था रखनेके लिये सबसे प्रथम ब्राह्मणका अधिकार और कर्तव्य माना गया

है । ब्राह्मण धर्म-ग्रन्थोंकी रक्षा, प्रचार और विस्तार करता है और उसके अनुसार तीनों वर्णोंसे कर्म करानेकी व्यवस्था करता है । इसीसे हमारे धर्म-ग्रन्थोंका सम्बन्ध आज भी ब्राह्मणजातिसे है और आज भी ब्राह्मणजाति धर्म-ग्रन्थोंके अध्ययनके लिये संस्कृत भाषा पढ़नेमें सबसे आगे है । यह स्मरण रखना चाहिये कि संस्कृत अनादि भाषा है और सर्वांगपूर्ण है । संस्कृतके समान वस्तुतः सुसंस्कृत भाषा दुनियामें और कोई है ही नहीं । आज जो संस्कृतकी अवहेलना है उसका कारण यही है कि संस्कृत राजभाषा तो है ही नहीं, उसे राज्यकी ओरसे यथायोग्य आश्रय भी प्राप्त नहीं है और तबतक होना बहुत ही कठिन भी है जबतक हिन्दू-सभ्यताके प्रति श्रद्धा रखनेवाले संस्कृतके प्रेमी शासक न हों । इसलिये जबतक वैसा नहीं होता, कम-से-कम तबतक प्रत्येक धर्मप्रेमी पुरुषका कर्तव्य होता है कि वह सनातन वैदिक वर्णाश्रम-धर्मकी रक्षाके हेतुभूत ब्राह्मणत्वकी और परम धर्मरूप संस्कृत ग्रन्थोंकी एवं संस्कृत भाषाकी रक्षा करे ।

धर्मग्रन्थ और संस्कृत भाषाकी रक्षा होनेसे ही सनातनधर्मकी रक्षा होगी परन्तु इसके लिये ब्राह्मणके ब्राह्मणत्वकी रक्षाकी सर्वप्रथम आवश्यकता है । आजकल जो ब्राह्मणजाति ब्राह्मणत्वकी ओरसे उदासीन होती जा रही है और क्रमशः वर्णान्तरके कर्मोंको ग्रहण करती जा रही है, यह बड़े खेदकी बात है । परन्तु केवल खेद प्रकट करनेसे काम नहीं होगा । हमें वह कारण खोजने चाहिये जिनसे ऐसा हो रहा है । इसमें कई कारण हैं । जैसे—

(१) पाश्चात्त्य शिक्षा और सभ्यताके प्रभावसे धर्मके प्रति अनास्था ।

(२) धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके लिये किये जानेवाले हमारे प्रत्येक कर्मका सम्बन्ध धर्मसे है और धार्मिक कार्यमें ब्राह्मणका संयोग सर्वथा आवश्यक है, इस सिद्धान्तको भूल जाना ।

(३) ज्ञानमार्गी और भक्तिमार्गी पुरुषोंके द्वारा, जो वस्तुतः ज्ञान और भक्तिके तत्त्वको नहीं जानते, ज्ञान और भक्तिके नामपर कर्मकाण्डकी उपेक्षा होना, और इसी प्रकार निष्काम कर्मके तत्त्वको न जानकर निष्काम कर्मकी बात कहनेवाले लोगोंद्वारा सकाम कर्मकी उपेक्षा करनेके भावसे प्रकारान्तरसे कर्मकाण्डका विरोधी हो जाना ।

(४) संस्कृतज्ञ ब्राह्मणका सम्मान न होना । शास्त्रीय कर्मकाण्डकी अनावश्यकता मान लेनेसे ब्राह्मणका अनावश्यक समझा जाना ।

(५) कर्मकाण्डके त्याग और राज्याश्रय न होनेसे ब्राह्मणकी आजीविकामें कष्ट होना और उसके परिवार-पालनमें बाधा पहुँचना ।

(६) त्यागका आदर्श भूल जानेसे ब्राह्मणोंकी भी भोगमें प्रवृत्ति होना और भोगोंके लिये अधिक धनकी आवश्यकताका अनुभव होना ।

(७) शास्त्रोंमें श्रद्धाका घट जाना ।

इस प्रकारके अनेकों कारणोंसे आज ब्राह्मणजाति ब्राह्मणत्वसे

विमुख होती जा रही है, जो वर्णाश्रम-धर्मके लिये बहुत ही चिन्ताकी बात है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि ब्राह्मणत्वकी रक्षा ब्राह्मणके द्वारा ही होगी। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने सदाचार, सद्गुण, भक्ति तथा ज्ञान आदिके प्रभावसे भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं परन्तु वे ब्राह्मण नहीं बन सकते। ब्राह्मण तो वही है जो जन्मसे ही ब्राह्मण है और उसीको वेदादि पढ़ानेका अधिकार है। मनु महाराजने कहा है—

अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः।
प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः॥

(मनु० १०। १)

'अपने-अपने कर्मोंमें लगे हुए (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों) द्विजाति वेद पढ़ें, परन्तु इनमेंसे वेद पढ़ावे ब्राह्मण ही, क्षत्रिय-वैश्य नहीं। यह निश्चय है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मणके विना वेदकी शिक्षा और कोई नहीं दे सकता। और वेदके विना वैदिक वर्णाश्रम-धर्म नहीं रह सकता, इसलिये ब्राह्मणकी रक्षा अत्यन्त आवश्यक है।

शास्त्रोंमें ब्राह्मणको सबसे श्रेष्ठ बतलाया है। ब्राह्मणकी बतलायी हुई विधिसे ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारोंकी सिद्धि मानी गयी है। ब्राह्मणका महत्त्व बतलाते हुए शास्त्र कहते हैं—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या्ँ शूद्रो अजायत॥

(यजुर्वेद ३१। ११)

'श्रीभगवान्‌के मुखसे ब्राह्मणकी, बाहुसे क्षत्रियकी, ऊरुसे वैश्यकी और चरणोंसे शूद्रकी उत्पत्ति हुई है।'

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद्ब्रह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः॥
तं हि स्वयम्भूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत्।
हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये॥

(मनु० १।९३-९४)

'उत्तम अंगसे (अर्थात् भगवान्‌के श्रीमुखसे) उत्पन्न होनेसे तथा सबसे पहले उत्पन्न होनेसे और वेदके धारण करनेसे ब्राह्मण इस जगत्‌का धर्मसे स्वामी होता है। ब्रह्माने तप करके हव्य-कव्य पहुँचानेके लिये और इस सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षाके लिये अपने मुखसे सबसे पहले ब्राह्मणको उत्पन्न किया।'

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात्।
संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः॥

(मनु० १०।३)

'जातिकी श्रेष्ठतासे, उत्पत्तिस्थानकी श्रेष्ठतासे, वेदके पढ़ने-पढ़ाने आदि नियमोंको धारण करनेसे तथा संस्कारकी विशेषतासे ब्राह्मण सब वर्णोंका प्रभु है।'

भगवान् श्रीऋषभदेवजी कहते हैं—

भूतेषु वीरुद्भ्य उदुत्तमा ये
सरीसृपास्तेषु सबोधनिष्ठाः।

ततो मनुष्याः प्रमथास्ततोऽपि
गन्धर्वसिद्धा विबुधानुगा ये ॥
देवासुरेभ्यो मघवत्प्रधाना
दक्षादयो ब्रह्मसुतास्तु तेषाम् ।
भवः परः सोऽथ विरिञ्चवीर्यः
स मत्परोऽहं द्विजदेवदेवः ॥
न ब्राह्मणैस्तुलये भूतमन्यत्
पश्यामि विप्राः किमतः परं तु ।
यस्मिन्नृभिः प्रहुतं श्रद्धयाह-
मश्नामि कामं न तथाग्निहोत्रे ॥
(श्रीमद्भा० ५ । ५ । २१—२३)

'समस्त भूतोंमें स्थावर (वृक्ष) श्रेष्ठ हैं । उनसे सर्प आदि कीड़े श्रेष्ठ हैं । उनसे बोधयुक्त पशु आदि प्राणी श्रेष्ठ हैं । उनसे मनुष्य और मनुष्योंसे प्रमथगण श्रेष्ठ हैं । प्रमथगणसे गन्धर्व और गन्धर्वोंसे सिद्धगण, सिद्धगणसे देवताओंके भृत्य किन्नर आदि श्रेष्ठ हैं । किन्नरों और असुरोंकी अपेक्षा इन्द्र आदि देवता श्रेष्ठ हैं । इन्द्रादि देवताओंसे दक्ष आदि ब्रह्माके पुत्र श्रेष्ठ हैं । दक्ष आदिकी अपेक्षा शंकर श्रेष्ठ हैं और शंकर ब्रह्माके अंश हैं, इसलिये शंकरसे ब्रह्मा श्रेष्ठ हैं । ब्रह्मा मुझे अपना परम आराध्य परमेश्वर मानते हैं, इसलिये ब्रह्मासे मैं श्रेष्ठ हूँ और मैं द्विजदेव ब्राह्मणोंको अपना देवता या पूजनीय समझता हूँ, इसलिये ब्राह्मण मुझसे भी श्रेष्ठ हैं । इस कारण ब्राह्मण सर्वपूज्य हैं; हे ब्राह्मणो ! मैं इस

जगत्‌में दूसरे किसीकी ब्राह्मणोंके साथ तुलना भी नहीं करता फिर उनसे बढ़कर तो किसीको मान ही कैसे सकता हूँ। ब्राह्मण क्यों श्रेष्ठ है? इसका उत्तर यही है कि मेरे ब्राह्मणरूप मुखमें जो श्रद्धापूर्वक अर्पण किया जाता है (ब्राह्मण-भोजन कराया जाता है) उससे मुझे परम तृप्ति होती है; यहाँतक कि मेरे अग्निरूप मुखमें हवन करनेसे भी मुझे वैसी तृप्ति नहीं होती!'

उपर्युक्त शब्दोंसे ब्राह्मणोंके स्वरूप और महत्त्वका अच्छा परिचय मिलता है। इसी प्रकार मनुमहाराजने भी कहा है—

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥
ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधि जायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये॥

(मनु० १। ९६, ९७, ९९)

'स्थावर जीवोंमें प्राणधारी श्रेष्ठ हैं, प्राणधारियोंमें बुद्धिमान्, बुद्धिमानोंमें मनुष्य और मनुष्योंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ कहे गये हैं। ब्राह्मणोंमें विद्वान्, विद्वानोंमें कृतबुद्धि (अर्थात् जिनकी शास्त्रोक्त कर्ममें बुद्धि है), कृतबुद्धियोंमें शास्त्रोक्त कर्म करनेवाले और उनमें भी ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण श्रेष्ठ है। उत्पन्न हुआ ब्राह्मण पृथ्वीपर सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि वह सब प्राणियोंके धर्मसमूहकी रक्षाके लिये समर्थ माना गया है।'

ब्राह्मणोंकी निन्दाका निषेध करते हुए भीष्मपितामह युधिष्ठिरसे कहते हैं—

परिवादं च ये कुर्युर्ब्राह्मणानामचेतसः।
सत्यं ब्रवीमि ते राजन् विनश्येयुर्न संशयः॥

(महा० अनु० ३३। १८)

'हे राजन्! जो अज्ञानी मनुष्य ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हैं, मैं सत्य कहता हूँ कि वे नष्ट हो जाते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।'

परिवादो द्विजातीनां न श्रोतव्यः कथञ्चन।
आसीताधोमुखस्तूष्णीं समुत्थाय व्रजेच्च वा॥
न स जातो जनिष्यन्वा पृथिव्यामिह कश्चन।
यो ब्राह्मणविरोधेन सुखं जीवितुमुत्सहेत्॥

(महा० अनु० ३३। २५-२६)

'ब्राह्मणोंकी निन्दा कभी नहीं सुननी चाहिये। यदि कहीं ब्राह्मण-निन्दा होती हो तो वहाँ या तो नीचा सिर करके चुपचाप बैठा रहे अथवा वहाँसे उठकर चला जाय। इस पृथ्वीपर ऐसा कोई भी मनुष्य न जन्मा है और न जन्मेगा ही जो ब्राह्मणोंसे विरोध करके सुखसे जीवन व्यतीत कर सके।'

इसपर यदि कोई कहे कि ब्राह्मणोंकी जो इतनी महिमा कही जाती है, यह उन ग्रन्थोंके कारण ही तो है, जो प्रायः ब्राह्मणोंके बनाये हुए हैं और जिनमें ब्राह्मणोंने जान-बूझकर अपने स्वार्थसाधन-के लिये नाना प्रकारके रास्ते खोल दिये हैं। तो इसका उत्तर यह

है कि ऐसा कहना वस्तुतः शास्त्र-ग्रन्थोंसे यथार्थ परिचय न होनेके कारण ही है। शास्त्रों और प्राचीन ग्रन्थोंके देखनेसे यह बात सिद्ध होती है, ब्राह्मणने तो त्याग-ही-त्याग किया। राज्य क्षत्रियोंके लिये छोड़ दिया, धनके उत्पत्तिस्थान कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य आदिको और धनभण्डारको वैश्योंके हाथ दे दिया। शारीरिक श्रमसे अर्थोपार्जन करनेका कार्य शूद्रोंके हिस्सेमें आ गया। ब्राह्मणोंने तो अपने लिये रक्खा केवल सन्तोषसे भरा हुआ त्यागपूर्ण जीवन !

इसका प्रमाण शास्त्रोंके वे शब्द हैं, जिनमें ब्राह्मणकी वृत्तिका वर्णन है—

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥

(मनु० ४। ४–६)

'ब्राह्मण ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत या सत्यानृतसे अपना जीवन बितावे परन्तु श्ववृत्ति अर्थात् सेवावृत्ति—नौकरी न करे। उञ्छ और शिल*को ऋत जानना चाहिये। विना माँगे मिला हुआ अमृत है। माँगी हुई भिक्षा मृत कहलाती है और खेतीको प्रमृत कहते हैं। वाणिज्यको सत्यानृत कहते हैं उससे भी जीविका चलाते हैं और

* खेतमें पड़े हुए अन्नके दाने बीननेको उञ्छ कहते हैं और धानोंकी फलियाँ बीननेको शिल कहते हैं।

सेवाको * श्ववृत्ति कहते हैं इसलिये उसका त्याग कर देना चाहिये।'

उपर्युक्त वृत्तियोंमें ब्राह्मणोंके लिये उञ्छ और शिल ये दो वृत्तियाँ सबसे उत्तम मानी गयी हैं। वेद पढ़ाना, यज्ञ करवाकर दक्षिणा ग्रहण करना, तथा बिना याचनाके दान लेना भी बहुत उत्तम अमृतके तुल्य कहा गया है। एवं भिक्षावृत्ति भी उनके लिये धर्मसंगत है। ब्राह्मणधर्मका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंके लिये अधिक-से-अधिक सालभरके अन्नका संग्रह करनेकी आज्ञा दी गयी है। जो एक माससे अधिक अन्नका संग्रह नहीं करता उसको उससे श्रेष्ठ माना है, उससे श्रेष्ठ तीन दिनके लिये अन्न संग्रह करनेवालेको, और उससे भी श्रेष्ठ केवल एक दिनका अन्न संग्रह करनेवालेको बताया गया है।

आपत्तिकालमें क्षत्रिय या वैश्यकी वृत्तिसे भी ब्राह्मण अपनी जीविका चलावे तो वह निन्दनीय नहीं है। धर्मशास्त्रका यही आदेश है। विडालवृत्ति और वकवृत्ति † ये दो वृत्तियाँ वर्जित हैं, इन दो

---

* नौकरीसे यहाँ अध्यापनादि कार्य नहीं लेना चाहिये। केवल शूद्रवृत्ति समझनी चाहिये।

† धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः।
वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधकः॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः।
शठो मिथ्याविनीतश्च वकव्रतचरो द्विजः॥

(मनु० ४। १९५-१९६)

दम्भी, सदा लोभी, कपटी, लोगोंको ठगनेवाले हिंसक और सबकी निन्दा करनेवालेको वैडालवृत्तिवाला जानना चाहिये। जिसकी दृष्टि नीचेकी

वृत्तियोंसे और श्ववृत्तिरहित उपर्युक्त किसी भी वृत्तिसे जीविका चलानेवाला ब्राह्मण पूजनीय और सेवनीय है। ब्राह्मणोंकी जीवननिर्वाहकी वृत्ति ही इतनी कठिन है, यही नहीं है। ब्राह्मणके जीवनका उद्देश्य और उसके जीवनकी स्थिति कितनी कठोर, तपोमयी और त्यागपूर्ण है, यह भी देखिये !

धृता तनूरुशती मे पुराणी
येनेह सत्त्वं परमं पवित्रम्।
शमो दमः सत्यमनुग्रहश्च
तपस्तितिक्षानुभवश्च यत्र॥
मत्तोऽप्यनन्तात्परतः परस्मा-
त्स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित्।
येषां किमु स्यादितरेण तेषा-
मकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम्॥
(श्रीमद्भा० ५।५।२४-२५)

'उन ब्राह्मणोंने इस लोकमें अति सुन्दर और पुरातन मेरी वेदरूपा मूर्तिको अध्ययनादिद्वारा धारण किया है। उन्हींमें परम

ओर रहती है, जो निष्ठुर, स्वार्थ-साधनमें तत्पर, शठ और मिथ्याविनयी है वह ब्राह्मण वकव्रती कहलाता है।

ये वकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः।
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा॥
(मनु० ४।१९७)

जो ब्राह्मण बगुलावृत्तिसे और विडालवृत्तिसे रहते हैं वे उस पापसे अन्धतामिस्रनामक नरकमें पड़ते हैं।

पवित्र सत्त्वगुण, शम, दम, सत्य, अनुग्रह, तप, सहनशीलता और अनुभव आदि मेरे गुण विराजमान हैं। वे ब्राह्मण द्वार-द्वारपर भिक्षा माँगनेवाले नहीं होते, साधारण मनुष्यसे कुछ माँगना तो दूर रहा, देखो मैं अनन्त हूँ और सर्वोत्तम परमेश्वर हूँ, एवं स्वर्ग और मोक्षका स्वामी हूँ, किन्तु मुझसे भी कुछ नहीं चाहते [उनके आगे राज्य आदि वस्तुएँ केवल तुच्छातितुच्छ पदार्थ ही नहीं विषतुल्य हैं]। वे अकिञ्चन (सर्वत्यागी) महात्मा विप्रगण मेरी भक्तिमें ही सन्तुष्ट रहते हैं।'

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न सुखाय कदाचन।
तपःक्लेशाय धर्माय प्रेत्य मोक्षाय सर्वदा॥

(बृहद्धर्मपुराण उत्तरखण्ड २। ४४)

'ब्राह्मणकी देह विषयसुखके लिये कदापि नहीं है, वह तो सदा-सर्वदा तपस्याका क्लेश सहने, धर्मका पालन करने और अन्तमें मुक्तिके लिये ही उत्पन्न होती है।'

इसी प्रकार भागवतमें कहा है—

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥

(११। १७। ४२)

'ब्राह्मणका यह शरीर क्षुद्र विषयभोगोंके लिये नहीं है, यह तो जीवनभर कठिन तपस्या और अन्तमें आत्यन्तिक सुखरूप मोक्षकी प्राप्तिके लिये है।'

इससे पता चलता है कि ब्राह्मणका जीवन कितना महान्

तपसे पूर्ण है । वह अपने जीवनको साधनमय रखता है । जिस मान-सम्मानको सब लोग चाहते हैं, ब्राह्मण उस मानसे सदा डरता है और अपमानका स्वागत करता है—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥

(मनु० २ । १६२)

'ब्राह्मणको चाहिये कि वह सम्मानसे सदा विषके समान डरता रहे और अपमानकी अमृतके समान इच्छा करता रहे ।'

इतना ही नहीं, उसकी साधनामें जरा-सी भूल भी क्षम्य नहीं है—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥

(मनु० २ । १०३)

'जो ब्राह्मण न प्रातःकालकी सन्ध्या करता है और न सायं-सन्ध्या करता है वह ब्राह्मणोंके सम्पूर्ण कर्मोंसे शूद्रके समान बहिष्कार कर देनेयोग्य है ।'

ऐसे तप, त्याग और सदाचारकी मूर्ति ब्राह्मणको स्वार्थी बतलाना अनभिज्ञताके साथ ही उसपर अयथार्थ दोषारोपण करनेके अपराधके सिवा और क्या है ?

अतएव धर्मपर श्रद्धा रखनेवाले क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र प्रत्येकका यह कर्तव्य होना चाहिये कि वे दान, मान, पूजन आदिसे ब्राह्मणोंका सत्कार करें, सेवा और सद्व्यवहारके द्वारा ब्राह्मणोंको अपने

ब्राह्मणत्वके गौरवकी बात याद दिलाकर उन्हें ब्राह्मणत्वकी रक्षाके लिये उत्साहित करें, शास्त्रीय कर्म, षोडश संस्कार (इनमें अधिक-से-अधिक जितने हो सकें), सकाम-निष्काम कर्मानुष्ठान, देवपूजन आदिके द्वारा ब्राह्मणोंकी सम्मानरक्षा और उनकी आजीविकाकी सुविधा कर दें, स्वयं ब्राह्मणोंकी जीविका कदापि न करें, जहाँतक हो सके संस्कृत भाषाका आदर करें, और अपने बालकोंको अधिकारानुसार ब्राह्मणोंके द्वारा संस्कृतका जानकार बनावें, संस्कृत पाठशालाओंमें वृत्ति देकर ब्राह्मणबालकोंको पढ़ावें। धर्मग्रन्थोंमें श्रद्धा करके धर्मानुष्ठानका अधिकारानुसार प्रचार करें और शास्त्रोक्त रीतिसे जिस किसी प्रकारसे भी ऐसी चेष्टा करते रहें, जिसमें ब्राह्मणोंको आजीविकाकी चिन्ता न हो, उनके शास्त्रज्ञ होनेसे उनका आदर बढ़े और ब्राह्मणत्वमें उनकी श्रद्धा बढ़े। क्योंकि ब्राह्मणत्वकी रक्षाके लिये—जो वर्णाश्रमधर्मका प्राण है—स्वयं भगवान् पृथ्वीतलपर अवतार लिया करते हैं।

ब्राह्मणसेवा और ब्राह्मणोंको दान देनेका क्या महत्त्व है, उससे किस प्रकार अनायास ही अर्थ, धर्म, काम, मोक्षकी सिद्धि होती है। इसपर नीचे उद्धृत थोड़ेसे शास्त्रवचनोंको देखिये। महाराज पृथु कहते हैं—

यत्सेवयाशेषगुहाशयः स्वराड्-
विप्रप्रियस्तुष्यति काममीश्वरः।
तदेव तद्धर्मपरैर्विनीतैः
सर्वात्मना ब्रह्मकुलं निषेव्यताम्॥

पुमाँल्लभेताननतिवेलमात्मनः
प्रसीदतोऽत्यन्तशमं स्वतः स्वयम् ।
यन्नित्यसम्बन्धनिषेवया ततः
परं किमत्रास्ति मुखं हविर्भुजाम् ॥
अश्नात्यनन्तः खलु तत्त्वकोविदैः
श्रद्धाहुतं यन्मुख इज्यनामभिः ।
न वै तथा चेतनया बहिष्कृते
हुताशने पारमहंस्यपर्यगुः ॥
यद् ब्रह्म नित्यं विरजं सनातनं
श्रद्धातपोमङ्गलमौनसंयमैः ।
समाधिना बिभ्रति हार्थदृष्टये
यत्रेदमादर्श इवावभासते ॥
(श्रीमद्भा० ४ । २१ । ३९—४२)

'सबके हृदयमें स्थित, ब्राह्मण-प्रिय एवं स्वयंप्रकाशमान ईश्वर हरि जिसकी सेवा करनेसे यथेष्ट सन्तोषको प्राप्त होते हैं उस ब्राह्मणकुलकी ही भागवत धर्ममें तत्पर होकर विनीत भावसे सब प्रकार सेवा करो । ब्राह्मणकुलके साथ नित्य सेवारूप सम्बन्ध होनेसे शीघ्र ही मनुष्यका चित्त शुद्ध हो जाता है । तब अपने आप ही परम शान्ति अर्थात् मोक्ष मिलता है । भला ऐसे ब्राह्मणों (के मुख) से बढ़कर दूसरा कौन देवताओंका मुख हो सकता है ? ज्ञानरूप, सबके अन्तर्यामी अनन्त हरिकी भी तृप्ति ब्राह्मणमुखमें ही होती है । तत्त्वज्ञानी पण्डितोंद्वारा पूजनीय इन्द्रादि देवोंका नाम लेकर श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणमुखमें हवन किये हुए हविष्यको श्रीहरि जितनी प्रसन्नताके साथ

ग्रहण करते हैं उतनी प्रसन्नताके साथ अचेतन अग्निमुखमें डाली हुई हविको नहीं स्वीकार करते। जिसमें यह सम्पूर्ण विश्व आदर्शकी भाँति भासित होता है उसी नित्य शुद्ध सनातन वेदको ये ब्राह्मण-लोग श्रद्धा, तपस्या, मङ्गलकर्म* मौन (मननशीलता या भगवद्विरोधी बातोंका त्याग), संयम (इन्द्रियोंका दमन) एवं समाधि (चित्तकी भगवान्‌में स्थिति) करते हुए यथार्थ अर्थके देखनेके लिये नित्यप्रति धारण करते हैं अर्थात् अध्ययन करते रहते हैं।'

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

ब्राह्मणप्रतिपूजायामायुः कीर्तिर्यशो बलम्।
लोका लोकेश्वराश्चैव सर्वे ब्राह्मणपूजकाः॥
त्रिवर्गे चापवर्गे च यशःश्रीरोगशान्तिषु।
देवतापितृपूजासु सन्तोष्याश्चैव नो द्विजाः॥

(महा० अनु० १५९। ९-१०)

'ब्राह्मणकी पूजा करनेसे आयु, कीर्ति, यश और बल बढ़ता है। सभी लोक और लोकेश्वरगण ब्राह्मणोंकी पूजा करते हैं। धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्गको और मोक्षको प्राप्त करनेमें, तथा यश, लक्ष्मीकी प्राप्ति और रोग-शान्तिमें और देवता एवं पितरोंकी पूजामें ब्राह्मणोंको सन्तुष्ट करना चाहिये।'

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति।
तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः॥

---

* प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तस्य वर्जनम्।
एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित् ।
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥
(मनु० ७ । ८३-८४)

'ब्राह्मणोंको दी हुई अक्षय निधिको शत्रु अथवा चोर नहीं हर सकते और न वह नष्ट होती है, इसलिये राजाको ब्राह्मणोंमें इस अनन्त फलदायक अक्षय निधिको स्थापित करना चाहिये अर्थात् ब्राह्मणोंको धन-धान्यादि देना चाहिये । अग्निमें घृतकी आहुति देनेकी अपेक्षा ब्राह्मणोंके मुखमें होमा हुआ अर्थात् उन्हें भोजन देनेका फल अधिक होता है क्योंकि न वह कभी झरता है, न सूखता है और न नष्ट होता है ।'

इतना ही नहीं राजाके लिये तो मनु महाराज आज्ञा करते हैं—

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा ।
तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥
श्रुतवृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ।
संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥
संरक्ष्यमाणो राज्ञा यं कुरुते धर्ममन्वहम् ।
तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥
(मनु० ७ । १३४—१३६)

'जिस राजाके देशमें वेदपाठी (श्रोत्रिय ब्राह्मण) भूखसे दुःखी होता है उस राजाका देश भी दुर्भिक्षसे पीड़ित हो शीघ्र नष्ट हो जाता है । इसलिये राजाको चाहिये कि वह श्रोत्रिय ब्राह्मणका शास्त्रज्ञान और आचरण जानकर उसके लिये धर्मानुकूल जीविका

नियत कर दे और जैसे पिता अपने खास पुत्रकी रक्षा करता है वैसे ही इस वेदपाठीकी सब भाँति रक्षा करे। राजासे रक्षित होकर (वेदपाठी) जो नित्य धर्मानुष्ठान करता है उससे राजाके राज्य, धन और आयुकी वृद्धि होती है।'

यहाँतक कहा गया है कि—

न विप्रपादोदकपङ्किलानि
न वेदशास्त्रध्वनिगर्जितानि।
स्वाहास्वधाकारविवर्जितानि
श्मशानतुल्यानि गृहाणि तानि॥

'जिन घरोंमें भोजन करनेके लिये आये हुए ब्राह्मणोंके चरणोंकी धोवनसे कीचड़ नहीं होती, जिनमें वेदशास्त्रोंकी ध्वनि नहीं गूँजती, जहाँ हवनसम्बन्धी स्वाहा और श्राद्धसम्बन्धी स्वधाकी ध्वनि नहीं होती वे घर श्मशानके समान हैं।'

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पितापुत्रौ विजानीयाद्ब्राह्मणस्तु तयोः पिता॥
(मनु० २। १३५)

'ब्राह्मण दस वर्षका हो और राजा सौ वर्षका हो तो उनको पिता-पुत्रके समान जानना चाहिये अर्थात् उन दोनोंमें छोटी उम्रके ब्राह्मणके प्रति राजाको पिताके समान मान देना चाहिये।'

ब्राह्मण सद्‌गुण और सदाचारसम्पन्न होनेके साथ ही विद्वान् हो तब तो कहना ही क्या है, विद्वान् न हो तो भी वह सर्वथा पूजनीय है।

न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित् ।
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ।।
(मनु० ७ । ८३-८४)

'ब्राह्मणोंको दी हुई अक्षय निधिको शत्रु अथवा चोर नहीं हर सकते और न वह नष्ट होती है, इसलिये राजाको ब्राह्मणोंमें इस अनन्त फलदायक अक्षय निधिको स्थापित करना चाहिये अर्थात् ब्राह्मणोंको धन-धान्यादि देना चाहिये । अग्निमें घृतकी आहुति देनेकी अपेक्षा ब्राह्मणोंके मुखमें होमा हुआ अर्थात् उन्हें भोजन देनेका फल अधिक होता है क्योंकि न वह कभी झरता है, न सूखता है और न नष्ट होता है ।'

इतना ही नहीं राजाके लिये तो मनु महाराज आज्ञा करते हैं—

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा ।
तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ।।
श्रुतवृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ।
संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ।।
संरक्ष्यमाणो राज्ञा यं कुरुते धर्ममन्वहम् ।
तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ।।
(मनु० ७ । १३४—१३६)

'जिस राजाके देशमें वेदपाठी (श्रोत्रिय ब्राह्मण) भूखसे दुःखी होता है उस राजाका देश भी दुर्भिक्षसे पीड़ित हो शीघ्र नष्ट हो जाता है । इसलिये राजाको चाहिये कि वह श्रोत्रिय ब्राह्मणका शास्त्रज्ञान और आचरण जानकर उसके लिये धर्मानुकूल जीविका

नियत कर दे और जैसे पिता अपने खास पुत्रकी रक्षा करता है वैसे ही इस वेदपाठीकी सब भाँति रक्षा करे। राजासे रक्षित होकर (वेदपाठी) जो नित्य धर्मानुष्ठान करता है उससे राजाके राज्य, धन और आयुकी वृद्धि होती है।'

यहाँतक कहा गया है कि—

न विप्रपादोदकपङ्किलानि
न वेदशास्त्रध्वनिगर्जितानि।
स्वाहास्वधाकारविवर्जितानि
श्मशानतुल्यानि गृहाणि तानि॥

'जिन घरोंमें भोजन करनेके लिये आये हुए ब्राह्मणोंके चरणोंकी धोवनसे कीचड़ नहीं होती, जिनमें वेदशास्त्रोंकी ध्वनि नहीं गूँजती, जहाँ हवनसम्बन्धी स्वाहा और श्राद्धसम्बन्धी स्वधाकी ध्वनि नहीं होती वे घर श्मशानके समान हैं।'

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पितापुत्रौ विजानीयाद्ब्राह्मणस्तु तयोः पिता॥

(मनु० २। १३५)

'ब्राह्मण दस वर्षका हो और राजा सौ वर्षका हो तो उनको पिता-पुत्रके समान जानना चाहिये अर्थात् उन दोनोंमें छोटी उम्रके ब्राह्मणके प्रति राजाको पिताके समान मान देना चाहिये।'

ब्राह्मण सद्गुण और सदाचारसम्पन्न होनेके साथ ही विद्वान् हो तब तो कहना ही क्या है, विद्वान् न हो तो भी वह सर्वथा पूजनीय है।

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥

(मनु० ९ । ३१७)

'अग्नि वेदमन्त्रोंसे प्रकट की हुई हो या दूसरी प्रकारसे, वह जैसे परम देवता है वैसे ही विद्वान् हो या अविद्वान्, ब्राह्मण भी परम देवता है । अर्थात् वह सभी स्थितियोंमें पूज्य है ।'

ब्राह्मणोंकी इतनी महिमा गानेवाले शास्त्र ब्राह्मणोंको सावधान करते हुए जो कुछ कहते हैं, उससे उनका पक्षपातरहित होना सिद्ध हो जाता है । शास्त्रकारोंको पक्षपाती बतलानेवाले भाई नीचे लिखे शब्दोंपर ध्यान दें ।

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥
तस्मादविद्वान्बिभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात् ।
स्वल्पकेनाप्यविद्वान्हि पङ्के गौरिव सीदति ॥

(मनु० ४ । १९०-१९१)

'जो ब्राह्मण तप और विद्यासे हीन होकर दान लेनेकी इच्छा करता है वह उस दातासहित इस प्रकार नरकमें डूबता है जैसे पत्थरकी नावपर चढ़ा हुआ मनुष्य नावसहित डूब जाता है । इसलिये अविद्वान् ब्राह्मणको जैसे-तैसे प्रतिग्रहसे डरना चाहिये क्योंकि अनधिकारी अज्ञ ब्राह्मण थोड़े-से ही दानसे कीचमें फँसी गौके समान नरकमें दुःख पाता है ।' अस्तु ।

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्णाश्रमधर्मकी

रक्षा हिन्दूजातिके जीवनके लिये अत्यावश्यक है और वर्णाश्रमकी रक्षाके लिये ब्राह्मणकी। ब्राह्मणका स्वरूप तप और त्यागमय है। और उस तप और त्यागपूर्ण ब्राह्मणत्वकी पुनः जागृति हो, इसके लिये चारों वर्णोंके धर्मप्रेमी पुरुषोंको भरपूर चेष्टा करनी चाहिये। ब्राह्मणकी अपने षट्कर्मोंपर* श्रद्धा बढ़े, ब्रह्मचिन्तन, सन्ध्योपासना

---

* अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥
(मनु० १। ८८)

पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना ये छः कर्म ब्राह्मणोंके लिये रचे हैं।

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥
(मनु० २। १६६)

ब्राह्मण तप करता हुआ सदा वेदका ही अभ्यास करता रहे क्योंकि इस लोकमें वेदका अभ्यास ही ब्राह्मणका बड़ा भारी तप कहा गया है।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च॥
उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।
पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम्॥
(मनु० ४। ९२-९३)

ब्राह्ममुहूर्तमें (अर्थात् रात्रिके पिछले पहरमें) जागना चाहिये और धर्म-अर्थके उपार्जनके हेतुओंका, कारणसहित शरीरके क्लेशोंका और वेदके तत्त्वार्थ अर्थात् ब्रह्मका बारंबार चिन्तन करना चाहिये। ब्राह्मणको चाहिये कि (शय्यासे) उठकर (मलमूत्रादि) आवश्यक कामसे शुद्ध और

और गायत्रीकी सेवामें उसका मन लगे और वेदाध्ययनकी ओर उसकी प्रवृत्ति हो, इसकी बड़ी आवश्यकता है और यह ब्राह्मणकी सेवा-पूजा, सम्मान-दान आदिके द्वारा ब्राह्मणोचित कर्मोंके प्रति उसके मनमें उत्साह उत्पन्न करनेसे ही हो सकता है।

यदि ब्राह्मणत्व जाग्रत् हो गया और उसने फिरसे अपना स्थान प्राप्त कर लिया तो ब्राह्मण फिर पूर्वकी भाँति जगद्गुरुके पदपर प्रतिष्ठित हो सकता है। और मनु महाराजका यह कथन भी शायद सत्य हो सकता है कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(मनु० २ । २०)

'इस देशमें (भारतवर्षमें) उत्पन्न हुए ब्राह्मणसे पृथ्वीपर सब मनुष्य अपना-अपना आचार सीखें।'

इसपर यदि कोई कहे कि यह तो अतीत युगके ब्राह्मणोंके स्वरूपकी और उन्हींकी पूजाकी बात है। वर्तमान कालमें ऐसे आदर्श त्यागी ब्राह्मण कहाँ हैं जो उनकी सेवा-पूजा की जाय ? तो इसका उत्तर यह है कि अवश्य ही यह सत्य है कि ऐसे ब्राह्मण इस कालमें बहुत ही कम मिलते हैं। कलियुगके प्रभाव, भिन्न धर्मी शासक, पाश्चात्त्य सभ्यताके कुसङ्ग और जगत्के अधार्मिक वातावरण

सावधान होकर प्रातःसन्ध्या और सायं-सन्ध्याके अपने-अपने कालमें बहुत देरतक गायत्रीका जप करते हुए उपासना करे।

आदि कारणोंसे इस समय केवल ब्राह्मण ही नहीं, सभी वर्णोंमें धर्मप्रेमी सच्चे आचारवान् पुरुष कम मिलते हैं। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि हैं ही नहीं। बल्कि ऐसा कहना असङ्गत नहीं होगा कि इस गये गुजरे जमानेमें भी वेदाध्ययन करनेवाले निस्पृही, त्यागी, सदाचारी, ईश्वर और धर्ममें अत्यन्त निष्ठा रखनेवाले ब्राह्मण मिल सकते हैं। चारों ओर अनादर और तिरस्कार पानेपर भी आज ब्राह्मणवर्णने ही सनातन संस्कृति और सनातन संस्कृत भाषाको बचा रक्खा है। भीख माँगकर भी ब्राह्मण आज संस्कृत पढ़ते हैं। शौचाचारकी ओर देखा जाय तो भी यह कहना अत्युक्ति न होगा कि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रवर्णकी अपेक्षा ब्राह्मणोंमें अपेक्षाकृत आज भी आचरणकी पवित्रता कहीं अधिक है। ऐसी स्थितिमें उनपर दोषारोपण न कर, उनकी निन्दा न कर, उनसे घृणा न कर, उनकी यथायोग्य सच्चे मनसे सेवा करनी चाहिये जिससे वे पुनः अपने स्वरूपपर स्थित होकर संसारके सामने ब्राह्मणत्वका पवित्र आदर्श उपस्थित कर सकें और उचित उपदेश और आदर्श आचरणके द्वारा समस्त जगत्का इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण करते हुए उन्हें परमात्माकी ओर अग्रसर कर सकें। सबसे मेरी यही विनीत प्रार्थना है।



बाल-शिक्षा

मित्रोंकी प्रेरणासे आज बालकोंके हितार्थ उनके कर्तव्यके विषयमें कुछ लिखा जाता है। यह खयाल रखना चाहिये कि जबतक माता, पिता, आचार्य जीवित हैं या कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान नहीं है तबतक अवस्थामें बड़े होनेपर भी सब बालक ही हैं। बालक-अवस्थामें विद्या पढ़नेपर विशेष ध्यान देना चाहिये, क्योंकि बड़ी अवस्था होनेपर विद्याका अभ्यास होना बहुत ही कठिन है। जो बालक बाल्यावस्थामें विद्याका अभ्यास नहीं करता है, उसको आगे जाकर सदाके लिये पछताना पड़ता है। किन्तु ध्यान रखना चाहिये, बालकोंके लिये लौकिक विद्याके साथ-साथ धार्मिक शिक्षाकी भी बहुत ही आवश्यकता है, धार्मिक शिक्षाके विना मनुष्यका जीवन पशुके समान है। धर्मज्ञानशून्य होनेके कारण आजकलके बालक प्रायः बहुत ही स्वेच्छाचारी होने लगे हैं। वे निरंकुशता, उच्छृङ्खलता, दुर्व्यसन, झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, आलस्य, प्रमाद आदि अनेकों दोष और दुर्गुणों-के शिकार हो चले हैं जिससे उनके लोक-परलोक दोनों नष्ट हो रहे हैं।

उन्हें पाश्चात्त्य भाषा, वेष, सभ्यता अच्छे लगते हैं और ऋषियोंके त्यागपूर्ण चरित्र, धर्म एवं ईश्वरमें उनकी ग्लानि होने लगी है। यह सब पश्चिमीय शिक्षा और सभ्यताका प्रभाव है।

मेरा यह कहना नहीं कि पाश्चात्त्य शिक्षा न दी जाय किन्तु पहले धार्मिक शिक्षा प्राप्त करके, फिर पाश्चात्त्य विद्याका अभ्यास कराना चाहिये। ऐसा न हो सके तो धार्मिक शिक्षाके साथ-साथ पाश्चात्त्य विद्याका अभ्यास कराया जाय। यद्यपि विषका सेवन करना मृत्युको बुलाना है, किन्तु जैसे वही विष ओषधिके साथ अथवा ओषधियोंसे संशोधन करके खाया जाय तो वह अमृतका फल देता है। वैसे ही हमलोगोंको भी धार्मिक शिक्षाके साथ-साथ या धर्मके द्वारा संशोधन करके पाश्चात्त्य विद्याका भी अभ्यास करना चाहिये।

क्योंकि धर्म ही मनुष्यका जीवन, प्राण और इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला है। परलोकमें तो केवल एक धर्म ही साथ जाता है; स्त्री, पुत्र और सम्बन्धी आदि कोई भी वहाँ मदद नहीं कर सकते। अतएव अपने कल्याणके लिये मनुष्यमात्रको नित्य-निरन्तर धर्मका सञ्चय करना चाहिये। अब हमको यह विचार करना चाहिये कि वह धारण करनेयोग्य धर्म क्या वस्तु है।

ऋषियोंने सद्गुण और सदाचारके नामसे ही धर्मकी व्याख्या की है। भगवान्‌ने गीता अ० १६में जो दैवीसम्पत्तिके नामसे तथा अ० १७ में तपके नामसे जो कुछ कहा है सो धर्मकी ही व्याख्या है। महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनके दूसरे पादमें

इसी धर्मकी व्याख्या सूत्ररूपसे यम-नियमके नामसे की है। और मनुजीने भी संक्षेपमें ६ । ९२में धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं। इन सबको देखते हुए यह सिद्ध होता है कि सद्‌गुण और सदाचारका नाम ही धर्म है।

जो आचरण अपने और सारे संसारके लिये हितकर है यानी मन, वाणी और शरीरद्वारा की हुई जो उत्तम क्रिया है वही सदाचार है और अन्तःकरणमें जो पवित्र भाव हैं उन्हींका नाम सद्‌गुण है।

अब यह प्रश्न है कि ऐसे धर्मकी प्राप्ति कैसे हो ? इसका यही उत्तर हो सकता है कि सत्पुरुषोंके संगसे ही इस धर्मकी प्राप्ति हो सकती है। क्योंकि वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी रुचिके अनुसार परिणाममें हितकर—यह चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण है। मनुजीने भी ऐसा ही कहा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(२ । १२)

सत्संगसे ही इन सबकी एकता हो सकती है। इनके परस्पर विरोध होनेपर यथार्थ निर्णय भी सत्संगसे ही होता है अतएव महापुरुषोंका संग करना चाहिये। याद रहे कि इतिहास और पुराणोंमें भी श्रुति-स्मृतिमें बतलाये हुए धर्मकी ही व्याख्या है इसलिये उनमें दी हुई शिक्षा भी धर्म है।

अतएव मनुष्यको उचित है, प्राण भी जाय तब भी धर्मका

त्याग न करे क्योंकि धर्मके लिये मरनेवाला उत्तम गतिको प्राप्त होता है।

गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंने धर्मके लिये ही प्राण देकर अचल कीर्ति और उत्तम गति प्राप्त की। मनुने भी कहा है—

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥
(२।९)

'जो मनुष्य वेद और स्मृतिमें कहे हुए धर्मका पालन करता है वह इस संसारमें कीर्तिको और मरकर परमात्माकी प्राप्तिरूप अत्यन्त सुखको पाता है।'

इसलिये हे बालको! तुम्हारे लिये सबसे बढ़कर जो उपयोगी बातें हैं, उसपर तुमलोगोंको विशेष ध्यान देना चाहिये। यों तो बहुत-सी बातें हैं, किन्तु नीचे लिखी हुई छः बातोंको तो जीवन और प्राणके समान समझकर इनके पालन करनेके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

वे बातें हैं—

सदाचार, संयम, ब्रह्मचर्यका पालन, विद्याभ्यास, माता-पिता और आचार्य आदि गुरुजनोंकी सेवा और ईश्वरकी भक्ति।

सदाचार

शास्त्रानुकूल सम्पूर्ण विहित कर्मोंका नाम सदाचार है। इस न्यायसे संयम, ब्रह्मचर्यका पालन, विद्याका अभ्यास, माता-पिता-आचार्य आदि गुरुजनोंकी सेवा एवं ईश्वरकी भक्ति इत्यादि सभी

शास्त्रविहित होनेके कारण सदाचारके अन्तर्गत आ जाते हैं। किन्तु ये सब प्रधान-प्रधान बातें हैं इसलिये बालकोंके हितार्थ इनका कुछ विस्तारसे अलग-अलग विचार किया जाता है। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-सी बातें बालकोंके लिये उपयोगी हैं जिनमें-से यहाँ सदाचारके नामसे कुछ बतलायी जाती हैं।

बालकोंको प्रथम आचारकी ओर ध्यान देना चाहिये, क्योंकि आचारसे ही सारे धर्मोंकी उत्पत्ति होती है। महाभारत अनुशासन-पर्व अ० १४९, श्लोक १३७ में भीष्मजीने कहा है—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्प्यते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥

'सब शास्त्रोंमें सबसे पहले आचारकी ही कल्पना की जाती है, आचारसे ही धर्म उत्पन्न होता है और धर्मके प्रभु श्रीअच्युत भगवान् हैं।'

इस आचारके मुख्य दो भेद हैं—शौचाचार और सदाचार। जल और मृत्तिका आदिसे शरीरको तथा भोजन, वस्त्र, घर और बर्तन आदिको शास्त्रानुकूल साफ रखना शौचाचार है।

सबके साथ यथायोग्य व्यवहार एवं शास्त्रोक्त उत्तम कर्मोंका आचरण करना सदाचार है। इससे दुर्गुण और दुराचारोंका नाश होकर बाहर और भीतरकी पवित्रता होती है तथा सद्गुणोंका आविर्भाव होता है।

प्रथम प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व ही उठकर शौच*-स्नान

---

* मलत्याग करके तीन बार मृत्तिकासहित जलसे गुदा धोवे फिर

करना चाहिये। फिर नित्यकर्म करके बड़ोंके चरणोंमें प्रणाम करना चाहिये। इसके बाद शरीरकी आरोग्यता एवं बलकी वृद्धिके लिये पश्चिमोत्तान, शीर्षासन, विपरीतकरणी आदि आसन एवं व्यायाम करना चाहिये। फिर दुग्धपान करके विद्याका अभ्यास करें। आसन और व्यायाम सायंकाल करनेकी इच्छा हो तो विना दुग्धपान किये ही विद्याभ्यास करें।

विद्या पढ़नेके बाद दिनके दूसरे पहरमें ठीक समयपर आचमन करके सावधानीके साथ पवित्र और सात्त्विक भोजन करें।

यह खयाल रखना चाहिये कि भूखसे अधिक भोजन कभी न किया जाय। मनुजी कहते हैं—

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत्॥
(२।५३)

'द्विजको चाहिये कि सदा आचमन करके ही सावधान हो अन्नका भोजन करे और भोजनके अनन्तर भी अच्छी प्रकार आचमन करे और छः छिद्रोंका (अर्थात् नाक, कान और नेत्रोंका) जलसे स्पर्श करे।'

जबतक दुर्गन्ध एवं चिकनाई रहे तबतक केवल जलसे धोवे। मल या मूत्रके त्याग करनेके बाद उपस्थको भी जलसे धोवे। मल त्यागनेके बाद मृत्तिका लेकर दस बार बायें हाथको और सात बार दोनों हाथोंको मिलाकर धोना चाहिये। जलसे मृत्तिकासहित पैरोंको एक बार तथा पात्र-को तीन बार धोना चाहिये। हाथ और पैर धोनेके उपरान्त मुखके सारे छिद्रोंको धोकर दातुन करके कम-से-कम बारह कुल्ले करने चाहिये।

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥
(२ । ५४)

'भोजनका नित्य आदर करे और उसकी निन्दा न करता हुआ भोजन करे, उसे देख हर्षित होकर प्रसन्नता प्रकट करे और सब प्रकारसे उसका अभिनन्दन करे ।'

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति ।
अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥
(२ । ५५)

'क्योंकि नित्य आदरपूर्वक किया हुआ भोजन बल और वीर्यको देता है और अनादरसे खाया हुआ अन्न उन दोनोंका नाश करता है ।'

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥
(२ । ५७)

'अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यका नाशक है और लोकनिन्दित है इसलिये उसे त्याग दे ।'

भोजन करनेके बाद दिनमें सोना और मार्ग चलना नहीं चाहिये । विद्याका अभ्यास भी एक घंटे ठहरकर ही करना चाहिये । विद्याके अभ्यास करनेके बाद सायंकालके समय पुनः शौच-स्नान करके नित्यकर्म करना चाहिये । फिर रात्रिमें भोजन करके कुछ देर बाद रात्रिके दूसरे पहरके आरम्भ होनेपर शयन करना चाहिये । कम-से-कम बालकोंको सात घंटे सोना चाहिये ।

यदि सोते-सोते सूर्योदय हो जाय तो दिनभर गायत्रीका जप करते हुए उपवास करना चाहिये। मनुजीने कहा है—

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः।
निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥
(२। २२०)

'इच्छापूर्वक सोते हुए ब्रह्मचारीको यदि सूर्य उदय हो जाय या इसी तरह भूलसे अस्त हो जाय तो गायत्रीको जपता हुआ दिनभर व्रत करे।'

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥
(२। २२१)

'जिस ब्रह्मचारीके सोते रहते हुए सूर्य अस्त या उदय हो जाय वह यदि प्रायश्चित्त न करे तो उसे बड़ा भारी पाप लगता है।'

नित्यकर्ममें भगवान्‌के नामका जप और ध्यान तथा कम-से-कम गीताके एक अध्यायका पाठ अवश्य ही करना चाहिये। यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो तो हवन, सन्ध्या, गायत्री-जप, स्वाध्याय, देवपूजा और तर्पण भी करना चाहिये। इनमें भी सन्ध्या और गायत्री-जप तो अवश्य ही करना चाहिये। न करनेसे वह प्रायश्चित्तका भागी एवं पतित समझा जाता है। ब्रह्मचारीके लिये तो सूतक कभी है ही नहीं, किन्तु नित्यकर्म करनेके लिये किसीको भी आपत्ति नहीं है।*

---

* जन्म और मृत्युके सूतकमें सन्ध्या, गायत्री-जप आदि वैदिक

अतएव नित्यकर्म तो सदा ही करें—मनुजीने कहा है—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥

(२ । १७६)

'ब्रह्मचारीको चाहिये कि नित्य स्नान करके और शुद्ध होकर देव, ऋषि और पितरोंका तर्पण तथा देवताओंका पूजन और अग्निहोत्र अवश्य करे ।'

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः ॥

(२ । १०३)

'जो मनुष्य न तो प्रातःसन्ध्योपासन करता है और न सायंसन्ध्योपासन करता है वह शूद्रके समान सम्पूर्ण द्विज-कर्मोंसे अलग कर देनेके योग्य है ।'

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।

(२ । १०६)

'नित्यकर्ममें अनध्याय नहीं है क्योंकि उसे ब्रह्मयज्ञ कहा है ।'

श्रुति और स्मृतियोंमें गायत्रीजपका बड़ा माहात्म्य बतलाया है । गायत्रीका जप स्नान करके पवित्र होकर ही करना चाहिये—चलते-फिरते नहीं । गायत्रीका नित्य एक सहस्र जप करनेसे मनुष्य एक महीनेमें पापोंसे छूट जाता है । तीन वर्षतक करनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, ऐसा मनुने कहा है—

नित्यक्रिया विना जलके मनसे मन्त्रोंका उच्चारण करके करनी चाहिये । केवल सूर्यभगवान्‌को जलसे अर्घ्य देना चाहिये ।

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥
(२ । ७८)

'इस (ओम्) अक्षर और इस व्याहृतिपूर्वक (सावित्री) को दोनों सन्ध्याओंमें जपता हुआ वेदज्ञ ब्राह्मण वेदपाठके पुण्यफलका भागी होता है ।'

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥
(२ । ७९)

'ब्राह्मण इन तीनोंका यानी प्रणव, व्याहृति और गायत्रीका बाहर (एकान्त स्थानमें) सहस्र बार जप करके एक मासमें बड़े भारी पापसे भी वैसे ही छूट जाता है जैसे साँप केंचुलीसे ।'

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥
(२ । ८१)

'जिनके पहले ओंकार है ऐसी अविनाशिनी (भूः भुवः स्वः) तीन महाव्याहृति और तीन पदवाली सावित्रीको ब्रह्मका मुख जानना चाहिये ।'

योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥
(२ । ८२)

'जो मनुष्य आलस्य छोड़कर नित्यप्रति तीन वर्षतक गायत्री-

अतएव नित्यकर्म तो सदा ही करें—मनुजीने कहा है—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥

(२ । १७६)

'ब्रह्मचारीको चाहिये कि नित्य स्नान करके और शुद्ध होकर देव, ऋषि और पितरोंका तर्पण तथा देवताओंका पूजन और अग्निहोत्र अवश्य करे ।'

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः ॥

(२ । १०३)

'जो मनुष्य न तो प्रातःसन्ध्योपासन करता है और न सायंसन्ध्योपासन करता है वह शूद्रके समान सम्पूर्ण द्विज-कर्मोंसे अलग कर देनेके योग्य है ।'

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।

(२ । १०६)

'नित्यकर्ममें अनध्याय नहीं है क्योंकि उसे ब्रह्मयज्ञ कहा है ।'

श्रुति और स्मृतियोंमें गायत्रीजपका बड़ा माहात्म्य बतलाया है । गायत्रीका जप स्नान करके पवित्र होकर ही करना चाहिये—चलते-फिरते नहीं । गायत्रीका नित्य एक सहस्र जप करनेसे मनुष्य एक महीनेमें पापोंसे छूट जाता है । तीन वर्षतक करनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, ऐसा मनुने कहा है—

नित्यक्रिया विना जलके मनसे मन्त्रोंका उच्चारण करके करनी चाहिये । केवल सूर्यभगवान्‌को जलसे अर्घ्य देना चाहिये ।

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥
(२ । ७८)

'इस (ओम्) अक्षर और इस व्याहृतिपूर्वक (सावित्री) को दोनों सन्ध्याओंमें जपता हुआ वेदज्ञ ब्राह्मण वेदपाठके पुण्यफलका भागी होता है ।'

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥
(२ । ७९)

'ब्राह्मण इन तीनोंका यानी प्रणव, व्याहृति और गायत्रीका बाहर (एकान्त स्थानमें) सहस्र बार जप करके एक मासमें बड़े भारी पापसे भी वैसे ही छूट जाता है जैसे साँप केंचुलीसे ।'

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥
(२ । ८१)

'जिनके पहले ओंकार है ऐसी अविनाशिनी (भूः भुवः स्वः) तीन महाव्याहृति और तीन पदवाली सावित्रीको ब्रह्मका मुख जानना चाहिये ।'

योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥
(२ । ८२)

'जो मनुष्य आलस्य छोड़कर नित्यप्रति तीन वर्षतक गायत्री-

का जप करता है वह पवनरूप और आकाशरूप होकर परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।'

किन्तु खयाल रखना चाहिये—क्षत्रिय और वैश्यकी तो बात ही क्या है जबतक यज्ञोपवीत न हो, तबतक वेदका अभ्यास, वेदोक्त हवन और सन्ध्या-गायत्री-जप आदि वेदोक्त क्रियाएँ ब्राह्मणको भी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि बिना यज्ञोपवीतके उनको भी करनेका अधिकार नहीं है। करें तो प्रायश्चित्तके भागी होते हैं। अतएव ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंको यज्ञोपवीत अवश्य लेना चाहिये।

यदि व्रात्य* (पतित) संज्ञा हो गयी हो तो भी शास्त्रविधिके अनुसार प्रायश्चित्त कराकर यज्ञोपवीत लेना चाहिये। उपनयनका काल मनुजीने इस प्रकार बतलाया है—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥

(२।३६)

'ब्राह्मणका उपनयन (जनेऊ) गर्भसे आठवें वर्षमें, क्षत्रियका गर्भसे ग्यारहवेंमें और वैश्यका गर्भसे बारहवें वर्षमें करना चाहिये।'

आ षोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आ द्वाविंशात्क्षत्रबन्धोरा चतुर्विंशतेर्विशः॥

(२।३८)

---

* अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥ (२।३९)

यदि ऊपर बताये हुए समयपर इनका संस्कार न हो तो उस कालके अनन्तर ये तीनों सावित्रीसे पतित होनेके कारण शिष्टजनोंसे निन्दित और व्रात्यसंज्ञक हो जाते हैं।

'सोलह वर्षतक ब्राह्मणके लिये, बाईस वर्षतक क्षत्रियके लिये और चौबीस वर्षतक वैश्यके लिये सावित्रीके कालका अतिक्रमण नहीं होता अर्थात् इस अवस्थातक उनका उपनयन (जनेऊ) हो सकता है ।'

द्विजातियोंके लिये यज्ञोपवीतका कर्म और काल बतलाकर अब सभी बालकोंके लिये आचरण करनेयोग्य बातें बतलायी जाती हैं ।

हे बालको ! संसारमें सबसे बढ़कर प्रेम है, प्रेम साक्षात् परमात्माका स्वरूप है, इसलिये जहाँ प्रेम है वहीं सुख और शान्तिका साम्राज्य है । वह प्रेम स्वार्थत्यागपूर्वक दूसरोंकी आत्माको सुख पहुँचानेसे होता है । इसलिये माता, पिता, गुरुजन और सहपाठियोंकी तो बात ही क्या है, सभीके साथ सदा-सर्वदा सच्चे, हितकर विनययुक्त वचन बोलकर एवं मनसे, वाणीसे, शरीरसे जिस किसी प्रकारसे दूसरोंका हित हो ऐसा प्रयत्न तुम लोगोंको करना चाहिये ।

दूसरोंकी वस्तुको चुराना-छीनना तो दूर रहा किन्तु वे खुशीसे तुम्हें दें तो भी अपने स्वार्थके लिये न लेकर विनय और प्रिय वचनसे उन्हें सन्तोष कराना चाहिये, यदि न लेनेपर उन्हें कष्ट होता हो एवं प्रेममें बाधा आती हो तो आवश्यकतानुसार ले भी ले तो कोई आपत्ति नहीं ।

दूसरेके अवगुणोंकी तरफ खयाल न करके उनके गुणोंको ग्रहण करना चाहिये । किसीकी भी निन्दा, चुगली तो करनी ही

नहीं, इससे उसका या अपना किसीका भी हित नहीं है। आवश्यकता हो तो सच्ची प्रशंसा कर सकते हो।

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छा तो कभी करनी ही नहीं, किन्तु अपने-आप प्राप्त होनेपर भी कल्याणमें बाधक होनेके कारण मनसे स्वीकार न करके मनमें दुःख या संकोच करना चाहिये।

परेच्छा या दैवेच्छासे मनके प्रतिकूल पदार्थोंके प्राप्त होनेपर भी ईश्वरका भेजा हुआ पुरस्कार मानकर आनन्दित होना चाहिये। ऐसा न हो सके तो अपने पापका फल समझकर ही सहन करना उचित है।

बड़ोंकी सभी आज्ञा पालनीय है किन्तु जिसके पालनसे उन्हींका या और किसीका अनिष्ट हो या जिसके कारण ईश्वरकी भक्तिमें विशेष बाधा आती हो वहाँ उपराम हो सकते हैं।

गुरुजनोंकी तो बात ही क्या है, वृथा तर्क और विवाद तो किसीके साथमें भी कभी न करें।

कितनी भी आपत्ति आ जाय, पर धैर्य और निर्भयताके साथ सबको सहन करना चाहिये क्योंकि भारी-से-भारी आपत्ति आनेपर भी निर्भयताके साथ उसे सहन करनेसे आत्मबलकी वृद्धि होती है। ऐसा समझकर तुमलोगोंको आपत्तिमें भी धैर्य और धर्मको नहीं त्यागना चाहिये।

कोई भी उत्तम कर्म करके मनमें अभिमान या अहंकार नहीं लाना चाहिये किन्तु धन, विद्या, बल और ऐश्वर्य आदिके प्राप्त

होनेपर स्वाभाविक ही चित्तमें जो दर्प, अहंकार और अभिमान आता है उसको मृत्युके समान समझकर सबके साथ विनययुक्त, दीनतासे बर्ताव करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे वे दुर्गुण नहीं आ सकते।

गीता-रामायणादि धार्मिक ग्रन्थोंका श्रद्धाभक्तिपूर्वक विचार करनेके लिये भी अवश्य कुछ समय निकालना चाहिये।

उपर्युक्त सदाचारका पालन करनेसे मनुष्यके सारे दुर्गुण और दुराचारोंका नाश हो जाता है। तथा उसमें स्वाभाविक ही क्षमा, दया, शान्ति, तेज, संतोष, समता, ज्ञान, श्रद्धा, प्रेम, विनय, पवित्रता, शीतलता, शम, दम आदि बहुत-से गुणोंका प्रादुर्भाव हो जाता है। क्योंकि यह नियम है कि बीज और वृक्षकी तरह सद्गुणसे सदाचारकी एवं सदाचारसे सद्गुणोंकी वृद्धि होती है और दुर्गुण एवं दुराचारोंका नाश होता है।*

इसलिये बालकोंको उचित है कि सद्गुणोंकी वृद्धि एवं सदाचारके पालनके लिये तत्परताके साथ चेष्टा करें। इस प्रकार करनेसे इस लोक और परलोकमें सुख और शान्ति मिल सकती है।

संयम

मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके संयमकी बहुत ही आवश्यकता है, क्योंकि विना संयम किये हुए ये मनुष्यका पतन कर ही डालते हैं। भगवान्‌ने भी कहा है—

---

* यहाँ सद्गुणोंको बीज और सदाचारको वृक्षस्थानीय समझना चाहिये।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

(गीता २ । ६०)

'हे अर्जुन ! क्योंकि आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं ।'

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

(गीता २ । ६७)

क्योंकि वायु जलमें चलनेवाली नावको जैसे हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है ।'

मनुजीने भी कहा है—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥

(२ । ९९)

'सब इन्द्रियोंमेंसे जो एक भी इन्द्रिय विचलित हो जाती है उसीसे इस मनुष्यकी बुद्धि ऐसे जाती रहती है जैसे एक भी छिद्र हो जानेसे बर्तनका समस्त जल निकल जाता है ।'

अन्तःकरणके संयमका नाम शम, और इन्द्रियोंके संयमका नाम दम है, इनको प्रायः स्मृतिकारोंने धर्मका अंग माना है ।

गीतामें शम और दमको ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म और वेदान्तमें इनको साधनके अंग माना है।

वशमें किये हुए मन-इन्द्रिय मित्र, और नहीं वशमें किये हुए शत्रुके समान हैं; मुक्ति और बन्धनमें भी प्रधान हेतु यही हैं। क्योंकि वशमें करनेपर ये मुक्तिके देनेवाले, नहीं वशमें किये हुए दु:खदायी बन्धनके हेतु होते हैं। जल जैसे स्वभावसे नीचेकी ओर जाता है वैसे ही इन्द्रियगण आसक्तिके कारण स्वभावसे विषयोंकी ओर जाते हैं। विषयोंके संसर्गसे दुराचार और दुर्गुणोंकी वृद्धि होकर मनुष्यका पतन हो जाता है। मनुजी भी कहते हैं—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥
(२।९३)

'मनुष्य इन्द्रियोंमें आसक्त होकर नि:सन्देह दोषको प्राप्त होता है और उनको ही रोककर उस संयमसे सिद्धि प्राप्त कर लेता है।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रियोंके साथ विषयोंका संसर्ग ही सारे अनर्थोंका मूल है। इसलिये हे बालको ! इन सब विषय-भोगोंको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, दु:खरूप समझकर यथाशक्ति त्याग करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

बहुत-से भाई कहते हैं कि विषयोंके भोगते-भोगते इच्छाकी पूर्ति अपने-आप ही हो जायगी, किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि मनुजीने कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
(२ । ९४)

'नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती बल्कि घृतसे अग्निके समान बार-बार अधिक ही बढ़ती जाती है ।'

कितने ही लोग विषयोंके भोगनेमें ही सुख और शान्ति मानते हैं किन्तु यह उनका भ्रम है, जैसे पतंगोंको प्रज्वलित दीपक आदिमें सुख और शान्ति प्रतीत होती है, पर वास्तवमें वह दीपक उनका नाशक है । इसी प्रकार संसारके विषय-भोगोंमें मोहवश मनुष्यको क्षणिक शान्ति और सुख प्रतीत होता है किन्तु वास्तवमें विषयोंका संसर्ग उसका नाशक यानी पतन करनेवाला है । इसलिये विवेक, विचार, भय या हठसे किसी भी प्रकार हो मन-इन्द्रियों-को विषयोंसे हटाकर वशमें करनेके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये । मनुने कहा है—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥
(२ । ८८)

'पण्डितको चाहिये कि मनको हरनेवाले विषयोंमें विचरनेवाली इन्द्रियोंके रोकनेमें ऐसा यत्न करे कि जैसा घोड़ोंके रोकनेमें सारथी करता है ।'

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥
(२ । १००)

'मनुष्यको चाहिये कि इन्द्रियसमूहको वशमें करके, तथा मनको रोककर योगसे शरीरको पीड़ा न देते हुए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि समस्त पुरुषार्थोंको सिद्ध करे ।'

इसलिये हे बालको ! प्रथम वाणी आदि इन्द्रियोंका, फिर मनका संयम करना चाहिये । (गीता अ० ३ श्लोक ४१—४३) ।

जो मनुष्य अपनी निन्दा करे या गाली दे उसके बदलेमें शान्तिदायक सत्य, प्रिय और हितकर कोमल वचन कहना चाहिये । क्योंकि यदि वह अपनी सच्ची निन्दा करता है तो उससे तुम्हारी कोई हानि नहीं है बल्कि तुम्हारे गुणोंको ढकता है यह उपकार ही है । यदि कोई तुम्हारे साथ मार-पीट करे या तुम्हारी कोई चीज चुरा ले या जबरदस्ती छीन ले अथवा किसी भी प्रकारसे तुम्हारे साथ अनुचित व्यवहार करे तो तुम्हें उसे भी सहन करना चाहिये । अपने पूर्वके किये हुए अपराधके फलस्वरूप भगवान्‌का ही किया हुआ विधान समझकर चित्तमें प्रसन्न होना चाहिये क्योंकि विना अपराध किये और विना भगवान्‌की प्रेरणाके कोई भी प्राणी किसीका अनिष्ट नहीं कर सकता ।

सहन करनेसे धीरता, वीरता, गम्भीरता और आत्मबलकी वृद्धि भी होती है । अवश्य ही क्षमा-बुद्धिसे सहन होना चाहिये, कायरता या डरसे नहीं । आत्मरक्षाके लिये या अन्यायका

विरोध करनेके लिये आवश्यकतानुसार उचित प्रतीकार करना भी दोषकी बात नहीं है । किन्तु इस बातका विशेष ध्यान रखना चाहिये कि कहीं किसीका अनिष्ट न हो जाय । मनुने कहा है—

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः ।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥
(२ । १६१)

'मनुष्यको चाहिये कि दूसरेके द्वारा दुःख दिये जानेपर या दैवयोगसे कोई दुःख प्राप्त हो जानेपर भी मनमें दुखी न हो तथा दूसरेसे द्रोह करनेमें कभी मन न लगावे । अपनी जिस वाणीसे किसीको दुःख हो ऐसी लोकविरुद्ध वाणी कभी न बोले ।'

सम्मानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥
(२ । १६२)

ब्राह्मणको चाहिये कि सम्मानसे विषके समान नित्य डरता रहे (क्योंकि अभिमान बढ़नेसे बहुत हानि है) और अमृतके समान सदा अपमानकी इच्छा करता रहे अर्थात् तिरस्कार होनेपर खेद न करे ।'

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥
(२ । १६३)

'अपमान सह लेनेवाला मनुष्य सुखसे सोता है, सुखसे जागता है और इस संसारमें सुखसे विचरता है, परन्तु दूसरोंका अपमान करनेवाला नष्ट हो जाता है ।'

इसलिये किसीका अनिष्ट करना, किसीके साथ वैर करना या किसीमें द्वेष या घृणा करना, अपने आपका पतन करना है।

बालकका जबतक विवाह नहीं होता तबतक वह गुरुके पास या माता-पिताके पास कहीं रहे वह ब्रह्मचारी ही है।

ब्रह्मचारीको लहसुन, प्याज, मदिरा, मांस, भाँग, तंबाकू, बीड़ी, सिगरेट, गाँजा आदि घृणित एवं मादक पदार्थोंका सेवन करना तो दूर रहा इनका तो स्मरण भी नहीं करना चाहिये।

अतर, फुलेल, तैल, पुष्पोंकी माला, आँखोंका अञ्जन, बालों-का शृङ्गार, नाचना, गाना, बजाना, स्त्रियोंका दर्शन-भाषण-स्पर्श एवं सिनेमा-थियेटर आदि खेल-तमाशोंका देखना इन सबको सारे अनर्थोंका मूल कामोद्दीपन करनेवाला वीर्यनाशक समझकर त्याग कर देना चाहिये।

झूठ, कपट, छल, छिद्र, जुआ, झगड़ा, विवाद, निन्दा, चुगली, हिंसा, चोरी, जारी आदिको महापाप समझकर इन सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष, ईर्षा, वैर, अहंकार, दम्भ, दर्प, अभिमान और घृणा आदि दुर्गुणोंको सारे पाप और दुःखोंका मूलकारण समझकर हृदयसे हटानेके लिये विशेष प्रयत्नशील रहना चाहिये।

बालक एवं ब्रह्मचारियोंके लिये मनुजी कहते हैं—

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥

(२। १७७)

'शहद, मांस, सुगन्धित वस्तु, फूलोंके हार, रस, स्त्री, सिरकेकी भाँति बनी हुई समस्त मादक वस्तुएँ और प्राणियोंकी हिंसा इन सबको त्याग दें।'

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥

(२ । १७९)

'जुआ, गाली-गलौज, निन्दा तथा झूठ एवं स्त्रियोंको देखना, आलिङ्गन करना और दूसरेका तिरस्कार करना' (इन सबका भी ब्रह्मचारीको त्याग कर देना चाहिये)।

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥

(२ । १७८)

'उबटन लगाना, आँखोंका आँजना, जूते और छत्र धारण करना, एवं काम, क्रोध, लोभ और नाचना, गाना, बजाना इन सबको भी त्याग दें।'

सोडावाटर, बर्फ, बिस्कुट, डाक्टरी दवा, होटलका भोजन आदि भी उच्छिष्ट एवं महान् अपवित्र हैं* इसलिये धर्ममें बाधक समझकर इनका त्याग करना चाहिये। ऐसे भोजनको भगवान्‌ने तामसी बतलाया है।

---

* प्रायः सोडावाटर और बर्फ उच्छिष्ट, बिस्कुटमें मुर्गीका अण्डा, डाक्टरी औषधमें मद्य, मांस आदिका मिश्रण, होटलके भोजनमें मद्य-मांसादिका संसर्ग यह सब ही महान् अपवित्र हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

(गीता १७ । १०)

'जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है—वह (भोजन) तामस पुरुषको प्रिय होता है ।'

उपर्युक्त दुर्गुण और दुराचारोंको न त्यागनेवाले पुरुषके यज्ञ, दान, तप, नियम आदि उत्तम कर्म सफल नहीं होते। ~~बल्कि दुखी होते हैं ।~~ मनुजी कहते हैं—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥

(२ । ९७)

'दुष्टस्वभाववाले मनुष्यके वेद, दान, यज्ञ, नियम और तप ये सब कभी भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होते हैं, अर्थात् इन सबका उत्तम फल उसे नहीं मिलता ।'

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥

(४ । १५७)

'दुराचारी पुरुष सदा ही लोकमें निन्दित, दुःख भोगनेवाला, रोगी और अल्पायु होता है ।'

अतएव दुर्गुण और दुराचारोंका त्याग करके मन और इन्द्रियोंको विषय-भोगोंसे हटाकर अपने स्वाधीन करना चाहिये ।

मन और इन्द्रियोंका संयम होनेसे राग-द्वेष, हर्ष-विषादका नाश सहजमें ही हो सकता है। जब प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें हर्ष-शोक नहीं होता तथा मन और इन्द्रियोंके साथ इन्द्रियोंका संसर्ग होनेपर भी चित्तमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता तब समझना चाहिये कि सच्चा जितेन्द्रिय 'संयमी' पुरुष है। मनुजी भी कहते हैं——

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥
(२। ९८)

'जो मनुष्य सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर और सूँघकर न तो प्रसन्न होता है और न उदास होता है, उसे जितेन्द्रिय जानना चाहिये।'

मन और इन्द्रियोंके वशमें होनेके बाद राग-द्वेषसे रहित होकर विषयोंका संसर्ग किया जाना ही लाभदायक है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
(२। ६४)

'परन्तु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है।'

ब्रह्मचर्य

जिसने सब प्रकारसे मैथुनका त्याग कर दिया है* वही ब्रह्मचारीके नामसे प्रसिद्ध है। क्योंकि सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करनारूप ब्रह्मचर्यका पालन ब्रह्म (परमात्मा) की प्राप्तिमें मुख्य हेतु है। ऊपर बतलाये हुए व्रतका आचरण करनेवाला चाहे गुरुके गृहमें वास करे या अपने माता-पिताके घरपर रहे वह ब्रह्मचारी ही है। हे बालको ! ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना भी तुम्हारे लिये सबसे बढ़कर मुख्य कर्तव्य है। इसीसे बल, बुद्धि, तेज, सद्गुण और सदाचारकी वृद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

इसलिये तुमलोगोंको स्त्रियोंके संगसे बहुत सावधान रहना चाहिये। स्त्रियोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श और चिन्तनकी तो बात ही क्या है उनकी मूर्ति एवं चित्र भी ब्रह्मचारीको नहीं देखने चाहिये। यदि अत्यन्त आवश्यकता पड़ जाय तो नीची दृष्टिसे अपने चरणोंकी तरफ या जमीनको देखते हुए उनको अपनी माँ और बहिनके समान समझकर बातचीत करे। किन्तु एकान्तमें तो माता और बहिनके साथमें भी न रहे क्योंकि स्त्रियोंका संसर्ग पाकर बुद्धिमान् पुरुषकी भी बुद्धि भ्रष्ट होकर इन्द्रियाँ विचलित हो जाती हैं। मनुने भी कहा है—

---

* स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

स्त्रीका स्मरण, स्त्रीसम्बन्धी बातचीत, स्त्रियोंके साथ खेलना, स्त्रीको देखना, स्त्रीसे गुप्त भाषण करना, स्त्रीसे मिलनेका संकल्प करना, चेष्टा करना और स्त्रीसंग करना—ये आठ प्रकारके मैथुन माने गये हैं।

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥
(२ । २१५)

'मनुष्यको चाहिये कि माता, बहिन या लड़कीके साथ भी एकान्तमें न बैठे, क्योंकि इन्द्रियोंका समूह बड़ा बलवान् है, अतः वह पण्डितको भी अपनी ओर खींच लेता है ।'

महावीर हनुमान्‌का नाम ब्रह्मचर्यव्रतके पालनमें प्रसिद्ध है । रामायणके पाठक उनकी जीवनीसे भी परिचित हैं । हनुमान् एक अलौकिक वीर पुरुष थे । हनुमान्‌ने समुद्रको लाँघ, रावण-पुत्र अक्षयकुमारको मार और लङ्काको जला श्रीजानकीजीका समाचार श्रीरामके पास पहुँचाया । और लक्ष्मणके शक्तिबाण लगनेपर सुषेण वैद्यकी बतलायी हुई बूटीको न पहचाननेके कारण बूटीसहित पहाड़को उखाड़कर सूर्योदयके पूर्व ही लङ्कामें ला उपस्थित किया । किष्किन्धा और सुन्दरकाण्डको देखनेसे मालूम होता है कि हनुमान् केवल वीर ही नहीं, सदाचारी, विद्वान् ऋद्धि-सिद्धिके ज्ञाता और भगवान्‌के महान् भक्त थे । जिनकी महिमा गाते हुए स्वयं भगवान्‌ने कहा है कि हे हनुमान्! तुमने जो हमारी सेवा की है, उसका प्रत्युपकार न करनेके कारण मैं लज्जित हूँ ।

प्रति उपकार करौं का तोरा । सनमुख होइ न सकत मन मोरा ॥

भारतवासी आज भी उनको नैष्ठिक ब्रह्मचारी मानकर पूजते हैं, भक्तगण स्तुति गाते हैं, व्यायाम करनेवाले अपने दलका नाम 'महावीरदल' रखकर बल बढ़ाना चाहते हैं । वास्तवमें मनुष्य

महावीर हनुमान्के जिस गुणका स्मरण करता है आंशिकरूपसे उसमें उस गुणका आविर्भाव-सा हो जाता है ।

राजकुमार वीर लक्ष्मणजीके विषयमें तो कहना ही क्या है, वे तो साक्षात् भगवान्के सेवक एवं शेषजीके अवतार थे । उन्होंने तो श्रीरामजीके साथ अवतार लेकर लोगोंके हितार्थ लोक-मर्यादा-के लिये आदर्श व्यवहार किया । वे सदाचारी, गुणोंकी खान, भगवान्के अनन्यभक्त, एक महान् वीर पुरुषके नामसे प्रसिद्ध थे । उन्होंने जिसको इन्द्र भी न जीत सका था उस वीर मेघनादको भी मार डाला । काम पड़नेपर कालसे भी नहीं डरते थे । यह सब ब्रह्मचर्यव्रतका ही प्रभाव बतलाया गया ।

गङ्गापुत्र पितामह भीष्मका नाम आपलोगोंने सुना ही होगा, वे बड़े तेजस्वी, शीलवान्, अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले, ईश्वरके भक्त और बड़े धर्मात्मा वीर पुरुष थे । उन्होंने अपने पिताकी सेवाके लिये क्षणमात्रमें कञ्चन और कामिनीका सदाके लिये त्याग कर दिया और उसके प्रतापसे उन्होंने कालको भी जीत लिया । एक समय देवव्रत (पितामह भीष्म) ने अपने पिता शान्तनुको शोकाकुल देखकर उनसे शोकका कारण पूछा, उन्होंने पुत्रवृद्धिके लिये विवाह करनेकी इच्छा प्रकट की । इस प्रकार अपने पिताके शोकका कारण जानकर बुद्धिमान् देवव्रतने अपने पिताके बूढ़े मन्त्रीके पास जाकर उनसे भी अपने पिताके शोकका कारण पूछा—तब मन्त्रीने धीवरराजकी (पालिता) कन्या-के सम्बन्धके विषयकी सब बातें कहीं और धीवरराजकी इच्छाका

वृत्तान्त भी सुनाया। तब देवव्रत बहुत-से क्षत्रियोंको साथ लेकर उस धीवरराजके पास गये और अपने पिताके लिये उस धीवरराजसे कन्या माँगी। धीवरराजने देवव्रतका विधिपूर्वक सत्कार किया और इस प्रकार कहा—हे देवव्रत! अपने पिताके आप बड़े पुत्र हैं और आप राजा होनेके योग्य हैं किन्तु मैं कन्याका पिता हूँ, इसलिये आपसे कुछ कहना चाहता हूँ, बात यह है कि इस कन्यासे जो पुत्र उत्पन्न हो, वही राजगद्दीपर बैठे। इस शर्तपर मैं अपनी कन्याका विवाह आपके पिताके साथ कर सकता हूँ, नहीं तो नहीं। उस दासराज (धीवरराज) के वचनको सुनकर गङ्गापुत्र देवव्रतने सब राजाओंके सामने यह उत्तर दिया कि हे दासराज! तुम जैसा कहते हो, मैं वैसा ही करूँगा। यह मेरा सत्य वचन है, इसे तुम निश्चय ही मानो। इस कन्यासे जो पुत्र उत्पन्न होगा, वही हमारा राजा होगा। तब धीवरराजने कहा—'हे सत्यधर्मपरायण! आपने मेरी कन्या सत्यवतीके लिये सब राजाओंके बीचमें जो प्रतिज्ञा की है, वह आपके योग्य ही है, आप इस प्रतिज्ञाका पालन करेंगे, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है, किन्तु आपके जो पुत्र होंगे—उनसे मुझे बड़ा सन्देह है—वे इस कन्याके पुत्रसे राज्य ले सकते हैं।' तदनन्तर गङ्गापुत्र देवव्रतने अपने पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे दूसरी प्रतिज्ञा की, देवव्रत बोले—'हे दासराज! अपने पिताके लिये इन सब राजाओंके सामने मैं जो वचन कहता हूँ, उसको सुनो। (मैं राज्यको तो पहले त्याग ही चुका हूँ) आजसे मैं आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा अर्थात् विवाह न करके आजीवन

ब्रह्मचारी रहूँगा।' राजकुमार देवव्रतके ऐसे वचनोंको सुनकर बड़ी प्रसन्नतासे धीवरराज बोले—'हे देवव्रत! मैं यह कन्या आपके पिताके लिये अर्पण करता हूँ।' उस समय देवता और ऋषिगण बोले—'यह भयानक कर्म करनेवाला है इसलिये यह भीष्म है।' ऐसा कहते हुए आकाशसे फूलोंकी वर्षा करने लगे। (तबसे गङ्गापुत्र देवव्रतका नाम भीष्म विख्यात हुआ।) उसके बाद भीष्मने अपने पिताके लिये उस धीवरराजकी यशस्विनी कन्या सत्यवतीसे कहा—'मातः! इस रथपर चढ़िये, हमलोग घर चलेंगे।' ऐसा कह उस कन्याको अपने रथमें बैठाकर हस्तिनापुर आये, और उस कन्याको पिताके अर्पण कर दिया। उनके इस दुष्कर कर्मको देखकर सब राजालोग उनकी प्रशंसा करने लगे और यह कहने लगे—इसने बड़ा भयङ्कर कर्म किया है। इस कारण हम सब इसका 'भीष्म' नाम रखते हैं। जब राजा शान्तनुने सुना कि देवव्रत ऐसा दुस्तर कार्य किया है तो उन्होंने प्रसन्न होकर महात्मा भीष्मको अपने तपके बलसे स्वच्छन्द मरणका वर दिया। वे बोले—'हे निष्पाप! तुम जबतक जीवित रहना चाहोगे तबतक मृत्युका तुम्हारे ऊपर कोई प्रभाव न होगा, तुम्हारी आज्ञा होनेपर ही तुम्हें मृत्यु मार सकेगी।' (महाभारत आदि० अ० १००)

आजीवन ब्रह्मचर्यके प्रभावसे अकेले भीष्म काशीमें समस्त राजाओंको परास्त करके अपने भाई विचित्रवीर्यके साथ विवाह करनेके लिये बलपूर्वक स्वयंवरसे काशिराजकी अम्बा, अम्बिका,

अम्बालिका नामवाली तीनों कन्याओंको ले आये। उन तीनों कन्याओंमें शाल्वराजकी इच्छा करनेवाली अम्बा नामवाली कन्याका त्याग कर दिया, और उस अम्बाके पक्षको लेकर आये हुए जमदग्निपुत्र परशुरामके साथ बहुत दिनोंतक घोर युद्ध करके अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षा की।

महाभारतको देखनेसे ज्ञात होता है कि भीष्म केवल शूरवीर ही थे इतनी बात नहीं, वे बड़े भारी सदाचारी, सद्गुण-सम्पन्न, शास्त्रके ज्ञाताओंमें सूर्यरूप एवं भक्तोंमें शिरोमणि थे। भीष्मने भगवान् श्रीकृष्णजीके कहनेसे राजा युधिष्ठिरको भक्ति, ज्ञान, सदाचार आदि धर्मके विषयमें अलौकिक उपदेश दिया था जिससे शान्ति और अनुशासनपर्व भरा पड़ा है। आजीवन ब्रह्मचर्यके पालनके प्रभावसे वे अचल कीर्ति और इच्छामृत्युको प्राप्त करके सर्वोत्तम परमगतिको प्राप्त हो गये।

ब्रह्मचर्यकी महिमा बतलाते हुए भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

(८। ११)

'जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारीलोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं उस परमपदको मैं तेरे लिये संक्षेपमें कहूँगा।'

प्रायः इसी प्रकारका वर्णन कठोपनिषद्‌में भी आता है—

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(१। २। १५)

'जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचारीगण ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं उस परमपदको मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहता हूँ। वह पद यह 'ॐ' है।'

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(कठ० १। २। १६)

'यह ॐकार अक्षर ही ब्रह्म सगुणब्रह्म है, यही परब्रह्म निर्गुण-ब्रह्म है, इस ॐकाररूप अक्षरको जानकर मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिलती है।'

एतदालम्बनँ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
(कठ० १। २। १७)

'यह सबसे उत्तम आलम्बन है, यह ही सबसे ऊँचा आलम्बन है। जो मनुष्य इस आलम्बनको जान जाता है वह ब्रह्मलोकमें महिमावाला होता है।' यानी ब्रह्मलोकनिवासी भी उसकी महिमा गाते हैं।

अतएव बालकोंको ब्रह्मचर्यके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये। यदि आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन न हो सके तो शास्त्रके आज्ञानुसार चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्यका पालन करें, यदि इतना भी न हो सके तो, कम-से-कम आजकलके समयके अनुसार अठारह वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन तो अवश्य ही करना चाहिये, इससे पूर्व ब्रह्मचर्यका नाश करनेवाले बालकको सदाके लिये पश्चात्ताप एवं

रोगोंका शिकार होकर असमयमें मृत्युका शिकार बनना पड़ता है। विषय-भोगोंके अधिक भोगनेसे बल, वीर्य, तेज, बुद्धि, ज्ञान, स्मृतिका नाश और दुर्गुण-दुराचारोंकी वृद्धि होकर उसका पतन हो जाता है। इसलिये गृहस्थी भाइयोंसे भी नम्र निवेदन है कि महीनेमें एक बार ऋतुकालके अतिरिक्त स्त्री-सहवास न करें। क्योंकि उपर्युक्त नियमपूर्वक सहवास करनेवाला गृहस्थी भी यति और ब्रह्मचारीके सदृश माना गया है।

विद्या

संसारमें विद्याके समान कोई भी पदार्थ नहीं है। संसारके पदार्थोंका तात्त्विक ज्ञान भी विद्यासे ही होता है। विद्या तो बाँटनेसे भी बढ़ती है। आदर, सत्कार, प्रतिष्ठा भी विद्यासे मिलते हैं क्योंकि विद्वान् जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ उसका आदर-सत्कार होता है। विद्याके प्रभावसे मनुष्य जो चाहे सो कर सकता है, विद्या गुप्त और परमधन है।

भोगके द्वारा विद्या कामधेनु और कल्पवृक्षकी भाँति फल देनेवाली है। विद्याकी बड़ाई कहाँतक की जाय मुक्तितक विद्यासे मिलती है क्योंकि ज्ञान विद्याका ही नाम है और बिना ज्ञानके मुक्ति होती नहीं, इसलिये विद्या मुक्तिको देनेवाली भी है।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥

(भर्तृहरिनीतिशतक २१)

'विद्या ही मनुष्यका अधिक-से-अधिक रूप और ढका हुआ गुप्त धन है, विद्या ही भोग, यश और सुखको देनेवाली है तथा गुरुओंकी भी गुरु है। विदेशमें गमन करनेपर विद्या ही बन्धुके समान सहायक हुआ करती है, विद्या परा देवता है, राजाओंके यहाँ भी विद्याकी ही पूजा होती है, धनकी नहीं। इसलिये जो मनुष्य विद्यासे हीन है, वह पशुके समान है।'

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी।
प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम्॥

(चाणक्य ४ । ५)

'विद्यामें कामधेनुके समान गुण हैं, यह अकालमें भी फल देनेवाली है, यह विद्या मनुष्यका गुप्तधन समझा गया है। विदेशमें यह माताके समान (मदद करती) है।'

न चोरहार्यं न च राजहार्यं
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं
विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्॥

'विद्याको चोर या राजा नहीं छीन सकते। भाई इसका बटवारा नहीं करा सकते और इसका कुछ भार भी नहीं लगता, तथा दान करनेसे यानी दूसरोंको पढ़ानेसे यह विद्या नित्य बढ़ती रहती है अतः विद्यारूपी धन सब धनोंमें प्रधान है।'

धर्मशास्त्रोंका ज्ञान भी विद्यासे ही होता है। शास्त्रका अभ्यास वाणीका तप है ऐसा गीतामें भी कहा है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
(१७ । १५)

'जो उद्वेगको न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पढ़ने एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है—वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है ।'

अतएव बालकोंको शास्त्रोंके अभ्यासके लिये तो विद्याका अभ्यास विशेषरूपसे करना चाहिये । विद्या पढ़ानेमें माता-पिताको भी पूरी सहायता करनी चाहिये । क्योंकि जो माता-पिता अपने बालकको विद्या नहीं पढ़ाते हैं वे शत्रुके समान माने गये हैं—

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥
(चाणक्य २ । ११)

'वे माता और पिता वैरीके समान हैं जिन्होंने अपने बालकको विद्या नहीं पढ़ायी, क्योंकि विना पढ़ा हुआ बालक सभामें वैसे ही शोभा नहीं पाता ,जैसे हंसोंके बीच बगुला ।'

बालकोंको भी स्वयं पढ़नेके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये । क्योंकि चाणक्यमें कहा है—

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥
(३ । ८)

'विद्यारहित मनुष्य रूप और यौवनसे सम्पन्न एवं बड़े कुलमें

उत्पन्न होनेपर भी विद्वानोंकी सभामें उसी प्रकार शोभा नहीं पाते जैसे विना गन्धका पुष्प ।'

इसलिये हे बालको ! विद्याका अभ्यास भी तुम्हारे लिये अत्यन्त आवश्यकीय है । अबतक जितने विद्वान् हुए और वर्तमानमें जो हैं, उनका विद्याके प्रतापसे ही आदर-सत्कार हुआ और हो रहा है ।

बड़प्पन और गौरवमें भी विद्याके समान जाति, आयु, अवस्था, धन, कुटुम्ब कुछ भी नहीं है । मनुजी कहते हैं—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥

(२ । १३६)

'धन, कुटुम्ब, आयु, कर्म और पाँचवीं विद्या ये बड़प्पनके स्थान हैं । इनमें जो-जो पीछे है वही पहलेसे बड़ा है अर्थात् धनसे कुटुम्ब बड़ा है इत्यादि ।'

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥

(२ । १५४)

'न बहुत वर्षोंकी अवस्थासे, न सफेद बालोंसे, न धनसे, न भाई-बन्धुओंसे कोई बड़ा होता है । ऋषियोंने यह धर्म किया है कि जो अङ्गोंसहित वेद पढ़नेवाला है वही हमलोगोंमें बड़ा है ।'

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥

(२ । १५६)

'सिरके बाल सफेद होनेसे कोई बड़ा नहीं होता। तरुण होकर भी जो विद्वान् होता है उसे देवता वृद्ध मानते हैं।'

यही क्या विद्यासे सब कुछ मिल सकता है किन्तु कल्याणके चाहनेवाले मनुष्योंको केवल वेद, शास्त्र और ईश्वरका तत्त्व जाननेके लिये ही अभ्यास करना चाहिये। अभ्यास करनेमें सांसारिक सुखोंका त्याग और महान् कष्टका सामना करना पड़े तो भी हिचकना नहीं चाहिये।

इसलिये हे बालको! तुमलोगोंको भी स्वाद, शौक, भोग, आराम, आलस्य और प्रमादको विद्यामें बाधक समझकर इन सबका एकदम त्याग करके विद्याभ्यास करनेके लिये कटिबद्ध होकर प्राण-पर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

माता, पिता, आचार्य आदि गुरुजनोंकी सेवा

माता, पिता, आचार्यकी सेवा और आज्ञापालनके समान बालकोंके लिये दूसरा कोई भी धर्म नहीं है। मनुने भी कहा है—इन सबकी सेवा ही परमधर्म है, शेष सब उपधर्म हैं—

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥
(२। २३७)

'इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका सब कृत्य समाप्त हो जाता है यानी उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। यही साक्षात् परमधर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं।'

बात यह है शास्त्रोंमें माता, पिता, आचार्यको तीनों लोक, तीनों वेद और देवता बतलाये हैं। श्रुति कहती है—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।
(तैत्ति० १। ११। २)

'माता, पिता और आचार्यको देवता माननेवाला हो।'

मनुने कहा है—

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥
(२। २३०)

'वे ही तीनों लोक, वे ही तीनों आश्रम, वे ही तीनों वेद और वे ही तीनों अग्नि कहे गये हैं।'

भगवान्‌ने तपकी व्याख्या करते हुए प्रथम बड़ोंकी सेवा-पूजाको शरीरका तप कहा है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
(गीता १७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

इसलिये बालकोंको उचित है कि आलस्य और प्रमादको छोड़कर माता-पिता आदि गुरुजनोंकी सेवाको परमधर्म समझकर उनकी पूजा-सेवा एवं आज्ञाका पालन तत्पर होकर करें।

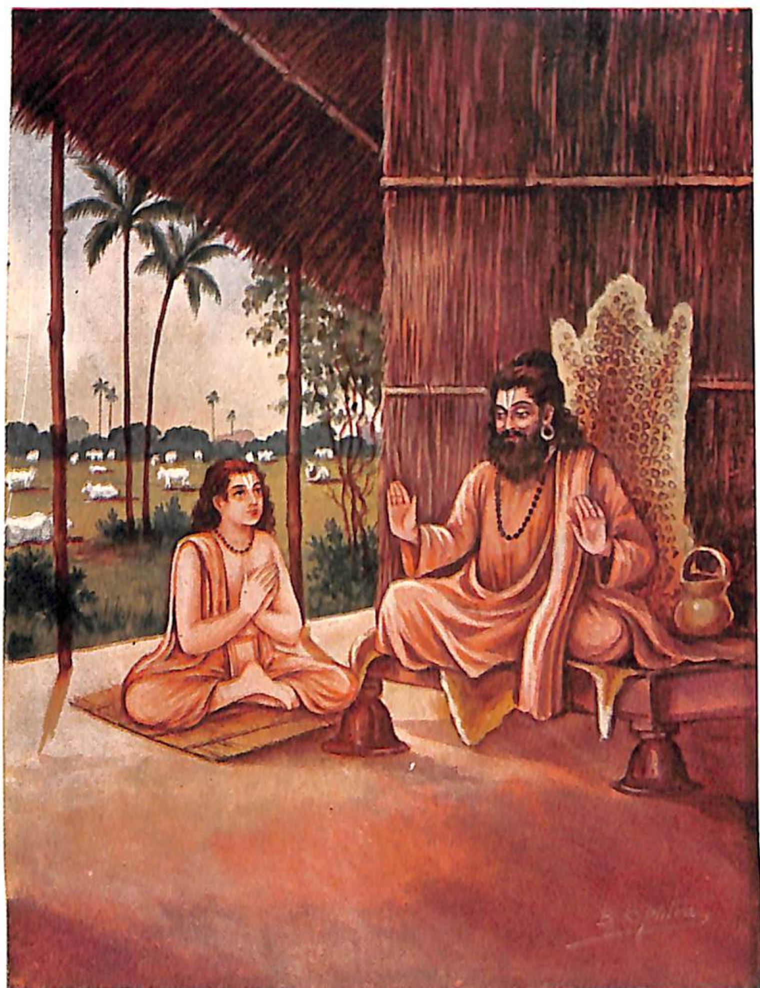
गुरुजनोंकी सेवा

मनुष्य केवल गुरुकी सेवासे भी परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें भी कहा है——

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥
(१३।२५)

'परन्तु इनसे दूसरे, अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

इस प्रकारके वेद और शास्त्रोंमें बहुत-से उदाहरण भी मिलते हैं। एक समय आयोदधौम्य मुनिने पंजाबनिवासी आरुणि नामक शिष्यसे कहा——'हे आरुणे! तुम खेतमें जाकर बाँध बाँधो।' आरुणि गुरुकी आज्ञाको पाकर वहाँ गया, पर प्रयत्न करनेपर भी किसी प्रकारसे वह जलको नहीं रोक सका। अन्तमें उसे एक उपाय सूझा और वह स्वयं क्यारीमें जाकर लेट रहा। उसके लेटनेसे जलका प्रवाह रुक गया। समयपर आरुणिके न लौटनेसे, आयोद-धौम्य मुनिने अन्य शिष्योंसे पूछा, पंजाबनिवासी आरुणि कहाँ है? शिष्योंने उत्तर दिया आपने ही उसे खेतका बाँध बाँधनेके लिये भेजा है। शिष्योंकी बात सुनकर मुनिने कहा चलो, जहाँ आरुणि गया है वहीं हम सब लोग चलें। तदनन्तर गुरुजी वहाँ बाँधके पास पहुँचकर, उसे बुलानेके लिये पुकारने लगे——'बेटा आरुणे! कहाँ



सत्यकाम और गुरु गौतम

हो, चले आओ।' आरुणि उपाध्यायकी बात सुनकर उस बाँधसे सहसा उठकर उनके निकट उपस्थित हुआ और बोला—'हे भगवन्! आपके खेतका जल निकल रहा था, मैं उसे किसी प्रकारसे रोक नहीं सका, तब अन्तमें मैं वहाँ लेट गया इसीसे जलका निकलना बंद हो गया। इस समय आपके पुकारनेपर सहसा आपके पास आया हूँ और प्रणाम करता हूँ,—आप आज्ञा दीजिये, इस समय मुझको कौन-सा कार्य करना होगा।' गुरु बोले—'बेटा! बाँधका उद्दलन करके निकले हो इसलिये तुम उद्दालक नामसे प्रसिद्ध होओगे।' यह कहकर उपाध्याय उसपर कृपा दिखलाते हुए बोले, 'तुमने तन, मनसे मेरी आज्ञाका पालन किया है, इसलिये सम्पूर्ण वेद और धर्मशास्त्र तुम्हारे मनमें विना पढ़े ही प्रकाशित रहेंगे और तुम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।' इसके उपरान्त वह गुरुके प्रसादको पाकर आरुणि (उद्दालक) गुरुकी आज्ञासे अपने देशको चला गया। (महाभारत आदिपर्व अध्याय ३)

जबाला नामकी एक स्त्री थी, उसके पुत्रका नाम सत्यकाम था। एक समय उसने हारिद्रुमतगौतमके पास जाकर कहा 'मैं आपके यहाँ ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ वास करूँगा, इसलिये मैं आपके पास आया हूँ।' गुरुने कहा 'हे सौम्य! तू किस गोत्रवाला है?' तब सत्यकाम बोला 'भगवन्! मैं नहीं जानता।' तब गौतमने कहा 'ऐसा स्पष्ट भाषण ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता अतएव तू ब्राह्मण है, क्योंकि तुमने सत्यका त्याग नहीं किया है।'

फिर गौतमने उसका उपनयन-संस्कार करनेके अनन्तर,

गौओंके झुण्डमेंसे चार सौ कृश और दुर्बल गौएँ अलग निकालकर उससे कहा कि 'हे सौम्य ! तू इन गौओंके पीछे-पीछे जा ।' गुरुकी इच्छा जानकर सत्यकामने कहा 'इनकी एक सहस्र संख्या पूरी हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा ।' तब वह एक अच्छे वनमें गया जहाँ जल और तृणकी बहुतायत थी और बहुत कालपर्यन्त उनकी सेवा करता रहा । जब वे एक हजारकी संख्यामें हो गयीं, तब एक साँड़ने उससे कहा कि 'हे सत्यकाम ! हम एक सहस्र हो गये हैं—अब तुम हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दो ।' इसके बाद सत्यकाम उन गौओंको आचार्यकुलमें ले आया और गुरुकी आज्ञापालन-के प्रतापसे ही उसको रास्ते चलते-चलते ही साँड़, अग्नि, हंस और मुद्गलद्वारा विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी । यह कथा छान्दोग्योपनिषद् अ० ४ खं० ४ से ९ तकमें है ।

एक समय जबालाके पुत्र सत्यकामसे कमलके पुत्र उपकोशलने यज्ञोपवीत लेकर बारह वर्षतक उनकी सेवा की । तब सत्यकामकी भार्याने स्वामीसे कहा—'यह उपकोशल खूब तपस्या कर चुका है, इसने अच्छी तरह आपके आज्ञानुसार अग्नियोंकी सेवा की है । अतएव इसे ब्रह्मविद्याका उपदेश करना चाहिये ।' पर सत्यकामने उसे कुछ उत्तर नहीं दिया और उपदेश बिना दिये ही बाहर चले गये । उनके चले जानेपर उपवास करनेवाले उपकोशलको अग्नियोंने ब्रह्मका उपदेश दिया । उसके बाद गुरु लौटकर वापस आये और उससे पूछा—'हे सौम्य ! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताके समान प्रतीत होता है, तुम्हें किसने उपदेश दिया है ?'

तब उपकोशलने इशारोंसे अग्नियोंको बतलाया। उसके बाद आचार्यने पूछा—'क्या उपदेश दिया है?' तब उसने सारी बातें ज्यों-की-त्यों कह दीं। तब आचार्य बोले—'हे सौम्य ! अब तुझे उस ब्रह्मका उपदेश मैं करूँगा जिसे जान लेनेपर तू जलसे कमलपत्तेके सदृश पापसे लिपायमान नहीं होगा।' तब उपकोशल-ने कहा—'मुझे बतलाइये'—फिर आचार्यने उसे ब्रह्मका उपदेश दिया और उससे वह ब्रह्मको प्राप्त हो गया। यह कथा छान्दोग्य० अ० ४ खण्ड १० से १५ तकमें है।

आजकलके प्रायः बालक किसके साथमें कैसा बर्ताव करना चाहिये, इस बातको भूल गये। औरकी तो बात ही क्या है—उपाध्याय, गुरु, आचार्य और शिक्षा देनेवाले गुरुजनोंके साथ भी सत् व्यवहार करना तो दूर रहा कुछ विद्यार्थी तो घृणा एवं तुच्छ दृष्टिसे उनको देखते हैं और कोई-कोई तो तिरस्कारपूर्वक उनका हँसी-मजाक उड़ाते हैं। यह सब शास्त्रकी शिक्षाके अभावका परिणाम है। गुरुओंके पास जाकर किस प्रकारसे उनकी सेवा-पूजा, सत्कार करते हुए व्यवहार करना चाहिये यह मनु आदि महर्षियोंकी शिक्षाको देखनेसे ही मालूम हो सकता है। हमारे इस देशका कितना ऊँचा आदर्श था कि गुरुजनोंके साथमें कैसा व्यवहार था और कैसी सभ्यता थी, उसका स्मरण करनेसे मनुष्य मुग्ध हो जाता है। मनुजी कहते हैं—

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम्॥

(२।१९२)

'शरीर, वाणी, बुद्धि, इन्द्रियाँ और मन इन सबको रोककर हाथ जोड़े, गुरुके मुखको देखता हुआ खड़ा रहे।'

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥

(मनु० २। १९४)

'गुरुके सामने सदा साधारण अन्न, वस्त्र और वेषसे रहे तथा गुरुसे पहले उठे और पीछे सोवे।'

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः॥

(मनु० २। १९६)

शिष्यको चाहिये कि 'बैठे हुए गुरुसे खड़े होकर, खड़े हुएसे उनके सामने जाकर, अपनी ओर आते हुएसे कुछ पद आगे जाकर, दौड़ते हुएसे उनके पीछे दौड़कर बातचीत करे।'

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत्॥

(मनु० २। १९८)

'गुरुके समीप शिष्यकी शय्या और आसन सदा नीचा रहना चाहिये। गुरुकी आँखोंके सामने शिष्यको मनमाने आसनसे नहीं बैठना चाहिये। गुरुके साथ असत्य आचरण करनेसे उसकी दुर्गति होती है।' मनुजीने कहा है—

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी॥

(मनु० २। २०१)

'गुरुको झूठा दोष लगानेवाला गधा, उनकी निन्दा करनेवाला कुत्ता, अनुचित रीतिसे उनके धनको भोगनेवाला कृमि और उनके साथ डाह करनेवाला कीट होता है।'

इसलिये उनके साथ असत् व्यवहार कभी नहीं करना चाहिये।

हे बालको ! जब तुम गुरुजनोंके पास विद्या सीखने जाओ, तब मन, वाणी, इन्द्रियोंको वशमें करके सादगीके साथ श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरुजनोंके समीप उनसे नीचे कायदेमें रहते हुए, विनय और सरलताके साथ, उनको प्रणाम करते हुए विद्याका अभ्यास एवं प्रश्नोत्तर किया करो।

इस प्रकार व्यवहार करनेसे गुरुजन प्रेमसे उपदेश, शिक्षा, विद्यादिका प्रदान प्रसन्नतापूर्वक कर सकते हैं। सेवा करनेवाला सेवक उनसे विद्या सहजमें ही पा सकता है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४। ३४)

'उस ज्ञानको तू समझ, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास जाकर उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

अब यह बतलाया जाता है कि गुरुजनोंके पास जाकर कैसे प्रणाम करना चाहिये। मनुने कहा है—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥
(२।७२)

'हाथोंको हेरफेर करके गुरुके चरण छूने चाहिये। बायें हाथसे बायाँ और दाहिने हाथसे दाहिना चरण छूना चाहिये।'

माता-पितादि अन्य पूज्यजनोंके साथ भी इसी प्रकारका व्यवहार करना चाहिये। क्योंकि बड़ी बहिन, बड़े भाईकी स्त्री, मौसी, मामी, सास, फूआ आदि भी गुरुपत्नी और माताके समान हैं और इनके पति गुरु और पिताके समान हैं। इसलिये इन सबकी सेवा, सत्कार, प्रणाम करना मनुष्यका कर्तव्य है।

अपनेसे कोई किसी भी प्रकार बड़े हों उन सबकी सेवा और उन्हें आदरपूर्वक प्रणाम करना चाहिये। उनमें भी वेद और शास्त्रको जाननेवाला विद्वान् ब्राह्मण तो सबसे बढ़कर सत्कार करनेयोग्य है।

माता-पिताकी सेवा

माता-पिताकी सेवाकी तो बात ही क्या है—वे तो सबसे बढ़कर सत्कार करनेयोग्य हैं। मनुने भी कहा है—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥
(२।१४५)

'बड़प्पनमें दश उपाध्यायोंसे एक आचार्य, सौ आचार्योंसे एक पिता और हजार पिताओंसे एक माता बड़ी है।'

इसलिये कल्याण चाहनेवालेको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परता-के साथ उनकी सेवा करना उचित है। देखो, महाराज युधिष्ठिर बड़े सदाचारी, गुणोंके भण्डार, ईश्वरभक्त, अजातशत्रु एवं महान् धर्मात्मा पुरुष थे जिनके गुण और आचरणोंकी व्याख्या कौन लिख सकता है। ये सब बात होते हुए भी वे अपने माता-पिताके भक्त भी असाधारण थे। इतना ही नहीं वे अपने बड़े पिता धृतराष्ट्र एवं गान्धारीके भी कम भक्त नहीं थे। वे उनकी अनुचित आज्ञाका पालन करना भी अपना धर्म समझते थे। राजा धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको भस्म करनेके उद्देश्यसे लाक्षाभवन बनवाया और उसमें बुरी नीयतसे पाण्डवोंको मातासहित वास करनेकी आज्ञा दी। इस कपटभरी आज्ञाको भी युधिष्ठिरने शिरोधार्य करके राजा धृतराष्ट्रके षड्यन्त्रपूर्ण भावको समझते हुए भी वारणावत नगरमें जाकर लाक्षाभवनमें निवास किया किन्तु धर्मका सहारा लेनेके कारण इस प्रकारकी आज्ञाका पालन करनेपर भी धर्मने उन-की रक्षा की। साक्षात् धर्मके अवतार विदुरजीने सुरङ्ग खुदवाकर लाक्षागृहसे मातासहित पाण्डवोंको निकालकर बचाया। क्योंकि जो पुरुष धर्मका पालन करता है, धर्मको बाध्य होकर उसकी अवश्यमेव रक्षा करनी पड़ती है। शास्त्रोंमें ऐसा कहा है कि धर्म किसीको नहीं छोड़ता—लोग ही उसे छोड़ देते हैं अतएव मनुष्य-

को उचित है कि घोर आपत्ति पड़नेपर भी काम, लोभ, भय और मोहके वशीभूत होकर धर्मका त्याग कभी न करे।

राजा युधिष्ठिरपर बहुत आपत्तियाँ आयीं, पर उन्होंने बराबर धर्मका पालन किया इसलिये धर्म भी उनकी रक्षा करते रहे।

जुआ खेलना महापाप है और सारे अनर्थोंका कारण है, ऐसा समझते हुए भी धृतराष्ट्रकी आज्ञा होनेके कारण राजा युधिष्ठिरने जुआ खेला। उसके फलस्वरूप द्रौपदीका घोर अपमान और वनवासके महान् कष्टको सहन किया, किन्तु आज्ञापालनरूप धर्मका त्याग न करनेके कारण भगवान्की कृपासे अन्तमें उनकी विजय हुई।

इसके बाद उस अतुल राज्यलक्ष्मीको पाकर भी राजा युधिष्ठिरने अपने साथ घोर अन्याय करनेवाले धृतराष्ट्र और गान्धारीको नित्य प्रणाम करते हुए उनकी सेवा की। जब धृतराष्ट्र वनमें जाने लगे उस समय अपने मरे हुए बन्धु-बान्धवों और पुत्रोंके उद्देश्यसे अपरिमित धन ब्राह्मणोंको दान देनेके लिये इच्छा प्रकट की। उस समय राजा युधिष्ठिरने साफ शब्दोंमें विदुरके हाथ यह सन्देशा भेजा कि 'मेरा जो भी कुछ धन है वह सब आपका है। मेरा शरीर भी आपके अधीन है, आप इच्छानुसार जो चाहें सो कर सकते हैं!' (महाभारत आश्रमवासिकपर्व अ० १२)। पाठकगण! जरा सोचिये और ध्यान दीजिये। अपने साथ इस प्रकारका विरोध करनेवाले एवं प्राण लेनेकी चेष्टा रखनेवालोंके साथ भी ऐसा धर्मयुक्त उदारतापूर्ण व्यवहार करना साधारण बात नहीं है। इसीलिये आज संसारमें राजा युधिष्ठिर धर्मराजके नामसे विख्यात हैं।

और धर्मपालनके प्रभावसे ही वे सदेह स्वर्गको जाकर उसके बाद अतुलनीय परमगतिको प्राप्त हो गये। अतएव हमलोगोंको अपने साथ अनुचित व्यवहार करनेपर भी माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा तो श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सरलताके साथ करनी ही चाहिये।

फिर जन्म देनेवाले माता-पिताकी तो बात ही क्या है वे तो सबसे बढ़कर सत्कार करनेके योग्य हैं। क्योंकि हमलोगोंके पालन-पोषणमें उन्होंने जो क्लेश सहा है उनका स्मरण करनेसे रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं। मनुने कहा है—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥
(२।२२७)

'मनुष्यकी उत्पत्तिके समयमें जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सौ वर्षोंमें भी सेवादि करके नहीं चुकाया जा सकता।'

इसलिये हमलोगोंको बदला चुकानेका उद्देश्य न रखकर उनकी सेवा-पूजा और आज्ञाका पालन अपना परम कर्तव्य समझकर करना चाहिये। ऐसा करना ही परमधर्म और परमतप है अर्थात् माता-पिताके सेवाके समान न कोई धर्म है और न कोई तप है। देखो, धर्मव्याध व्याध होनेपर भी माता-पिताकी सेवाके प्रतापसे त्रिकालज्ञ हुए। उन्होंने श्रद्धा-भक्ति, विनय और सरलतापूर्वक अपने माता-पिताकी सेवा की।

वे अपने माता-पिताको सबसे उत्तम देवमन्दिरके समान सुन्दर घरमें रक्खा करते थे—उसमें बहुत-से पलंग, आसन आरामके

लिये रहते थे। जैसे मनुष्य देवताओंकी पूजा करते हैं वैसे ही वे अपने माता-पिताको ही यज्ञ, होम, अग्नि, वेद और परमदेवता मानकर पुष्पोंसे, फलोंसे, धनसे उनको प्रसन्न करते थे। वे स्वयं ही उन दोनोंके पैर धोते, स्नान कराके उन्हें भोजन कराते तथा उनसे मीठे और प्रिय वचन कहते और उनके अनुकूल चलते थे। इस प्रकार वे आलस्यरहित होकर शम, दम आदि साधनमें स्थित हुए अपना परमधर्म समझकर मन, वाणी, शरीरद्वारा तत्परतासे पुत्र, स्त्रीके सहित उनकी सेवा करते थे। जिसके प्रतापसे वे इस लोकमें अचल कीर्ति, दिव्यदृष्टिको प्राप्त होकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए (महा० व० प० अ० २१४-२१५)।

कौशिकमुनि जो माता-पिताकी आज्ञा लिये विना तप करने चले गये थे, वह भी इन धर्मव्याधके साथ वार्तालाप करके तपसे भी माता-पिताकी सेवाको बढ़कर समझ पुनः माता-पिताकी सेवा करके उत्तम गतिको प्राप्त हुए।

जो माता-पिताकी सेवा और आज्ञापालन न करके और उससे विपरीत आचरण करता है उसकी इस लोकमें भी निन्दा एवं दुर्गति होती है—यह बात लोकमें प्रसिद्ध ही है कि राजा कंसने बलपूर्वक राज छीनकर अपने माता-पिताको कैदमें डाल दिया था। इस कारण उसपर आजतक कलंककी कालिमा लगी हुई है, आज भी कोई लड़का माता-पिताके साथ दुर्व्यवहार करता है, उसके माता-पिता उसपर आक्षेप करते हुए गालीके रूपमें उस बालकको कंसका अवतार बतलाया करते हैं किन्तु जो बालक माता-पिताकी

सेवा, प्रणाम तथा उनकी आज्ञाका पालन करता हुआ उनके अनुकूल चलता है उसके माता-पिता उसके आचरणोंसे मुग्ध हुए गद्गद वाणीसे तपस्वी श्रवणकी उपमा देकर उसका गुणगान करते हैं। अतएव बालकोंसे हमारा सविनय निवेदन है कि उन्हें कभी कंस नहीं कहलाकर, श्रवण कहलाना चाहिये।

आपलोगोंको मालूम होगा कि श्रवण एक तपस्या करनेवाले वैश्य-ऋषिका पुत्र था। श्रवणकी कथा वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डके ६३ और ६४ सर्गमें विस्तारपूर्वक वर्णित है।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य करके प्रसन्नतापूर्वक जब वनको चले गये थे तब राजा दशरथ आज्ञाकारी भगवान् श्रीरामचन्द्रके विरहमें व्याकुल हुए कौशल्याके भवनमें जाकर रामके शील, सेवा, आचरणोंको याद करके रुदन करने लगे। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके वनमें चले जानेपर छठीं रात्रिको अर्धरात्रिके समय पुत्रविरहसे पीड़ित होकर राजा कौशल्यासे बोले—हे देवी! जब हमलोगोंका विवाह नहीं हुआ था और मैं युवराजपदको प्राप्त हो गया था ऐसे समय बुरी आदतके कारण एक दिन मैं धनुष-बाण लेकर रथपर सवार होकर शिकार खेलनेके लिये, जहाँ महिष, हाथी आदि वनके पशु जल पीनेके लिये आया करते थे वहाँ, सरयूके तीरपर गया। तदनन्तर उस घोर वर्षाकी अँधियारी रात्रिमें कोई जलमें घड़ा डुबाने लगा तो उसके घड़ा भरनेका शब्द मुझको ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई हाथी जल पी रहा है, इस प्रकार अनुमान करके उस शब्दको

निशाना बनाकर मैंने बाण छोड़ा । इतनेमें ही किसी वनवासीका शब्द सुनायी पड़ा—'हाय ! हाय ! यह बाण मुझको किसने मारा । मैं तपस्वी हूँ, इस घोर रात्रिमें नदीके किनारे जल लेने आया था, वनके फल-मूल खाकर वनमें वास करनेवाले जटा-वल्कल-मृगचर्मधारी मेरा वध अस्त्रके द्वारा कैसे किसने किया, मुझे मारकर किसीका क्या काम सिद्ध होगा ? मैंने किसीका कुछ बुरा भी नहीं किया, फिर किसने मुझपर अकारण यह शस्त्र चलाया । मुझे अपने प्राणोंका शोक नहीं है, शोक तो केवल अपने वृद्ध माता-पिताका है । उन वृद्धोंका अबतक तो मेरेद्वारा पालन-पोषण होता रहा किन्तु मेरे मरनेपर वे मेरे बूढ़े माता-पिता अपना निर्वाह किस प्रकार करेंगे, अतएव हम सभी मारे गये ।'

हे कौशल्ये ! इस करुणाभरी वाणीको सुनकर मैं बहुत ही दुःखित हुआ और मेरे हाथसे धनुष-बाण गिर पड़ा । मैं कर्तव्य-अकर्तव्यके ज्ञानसे रहित शोकसे व्याकुल होकर वहाँ गया । मैंने जाकर देखा तो सरयूके तटपर जलका घड़ा हाथसे पकड़े रुधिरसे भीगा हुआ, बाणसे व्यथित एक तपस्वी युवक पड़ा तड़प रहा है । मुझे देखकर वह बोला कि 'हे राजन् ! मैंने आपका क्या अपराध किया ? मैं वनवासी हूँ, अपने माता-पिताके पीनेके लिये जल लेनेको आया था, वे दोनों दुर्बल अन्धे और प्यासे हैं, वे मेरे आनेकी बाट देखते हुए बहुत ही दुःखित होंगे ? मेरी इस दशाको भी पिताजी नहीं जानते हैं, इसलिये हे राघव ! जबतक हमारे पिताजी आपको भस्म न कर डालें, उससे पहले ही आप शीघ्रतासे

जाकर यह वृत्तान्त मेरे पिताजीसे कह दीजिये। हे राजन्! मेरे पिताजीके आश्रमपर जानेका यह छोटा-सा पगडंडीका मार्ग है, आप वहाँ शीघ्रतासे जाकर पिताजीको प्रसन्न करें जिससे वे क्रोधित होकर आपको शाप न दें। और मेरे मर्मस्थानसे यह पैना बाण निकालकर मुझे दुःखरहित कीजिये।'

हे कौशल्ये! इसके उपरान्त मेरे मनके भावको जाननेवाले मेरी चिन्तायुक्त दशाको देखकर बोलनेकी शक्ति न होनेपर भी मरणासन्न हुए उस ऋषिने धैर्य धारण करके स्थिरचित्तसे कहा—'हे राजन्! आप ब्रह्महत्याके डरसे बाण नहीं निकालते हैं—उसको दूर कीजिये, मैं वैश्यका पुत्र हूँ।' जब ऋषिकुमारने ऐसा कहा, तब मैंने उसकी छातीसे बाण निकाल लिया। बाणके निकालनेसे उसे बहुत ही कष्ट हुआ और उसने उसी समय वहीं प्राणोंका त्याग कर दिया। उसको मरा हुआ देखकर मैं बहुत ही दुःखित हुआ। हे देवि! फिर चिन्ता करने लगा कि अब किस प्रकारसे मंगल हो। उसके बाद बहुत समझ-सोच घड़ेमें सरयूका जल भरकर उस तपस्वीके बतलाये हुए मार्गसे उसके पिताके आश्रमकी ओर चला और वहाँ जाकर उसके वृद्ध माता-पिताको देखा। उनकी अवस्था अति शोचनीय और शरीर अत्यन्त दुर्बल थे। वे पुत्रके जल लानेकी प्रतीक्षामें थे। मैं शोकाकुल चित्तसे डरके मारे चेतनारहित-सा तो हो ही रहा था और उस आश्रममें जाकर उनकी दशा देखकर मेरा शोक और भी बढ़ गया। मेरे पैरोंकी आहट सुनकर ऋषि अपना पुत्र समझ बोले—'हे वत्स!

तुम्हें इतना विलम्ब किस कारणसे हुआ, अच्छा अब जल्दीसे जल ले आ। हम नेत्रोंसे हीन हैं—इसलिये तुम्हीं हमारी गति, नेत्र और प्राण हो फिर तुम आज क्यों नहीं बोलते।' तब मैंने बहुत ही डरते हुए-से सावधानीके साथ, धीमे स्वरसे अपना परिचय देते हुए, आद्योपान्त श्रवणका मृत्युविषयक सारा वृत्तान्त, ज्यों-का-त्यों कह सुनाया।

मेरे किये हुए उस दारुण पापके सारे वृत्तान्तको सुनकर नेत्रोंमें आँसू भर शोकसे व्याकुल हो, वे तपस्वी मुझ हाथ जोड़कर खड़े हुएसे बोले—'हे राजन्! तुमने यह दुष्कर्म किया, यदि इसको तुम अपने मुखसे न कहते तो तुम्हारे मस्तकके अभी सैकड़ों-हजारों टुकड़े हो जाते और आज ही सारे रघुवंशका नाश भी हो जाता। हे राजन्! अब जो कुछ हुआ सो हुआ, अब हमें वहाँ पुत्रके पास ले चलो। हम एक बार अपने उस पुत्रकी सूरतको देखना चाहते हैं क्योंकि फिर उसके साथ इस जन्ममें हमारा साक्षात् नहीं होगा।'

तत्पश्चात् मैं, पुत्रशोकसे व्याकुल हुए उन दोनों वृद्ध पति-पत्नीको वहाँ ले गया। वे दोनों पुत्रके निकट पहुँचकर और उसको छूकर गिर पड़े और विलाप करते हुए बोले—'हे वत्स! जब आधी रात बीत जाती थी, तब तुम उठकर धर्मशास्त्र आदिका पाठ करते थे जिसको सुनकर हम बहुत ही प्रसन्न होते थे। अब हम किसके मुखसे शास्त्रकी बातोंको सुनकर हर्षित होंगे। हे पुत्र! अब प्रातःकाल स्नान, सन्ध्योपासन और होम करके हमें कौन

प्रमुदित करेगा ? हे बेटा ! अन्धे होनेके कारण हममें तो यह भी सामर्थ्य नहीं है कि कन्द, मूल, फल, इकट्ठा करके अपना पेट भर सकें। तुम्हीं हमारे स्नान, पान, भोजन आदिका प्रबन्ध करते थे। अब तुम हमलोगोंको छोड़कर चले गये। अब कन्द, मूल, फल वनसे लाकर प्रिय पाहुनेके समान हमें कौन भोजन करावेगा। अब तुम्हें छोड़कर अनाथ, असहाय और शोकसे व्याकुल हुए हम किसी प्रकार भी इस वनमें नहीं रह सकेंगे, शीघ्र ही यमलोकको चले जायँगे। हे वत्स ! तुम पापरहित हो, पर पूर्वजन्ममें कोई तो पाप किया ही होगा जिससे तुम मारे गये। अतएव शस्त्रके बलसे मरे हुए वीरगण जिस लोकमें गमन करते हैं, तुम भी हमारे सत्यबलसे उसी लोकमें चले जाओ तथा सगर, शैब्य, दिलीप आदि राजर्षियोंकी जो उत्तम गति हुई है वही गति तुम्हें मिले। परलोकके लिये अच्छे कर्म करनेवालेकी देह त्यागनेके बाद जो गति होती है, वही तुम्हारी हो।'

इस प्रकार उस ऋषिने करुणस्वरसे बारंबार विलाप करते हुए अपनी स्त्रीके सहित पुत्रके अर्थ जलाञ्जलि दी। तदनन्तर वह धर्मवित् ऋषिकुमार अपने कर्मबलसे दिव्य रूप धारणकर विमानपर चढ़ सर्वोत्तम दिव्यलोकको बहुत शीघ्र जाने लगा। उस समय एक मुहूर्ततक अपने माता-पिता दोनोंको आश्वासन देता हुआ पितासे बोला—'हे पिता ! मैंने जो आपकी सेवा की थी उस पुण्यके बलसे मुझे सर्वोत्तम स्थान मिला है और आपलोग भी बहुत शीघ्र मेरे पास आवेंगे।' यह कहकर इन्द्रियविजयी ऋषिकुमार अपने अभीष्ट दिव्यलोकको चला गया।

उसके बाद वह परम तपस्वी अन्धे मुनि मुझ हाथ जोड़कर खड़े हुएसे बोले—'हे राजन् ! तुम क्षत्रिय हो और विशेष करके अजानमें ही ऋषिको मारा है, इस कारण तुम्हें ब्रह्महत्या तो नहीं लगेगी, किन्तु हमारे समान इसी प्रकारकी तुम्हारी भी घोर दुर्दशा होगी अर्थात् पुत्रके वियोगजनित व्याकुलतामें ही तुम्हारे प्राण जायँगे ।' इस प्रकार वे अन्धे तपस्वी हमें शाप देकर करुणायुक्त विलाप करते हुए चिता बनाकर मृतकके सहित दोनों भस्म होकर स्वर्गको चले गये ।

हे देवि ! शब्दवेधी होकर मैंने अज्ञानतासे जो पाप किया था उसके कारण मेरी यह दशा हुई है । अब उसका समय आ गया है,—इस प्रकार इतिहास कहकर राजा दशरथ रुदन करने लगे और मरणभयसे भयभीत होकर पुनः कौशल्यासे बोले—'हे कल्याणि ! मैंने रामचन्द्रके साथ जो व्यवहार और बर्ताव किया है वह किसी प्रकार भी योग्य नहीं है—परन्तु उन्होंने जो मेरे साथ बर्ताव किया है वह उनके योग्य ही है । भला इस प्रकार वनवास देनेपर भी पितासे कुछ भी न कहे ऐसा कोई पुत्र संसारमें है ? अतएव न तो मेरे-जैसा दयारहित पिता ही है और न परम-शीलवान् रामचन्द्र-जैसा पुत्र ही है । हे देवि ! इससे अधिक और क्या दुःख होगा कि मरणके समयमें भी सत्यपराक्रम रामचन्द्रको मैं नहीं देख सकता । आजसे पन्द्रहवें वर्ष वनवाससे लौटकर अयोध्यामें आये हुए शरद्ऋतुके चन्द्रमा एवं खिले हुए कमलपुष्प-के समान श्रीरामचन्द्रके मुखारविन्दको जो लोग देखेंगे वे ही पुरुष

धन्य हैं और सुखी हैं। हे कौशल्ये! रामचन्द्रको वनमें भेजकर मैं एकबारगी ही अनाथ हो गया।' इस प्रकार शोकसे व्याकुल हुए दशरथजी विलाप करने लगे। हा राम! हा महाबाहो! हा पितृवत्सल! हा शोकके निवारण करनेवाले! तुम्हीं हमारे नाथ हो और तुम्हीं हमारे पुत्र हो। तुम कहाँ गये। हा कौशल्ये! हा सौमित्रे! अब तुम हमें दिखायी नहीं देते हो। इस प्रकार राजा दशरथने दुःखसे बहुत ही व्याकुल और आतुर होकर विलाप करते-करते आधी रातके समय प्राण छोड़ दिये।

अतएव हे बालको! तुमलोगोंको भी वैश्यऋषि श्रवणकुमार एवं मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीकी तरह माता-पिताके चरणोंमें नित्य प्रणाम करना चाहिये तथा श्रद्धा, भक्ति, विनय और सरलतापूर्वक उनकी आज्ञाका पालन करते हुए उनकी सेवा करनेके लिये तत्परताके साथ परायण होना चाहिये। जो पुरुष उपर्युक्त प्रकारसे माता-पिताकी सेवाके परायण होते हैं उनकी आयु, विद्या और बलकी तो वृद्धि होती ही है—उत्तम गति तथा इस लोक और परलोकमें चिरकालतक रहनेवाली कीर्ति भी होती है।

आज संसारमें श्रवणकी कीर्ति विख्यात है, भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी तो बात ही क्या है वे तो साक्षात् परमात्मा थे। उन्होंने तो लोकमर्यादाके लिये ही अवतार लिया था। उन मर्यादापुरुषोत्तम भगवान्का व्यवहार तो लोक-हितके लिये आदर्शरूप था। श्रीरामचन्द्रजीका व्यवहार माता-पिता गुरुजनोंके साथ तो श्रद्धा, भक्ति, विनय और सरलतापूर्वक था ही, किन्तु सीता

और अपने भाइयोंके साथ एवं समस्त प्रजाओंके साथ भी अलौकिक दया और प्रेमपूर्ण था। अतएव आपलोगोंको श्रीरामचन्द्रजी महाराजको आदर्श मानकर उनका लक्ष्य रखते हुए उनकी आज्ञा, स्वभाव एवं आचरणोंके अनुसार अपने स्वभाव और आचरणोंको बनानेके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकारका निष्काम भावसे पालन किया हुआ धर्म शीघ्र ही भगवत्की प्राप्तिरूप परम कल्याणका करनेवाला है, ऐसे धर्मके पालन करनेसे मृत्यु भी हो जाय तो उस मृत्युमें भी कल्याण है।

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' (गीता ३। ३५)

भक्ति

ईश्वरकी भक्ति सबके लिये ही उपयोगी है किन्तु बालकोंके लिये तो विशेष उपयोगी है। बालकका हृदय कोमल होता है, वह जैसी चेष्टा करता है उसके अनुसार संस्कार दृढ़तासे उसके हृदयमें जमते जाते हैं। जबतक विवाह नहीं करता है तबतक वह ब्रह्मचारी ही समझा जाता है।

'ब्रह्म' परमात्माका नाम है, उसमें जो विचरता है वह भी ब्रह्मचारी है, यानी परमेश्वरके नाम, रूप, गुण और चरित्रोंका श्रवण, मनन, कीर्तनादि करना ही उस ब्रह्ममें विचरना है। इसको ईश्वरकी भक्ति एवं ईश्वरकी शरण भी कहते हैं। इसलिये हे बालको! परमात्माके नाम, रूप, गुण, चरित, प्रेम, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी बातोंको महात्माओंसे सुनकर या

सद्ग्रन्थोंमें पढ़कर सदा प्रेमपूर्वक हृदयमें धारण करके पालन करना चाहिये ।

इस प्रकार करनेसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको जानकर सुगमतासे मनुष्य भगवान्‌को प्राप्त हो सकता है । भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
(१० । ९)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं ।'

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गीता १० । १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

ध्रुवका नाम संसारमें प्रसिद्ध ही है, जब उनकी पाँच वर्षकी अवस्था थी, तब एक समय ध्रुवजी पिताकी गोदमें बैठने

लगे। तब गर्वसे भरी हुई रानी सुरुचि राजाके सामने ही सौतेले पुत्र ध्रुवसे ईर्ष्यासे भरे हुए वचन बोली—'हे ध्रुव ! तुम राजाकी गोदमें बैठने और राज्य-शासन करनेके अधिकारी नहीं हो, क्योंकि तुम्हारा जन्म मेरे गर्भसे नहीं हुआ है । यदि राजाके आसनपर बैठनेकी इच्छा हो तो तप करके ईश्वरकी आराधना करो और उस ईश्वरके अनुग्रहसे मेरे गर्भसे जन्म ग्रहण करो।'

सौतेली माताके कहे हुए ये कटु वचन बालक ध्रुवके हृदयमें बाणकी तरह चुभ गये। तदनन्तर ध्रुवजी वहाँसे रोते हुए अपनी जननी सुनीतिके पास गये । सुनीतिने देखा ध्रुवकी आँखोंमें आँसू भर रहे हैं। ध्रुव रुदन करता हुआ लंबे-लंबे श्वास ले रहा है तब सुनीतिने उसे उठाकर गोदमें ले लिया। इतनेहीमें दासोंने आकर सब वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों कह सुनाया। तब सौतके वाक्योंको सुनकर सुनीतिको बड़ा दुःख हुआ और उसके वचनोंको सुनकर वह आँसूकी वर्षा करने लगी। सुनीतिके दुःखसागरका पार न रहा। तब वह ध्रुवसे बोली—'बेटा ! इस विषयमें दूसरोंको दोष देना ठीक नहीं; क्योंकि यह सब अपने पूर्वमें किये हुए कर्मोंका फल है। तू मुझ अभागिनीके गर्भसे जन्मा है। बेटा ! मैं अभागिनी हूँ क्योंकि मुझे दासी मानकर भी अंगीकार करनेमें राजाको लज्जा आती है। तुम्हारी सौतेली माता सुरुचिने बहुत ही ठीक कहा है। तुम्हें यदि उत्तम (सुरुचि-के पुत्र) के समान राज्यासन पानेकी इच्छा है तो हरि भगवान्‌के चरणकमलकी आराधना करो। बेटा, मैं भी यही कहती हूँ।

तुम ईर्ष्या छोड़कर शुद्ध चित्तसे भक्तवत्सल हरिके चरणोंकी शरण ग्रहण करो। उस भगवान्के सिवा तुम्हारे दुःखको दूर करनेवाला संसारमें कोई भी नहीं है।' इस प्रकार माताके वचनोंको सुनकर ध्रुव अपनी बुद्धिसे अपने मनमें धीरज धारण-कर माताका कहा पूरा करनेके लिये पिताके पुरसे वनकी तरफ चले गये।

नारद मुनि अपने योगबलसे यह सब वृत्तान्त जान गये, तब वे राहमें आकर ध्रुवसे मिले और अपना हाथ उसके मस्तकपर रखकर बोले—'हे बालक! तुम्हारा मान या अपमान क्या? यदि तुम्हें मान-अपमानका खयाल है तो सिवा अपने कर्मके और किसीको दोष नहीं देना चाहिये। मनुष्य अपने कर्मके अनुसार सुख, दुःख, मान-अपमानको पाता है। सुखके पानेपर पूर्वकृत पुण्योंका क्षय और दुःखको पानेपर पूर्वकृत पापोंका क्षय होता है। ऐसा जानकर चित्तको सन्तुष्ट करो। गुणोंमें अपनेसे अधिकको देखकर सुखी होना एवं अधमको देखकर उसपर दया करना और समान पुरुषसे मित्रता रखनी चाहिये। इस प्रकार करनेसे मनुष्यके पीड़ा और ताप नहीं होते। तुम जिस योगेश्वरको योगसे प्रसन्न करना चाहते हो वह ईश्वर अजितेन्द्रिय पुरुषद्वारा प्राप्त होना कठिन है अतएव ऐसा विचार छोड़ दो।' तब ध्रुवने कहा—'हे भगवन्! आपने जो कृपा करके शान्तिका मार्ग दिखलाया इसको मेरे-जैसे अज्ञानीजन नहीं कर सकते। मैं क्षत्रिय-स्वभावके वश हूँ इसलिये नम्रता एवं शान्ति मुझमें नहीं है। हे ब्रह्मन्!

मैं उस पदको चाहता हूँ जिसको मेरे बाप-दादा नहीं प्राप्त कर सके। त्रिभुवनमें सबसे श्रेष्ठ पदपर पहुँचनेका सुगम मार्ग बतलाइये।'

भगवान् नारद ध्रुवके ऐसे वचन सुनकर उनकी दृढ़ प्रतिज्ञाको देखकर प्रसन्न हुए और बोले 'हे पुत्र! तुम्हारी माताने जो उपदेश दिया है—उसी प्रकार तुम हरि भगवान्‌को भजो और अपने मनको शुद्ध करके हरिमें लगाओ, क्योंकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थोंके मिलनेका सरल उपाय एक हरिकी सेवा ही है। हे पुत्र! तुम्हारा कल्याण हो! तुम यमुनाके तटपर स्थित मधुवन (मथुरा) में जाओ, जहाँ सर्वदा हरि भगवान् वास करते हैं। वहाँ यमुनाके पवित्र जलमें स्नान करके आसनपर बैठ, स्थिर मनसे हरिका ध्यान करना चाहिये। भगवान् सम्पूर्ण देवताओंमें सुन्दर हैं, उनके मुख और नेत्र प्रसन्न हैं, उनकी नासिका, भौंहें, कपोल, परम सुन्दर और मनोहर हैं। उनकी तरुणावस्था है, उनके अंग रमणीय, ओष्ठ, अधर और नेत्र अरुणवर्ण हैं। हृदयमें भृगुलताका चिह्न है, शरीरका वर्ण मेघके समान श्याम और सुन्दर है। गलेमें वनमाला, चारों भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म लिये हुए हैं। मुकुट, कुण्डल, कंकण और केयूर आदि अमूल्य आभूषण धारण किये हुए हैं। रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए और गलेमें कौस्तुभ-मणि है। कटिमें कञ्चनकी करधनी और चरणोंमें सोनेके नूपुर पहने हुए हैं, दर्शनीय शान्तमूर्ति हैं। जिनके देखनेसे मन और

नेत्र सुखी होते हैं। वे मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे हैं, प्रेमभरे चितवनसे देख रहे हैं। देखनेसे जान पड़ता है मानो वे वर देनेके लिये तैयार हैं। वे शरणागतके प्रतिपालक एवं दयाके सागर हैं। इस प्रकार कल्याणरूप भगवान्के स्वरूपका ध्यान करते रहनेपर मनको अनूठा आनन्द मिलता है, फिर मन उस आनन्दको छोड़कर कहीं नहीं जा सकता, भगवान्में तन्मय हो जाता है और हे राजकुमार ! मैं तुमको एक परम गुप्त मन्त्र बतलाता हूँ उसका जप करना। वह "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" यह बारह अक्षरका मन्त्र है। इस मन्त्रको पढ़कर पवित्र जल, माला, वनके फूल, मूल, दूर्वा और तुलसीके दल आदिसे भगवान्की पूजा करनी चाहिये।

मनको वशमें करके मनसे हरिका चिन्तन करना, शान्त स्वभावसे रहना, वनके फल-मूल आदिका थोड़ा आहार करना, भगवान्के चरित्रोंका हृदयमें ध्यान करते रहना और इन्द्रियोंको विषयभोगोंसे निवृत्त करके भक्तियोगद्वारा अनन्यभावसे भगवान् वासुदेवका भजन करना चाहिये।'

देवर्षि नारदका यह उपदेश सुनकर राजकुमार ध्रुवने नारदजीकी प्रदक्षिणा करके प्रणाम किया, फिर उनसे विदा होकर मधुवनको चले गये।

ध्रुवने मधुवनमें पहुँचकर स्नान किया और उस रातको व्रत किया। उसके बाद एकाग्र होकर देवर्षिके उपदेशके अनुसार भगवान्की आराधना करने लगा।

पहले-पहल बेरके फल खाकर, फिर सूखे पत्ते खाकर तदनन्तर जल पीकर, फिर वायु भक्षण करके ही उन्होंने समय बिताया। फिर पाँचवें महीनेमें राजकुमार ध्रुव श्वासको रोककर एक पैरसे निश्चल खड़े हो हृदयमें स्थित भगवान्का ध्यान करने लगे। मनको सब ओरसे खींचकर हृदयमें स्थित भगवान्के ध्यानमें लगा दिया। उस समय ध्रुवको भगवान्के स्वरूपके सिवा और कुछ भी नहीं देख पड़ा।

तदनन्तर भगवान् भक्त ध्रुवको देखनेके लिये मथुरामें आये। ध्रुवकी बुद्धि ध्यानयोगसे दृढ़ निश्चल थी। वह अपने हृदयमें स्थित बिजलीके समान प्रभाववाले भगवान्के स्वरूपका ध्यान कर रहे थे। उसी समय सहसा भगवान्की मूर्ति हृदयसे अन्तर्धान हो गयी। तब ध्रुवने घबड़ाकर नेत्र खोले तो देखा वैसे ही रूपसे सामने भगवान् खड़े हैं। उस समय ध्रुवने मारे आनन्दके आश्चर्ययुक्त हो, भगवान्के चरणोंमें साष्टांग प्रणाम किया। फिर मानो नेत्रोंसे पी लेंगे, मुखसे चूम लेंगे, भुजाओंसे लिपटा लेंगे, इस भाँति प्रेमसे ध्रुव हरिको देखने लगे। ध्रुव अञ्जलि बाँधकर खड़े हुए और हरिकी स्तुति करना चाहते थे पर पढ़े-लिखे न होनेके कारण कुछ स्तुति न कर सके। इस बातको अन्तर्यामी भगवान् जान गये और उन्होंने अपना शंख ध्रुवजीके गाल (कपोल) से छुआ दिया, उसी समय ध्रुवजीको तत्त्वज्ञान और अभयपदकी प्राप्ति हो गयी और ध्रुवजीको विना पढ़े ही ईश्वरकी कृपासे वेद और

शास्त्रोंका ज्ञान हो गया, फिर वह धीरे-धीरे भक्तिभावपूर्वक सर्वव्यापी दयासागर भगवान् हरिकी स्तुति करने लगे।

तब भक्तवत्सल भगवान् प्रसन्न होकर बोले 'हे राजकुमार! तुम्हारा कल्याण हो। मेरी कृपासे तुम्हें ध्रुवपद मिलेगा, वह लोक परम प्रकाशयुक्त है, कल्पान्तपर्यन्त रहनेवाले लोकोंके नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता। उसको सब लोक नमस्कार करते हैं। वहाँ जाकर योगीजन फिर इस संसारमें लौटकर नहीं आते, तथा यहाँ भी तुम्हें तुम्हारे पिता राज्य देकर वनमें चले जायँगे। तुम छत्तीस हजार वर्षपर्यन्त पृथ्वीपर राज्य करोगे किन्तु तुम्हारा अन्तःकरण मेरी कृपासे विषयभोगोंमें लिप्त न होगा। इस प्रकार भगवान् ध्रुवको वर देकर ध्रुवके देखते-देखते ही अपने लोकको चले गये।

प्रह्लाद तो भक्तशिरोमणि थे ही, उनकी तो बात ही क्या है—हे बालको! जब प्रह्लाद गर्भमें थे तभी नारदजीने उनको भक्तिका उपदेश दिया था। उसीके प्रभावसे वह संसारमें भक्त-शिरोमणि हो गये। प्रह्लादके पिताने प्रह्लादको मारनेके लिये जलमें डुबाना, पहाड़से गिरा देना, विष देना, सर्पोंसे डसवाना, हाथीसे कुचलवाना, शस्त्रोंसे कटवाना, आगमें जलाना आदि अनेकों उपचार किये किन्तु प्रह्लादका बाल भी बाँका न हुआ। यह सब भगवत्-भक्तिका प्रभाव है। इतना ही नहीं, जब हिरण्यकशिपु स्वयं हाथमें खड्ग लेकर मारनेके लिये उद्यत हुआ तब कृपासिन्धु प्रेमी भगवान्से रहा नहीं गया—वे खम्भ फाड़कर स्वयं प्रकट

ही हो गये और हिरण्यकशिपुको मारकर प्रह्लादसे बोले—'हे वत्स ! मेरे आनेमें विलम्ब हो गया है। मेरे कारण तुझे बहुत कष्ट सहन करना पड़ा है । इसलिये मेरे अपराधको क्षमा करना चाहिये।' किन्तु प्रह्लाद तो भक्तशिरोमणि थे भला, वह भगवान्‌का अपराध तो समझ ही कैसे सकते थे, वह तो विलम्बमें भी दयाका ही दर्शन करते थे।

तदनन्तर प्रह्लादने भगवान्‌की स्तुति की। तब प्रसन्न होकर भगवान् बोले—'हे प्रह्लाद ! तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ जो चाहो वर माँगो। मैं ही मनुष्योंकी सब कामनाएँ पूर्ण करनेवाला हूँ।' तब प्रह्लाद बोले—हे भगवन् ! मेरी जाति स्वभावतः कामासक्त है, ये सब वर दिखलाकर मुझको प्रलोभन न दीजिये। जो व्यक्ति आपके दुर्लभ दर्शन पाकर आपसे सांसारिक सुख माँगता है वह भृत्य नहीं, व्यापारी है। हे भगवन् ! कामसे बहुत ही अनिष्ट होते हैं, कामना उत्पन्न होनेसे इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धीरज, बुद्धि, लज्जा, सम्पत्ति, तेज, स्मृति एवं सत्यका विनाश होता है। इसलिये हे ईश ! हे वर देनेवालोंमें श्रेष्ठ ! आप यदि मुझको मनचाहा वर देते ही हैं तो यही वर दें कि मेरे हृदयमें अभिलाषाओंका अङ्कुर ही न जमे। मैं आपसे यही वर माँगता हूँ।

हे बालको ! खयाल करो ! प्रह्लाद भक्तिके प्रतापसे दैत्यकुलमें जन्म लेकर भी भगवान्‌के अनन्य निष्कामी भक्त-शिरोमणि बनकर परमपदको प्राप्त हो गये। प्रह्लादकी भक्तिका यह स्वरूप है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ५ । २३)

'भगवान् विष्णुके नाम, रूप, गुण, लीला और प्रभावादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान्‌की चरण-सेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान्‌में दासभाव, सखाभाव और अपनेको समर्पण कर देना ।'

यदि ऐसा न बने तो केवल भगवान्‌के नामका जप और उसके स्वरूपका पूजन और ध्यान करनेसे भी अति उत्तम गतिकी प्राप्ति हो सकती है ।

भगवान्‌के हजारों नाम हैं । उनमेंसे जो आपको रुचिकर हो, उसीका जाप कर सकते हैं और उनके अनेक रूप हैं, उनमें आप, साकार या निराकार जो रूप प्रिय हो, उसीका पूजन और ध्यान कर सकते हैं । किन्तु वे सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, प्रेम, दया आदि गुणोंके सागर हैं । इस प्रकार उसके गुण और प्रभावको समझकर ही पूजा और ध्यान करना चाहिये । यदि ध्यान और पूजा न हो सके तो केवल उसके नामका जप ही करना चाहिये । केवल उसके नामका जप करते-करते ही उसकी कृपासे अपने-आप ध्यान लग सकता है । नामका जप निष्काम भावसे श्रद्धा और प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर मनके द्वारा करनेसे बहुत शीघ्र सब पाप, अवगुण और दुःखोंका नाश होकर सम्पूर्ण सद्गुण और आचरण अपने-आप प्राप्त होकर मनुष्य शीघ्र ही धर्मात्मा बन

जाता है और उसे परमानन्द और नित्य शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

(गीता ९ । ३०)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

(गीता ९ । ३१)

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

क्योंकि भगवान्‌के नामका जप सब यज्ञोंसे उत्तम है एवं भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है—

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।' (गीता १० । २५)

तथा मनुजीने नामकी प्रशंसा करते हुए सारे यज्ञोंमें जप-यज्ञको ही सबसे बढ़कर बताया है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥
(२ । ८५)

'विधियज्ञ (अग्निहोत्रादि) से जपयज्ञ दशगुना बढ़कर है और उपांशु जप * विधियज्ञसे सौगुना और मानस जप हजारगुना बढ़कर कहा गया है ।'

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥
(मनु० २ । ८६)

'जो विधियज्ञसहित चार पाकयज्ञ (वैश्वदेव, होम, नित्य श्राद्ध और अतिथिभोजन) हैं वे सब जपयज्ञकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं ।'

इसलिये और कुछ भी न बने तो उस भगवान्के गुण और प्रभावको समझकर उसके स्वरूपका ध्यान अथवा केवल नामका जप तो अवश्य ही सदा-सर्वदा करना ही चाहिये ।



---

* दूसरे मनुष्यको सुनायी नहीं दे सके इस तरह उच्चारण करके किया जानेवाला जप उपांशु कहलाता है ।

आज्ञापालन और प्रणाम



समझमें नहीं आता कि अच्छे पुरुष मान-बड़ाई और पूजा-प्रतिष्ठाको क्यों स्वीकार कर लेते हैं। युक्तियोंसे बात उचित नहीं जँचती। उच्च श्रेणीके पुरुषोंको इनकी आवश्यकता ही क्या है? यह सत्य है कि उत्तम पुरुषके दर्शन, स्पर्श और उनके साथ भाषणसे ही लाभ है; वे जिस वस्तुको चिन्तन कर लेते हैं, देख लेते हैं, और स्पर्श कर लेते हैं वह वस्तु बड़े ही महत्त्वकी हो जाती है। उनके चरणोंसे स्पर्श की हुई धूलि बड़े ही महत्त्वकी है, परन्तु यदि वे उस धूलिको सिर चढ़ानेका निषेध करें तो उस अवस्थामें उनकी आज्ञाको अधिक महत्त्व देना चाहिये। आज्ञा मानकर चरण-धूलि सिर न चढ़ानेसे यही तो हुआ कि उससे जो लाभ होता सो नहीं होगा। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि उनकी आज्ञापालनसे होनेवाला लाभ बहुत ही अधिक है। यदि महापुरुषने आज्ञा दे दी कि 'मुझको प्रणाम न किया करो।' तो उनकी आज्ञानुसार प्रणाम न करनेमें बहुत लाभ है। वास्तवमें प्रणाम करना तो छूटता नहीं। शरीरसे न होकर अन्त:करणसे प्रणाम किया जाता है। फिर यह सोचना चाहिये कि एक वस्तुके ग्रहणमें जब इतना महत्त्व है तो उसके त्यागमें कितना अधिक महत्त्व होगा। विचार करना चाहिये कि एक जगह सोना पड़ा है, रत्न पड़े हैं, वे सब बहुमूल्य हैं, इस बातको जानकर भी

एक आदमी उन सोने-रत्नोंको त्याग देता है, और दूसरा उनको उठा लेता है। कीमत दोनों ही समझते हैं। अब बताइये, इन दोनोंमें कौन-सा पुरुष उच्च श्रेणीका है? स्वर्ण और रत्न इकट्ठा करनेवाला या उनका त्यागी? फिर महापुरुषकी चरण-धूलि तो उनकी आज्ञासे छोड़ी जा रही है। इससे उसमें तो और भी परम लाभकी बात है।

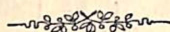
जो पुरुष यह समझते हैं, मेरी चरण-धूलिसे मनुष्य पवित्र हो जायँगे, इसलिये उन्हें चरण-धूलि लेने दिया जाय, वह तो स्वयं ही अन्धकारमें हैं। उनसे दूसरोंका क्या उद्धार होगा? परन्तु जो महापुरुष वास्तविक दिलसे ऐसा नहीं चाहते कि कोई हमारी चरण-धूलि ले, तो उनकी आज्ञा माननी ही चाहिये। उनकी प्रसन्नताके लिये चरण-धूलिसे होनेवाले लाभकी तो बात ही क्या है मुक्तितकका त्याग कर देना चाहिये!

माता-पिताके अनन्य सेवक भक्त पुण्डलीककी मातृ-पितृ-भक्तिसे प्रसन्न होकर जब भगवान् आये, उस समय उनके माता-पिता उनकी दोनों जंघाओंपर सिर टेककर सो रहे थे। मातृ-पितृ-भक्त पुण्डलीकने भगवान्‌से प्रार्थना की कि 'भगवन्! इस समय मेरे माता-पिता आरामसे सो रहे हैं, इनके आराममें विघ्न उपस्थित करके मैं आपकी सेवा नहीं कर सकता। यदि आप न ठहरना चाहें तो अभी वापस जा सकते हैं। जिन माता-पिताकी सेवाके प्रभावसे आप पधारे, उसके महत्त्वसे आप फिर भी मुझे दर्शन देनेको पधार सकते हैं।' पुण्डलीककी बात सुनकर उसकी अनन्य निष्ठासे भगवान्‌को बड़ी प्रसन्नता हुई। यहाँपर यह विचार करना

चाहिये कि हमलोग अधिक-से-अधिक लाभ मुक्तिको समझते हैं, वह मुक्ति जिन महापुरुषके द्वारा प्राप्त होती है, वही महापुरुष यदि मुक्तिका त्याग करनेके लिये कहें तो हमें यह क्यों चिन्ता होनी चाहिये कि हमारी मुक्ति कहीं चली गयी। उसे तो वे जब चाहें तभी प्राप्त करा सकते हैं।

प्रणाम करनेके समय यदि कोई महापुरुष निषेध करें तो उस समय तो शायद मनमें कुछ नाराजी हो परन्तु हृदयपर एक बहुत अच्छा असर होगा। उन्होंने प्रणाम करनेका निषेध किया, इससे आपकी मानसिक इच्छा तो कम हुई ही नहीं, केवल सिर झुकानेसे आप रुके। सिर तो मनुष्य श्रद्धा न होनेपर भी जहाँ-तहाँ झुका देता है; फिर उनकी आज्ञा मानकर सिर न झुकाया गया तो क्या हानि है?

उत्तम पुरुष कहते हैं कि मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा बुरी चीज है, फिर उनको वे स्वयं कैसे स्वीकार कर सकते हैं। स्वयं स्वीकार करें और केवल दूसरोंको निषेध करें, ऐसे लोगोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि महात्मा लोग हृदयसे प्रणाम कराना चाहते हैं तो करनेमें आपत्ति नहीं, परन्तु यदि वे नहीं चाहते, निषेध करते हैं तो उस निषेधाज्ञाको टालना भी पाप है। अवश्य ही उनकी दयालुताके प्रभावसे पाप नहीं होता। तो भी उनकी आज्ञा ही माननी चाहिये। महात्मा पुरुषोंके इच्छानुसार चलनेमें ही लाभ है।



कर्मयोगकी सुगमता

शङ्का—बहुतसे भाई कहते हैं कि 'गीतामें श्रीभगवान्‌ने कर्मयोगकी प्रशंसा की है और ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगको सुगम बतलाया है। इतना ही नहीं, बल्कि यहाँतक कहा है कि कर्मयोगके बिना ज्ञानयोगका सफल होना कठिन है (गीता ५। ६)। किन्तु यह सुगमता समझमें नहीं आती। न वर्तमान कालमें ऐसे बहुत-से कर्मयोगी और उनके द्वारा किया हुआ कर्मयोगका आचरण ही देखनेमें आता है। क्योंकि कर्मोंमें फल और आसक्तिके त्यागका नाम कर्मयोग है; किन्तु फल और आसक्तिका त्याग करके कर्म किस प्रकारसे होते हैं, इस बातको समझानेवाला

या करके दिखलानेवाला ऐसा कोई नहीं दीखता जिसको आदर्श मानकर हमलोग कर्मयोगके पथपर चल सकें। अतएव हम यह जानना चाहते हैं कि वास्तवमें क्या बात है। गीतामें जो कर्मयोग बतलाया है और जिसे सुगम कहा है उसका सम्पादन तो बहुत ही कठिन प्रतीत होता है। यह कर्मयोग कथनमात्र है या सम्पादनयोग्य है? यदि सम्पादनके योग्य वास्तविक साधन हो तो उसके जाननेवाले और करनेवाले होने चाहिये; और यदि कोई भी जाननेवाला और करनेवाला नहीं, तो फिर यह सुगम साधन कैसे है?'

समाधान—ज्ञानयोगका प्रकरण अति गहन, दुर्विज्ञेय और अति सूक्ष्म है; इससे सबके लिये उसका करना तो दूर रहा, समझना भी कठिन है। इसलिये उसकी अपेक्षा कर्मयोगका साधन सुगम बतलाया गया है। क्योंकि जबतक अन्तःकरण मलिन है तबतक देहाभिमान है और देहाभिमानीसे ज्ञानयोगका साधन बनना अत्यन्त दुष्कर है। इसलिये आसक्ति और स्वार्थत्यागरूप कर्मयोगका सम्पादन करनेसे जब अन्तःकरण पवित्र होता है तब उसमें ज्ञानयोगके सम्पादनकी योग्यता आती है; परन्तु कर्मयोगमें ऐसी बात नहीं है। कर्मयोगके साधनका आरम्भ तो देहाभिमानके रहते हुए ही अन्तःकरणकी मलिन अवस्थामें भी हो सकता है और उसके द्वारा पवित्र हुई बुद्धिमें भगवत्कृपासे स्वाभाविक ही स्थिरता होकर और भगवद्भावका उदय होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। यही इसकी ज्ञानयोगकी अपेक्षा सुगमता और विशेषता है। इसलिये भगवान्‌ने गीतामें अध्याय ५। २ के श्लोकमें कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया है।

श्रीभगवान्‌ने आसक्ति और फल दोनोंके त्यागको कर्मयोग बतलाया है (गीता २ । ४८; १८ । ९), कहीं सम्पूर्ण कर्मों और पदार्थोंमें केवल आसक्तिके त्यागको कर्मयोग कहा है (६ । ४), और कहीं केवल सर्वकर्मफलके त्याग (१८ । ११) या कर्मफल न चाहनेको (६ । १) ही कर्मयोग कहा है । वास्तवमें इनमें सिद्धान्ततः कोई भेद नहीं है । फल और आसक्ति दोनोंके त्यागका नाम ही कर्मयोग है । इसलिये दोनोंके त्यागको कर्मयोग कहना तो ठीक है ही; जहाँ कर्मों और पदार्थोंमें केवल आसक्तिका त्याग कहा है वहाँ भी ऐसी ही बात है । काञ्चन, कामिनी, देह, मान-बड़ाई आदि पदार्थोंमें आसक्तिका त्याग होनेसे उन पदार्थोंके प्राप्त करनेकी इच्छाका यानी फलका त्याग स्वतः ही हो जाता है । क्योंकि फलकी इच्छाके उत्पन्न होनेमें आसक्ति ही प्रधान कारण है । कारणके त्यागमें कार्यका त्याग स्वतः ही हो जाता है । इसलिये पदार्थोंमें आसक्तिके त्यागसे फलका त्याग स्वतः हो जानेके कारण पदार्थोंमें आसक्ति न होनेको कर्मयोग कहना युक्तिसंगत ही है । अब रही केवल सर्वकर्म-फलके त्यागकी या फल न चाहनेकी बात, सो कर्मफलके त्यागसे आसक्तिका त्याग हो जाता है और आसक्तिके त्यागसे कर्मफलका त्याग हो जाता है । अर्थात् एकके त्यागसे दूसरेका त्याग स्वाभाविक ही हो जाता है । इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंकी प्राप्तिकी इच्छाका त्याग ही फलकी इच्छाका त्याग है, इसीको स्वार्थत्याग कह सकते हैं । इस स्वार्थत्यागरूप धर्मके सेवनसे समस्त अनर्थोंकी मूल हेतु आसक्तिका शनैः शनैः त्याग हो जाता है, इसलिये फलके त्यागसे स्वतः ही आसक्तिका त्याग हो जानेके कारण सर्वकर्मफलके त्याग

या कर्मफल न चाहनेको कर्मयोग बतलाना भी युक्तिसंगत है।

यदि कोई कहे कि 'जब सर्वकर्मफलके त्याग या फलके न चाहनेको ही कर्मयोग कहते हैं, तब फिर श्रीभगवान्‌ने जगह-जगह कर्मफलके त्यागके साथ ही जो आसक्तिके त्यागकी बात कही है उसकी क्या आवश्यकता है ?' इसका उत्तर यह है कि कर्मफलके त्यागसे आसक्तिका त्याग होकर ही कर्मयोगकी सिद्धि होती है। और आसक्तिका त्याग हुए बिना सर्वथा स्वार्थत्यागपूर्वक कर्म हो नहीं सकते। अतएव स्वार्थके त्यागसे आसक्तिका त्याग उसके अन्तर्गत ही समझ लेना चाहिये। असलमें दोनोंका त्याग ही कर्मयोग है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिये 'आसक्तिसहित कर्मफलका त्याग ही कर्मयोग है' भगवान्‌का यह कथन युक्तियुक्त ही है।

प्रायः सभी संसारके मनुष्य मोहरूपी मदिराको पीकर उन्मत्त-से हो रहे हैं। उनमें कोई-सा ही समझदार पुरुष आत्माके कल्याण-के लिये कोशिश करता है, और कोशिश करनेवालोंमें भी कोई-सा ही पुरुष उस परमात्माको पाता है (गीता ७। ३)। ऐसी परमात्माकी प्राप्तिरूप अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषोंसे हमारी भेंट होनी भी दुर्लभ ही है। भेंट होनेपर भी श्रद्धाकी कमीसे हम उन्हें पहचान नहीं सकते, इसलिये वर्तमान कालमें ऐसे परमात्माको प्राप्त हुए योगी और ऐसे योगियोंद्वारा किये हुए आचरण यदि देखनेमें नहीं आते तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

भगवान्‌ने स्वयं भी (गीता ४। २ में) कहा है कि यह कर्मयोग बहुत कालसे नाशको प्राप्त हो गया है। इससे यह बात

सिद्ध होती है कि उस कालमें भी इस योगको समझनेवाले बहुत लोग नहीं थे और इस समय भी बहुत नहीं हैं। क्योंकि सारे भूत-प्राणी राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे संसारमें मोहित हो रहे हैं। इसलिये परमात्माके बतलाये हुए इस कल्याणमय कर्मयोगके रहस्यको नहीं जानते। जिन पुरुषोंका स्वार्थत्यागरूप कर्मद्वारा पाप नाश हो गया है वही पुरुष इस कर्मयोगके रहस्यको जानते हैं।

वस्तुतः आजकल परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषोंका अभाव है; ऐसा नहीं कहा जा सकता; परन्तु हमें श्रद्धाकी कमीके कारण उनका दर्शन और परिचय नहीं प्राप्त होता। ऐसी अवस्थामें जब कर्मयोगका आचरण करके बतलानेवाला हमें कोई नहीं दीखता तो कल्याणकी इच्छावाले पुरुषको भगवान्‌के बतलाये हुए उपदेशोंको ही आदर्श मानकर तदनुसार आचरण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

गीतामें बतलाया हुआ कर्मयोग कथनमात्र नहीं है, सम्पादन करनेयोग्य है। किन्तु उसके सम्पादनका तत्त्व न जानने तथा शरीर और संसारके पदार्थोंमें आसक्ति होने एवं श्रद्धाकी कमी होनेके कारण ही कठिन प्रतीत होता है, वास्तवमें कठिन नहीं है। भगवान्‌के कहे हुए वचनोंमें विश्वास करके उनके आज्ञानुसार स्वार्थके त्यागपूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करते-रहनेसे आसक्तिका नाश और कर्मयोगके तत्त्वका ज्ञान होता चला जाता है। इस प्रकार करते हुए जब आसक्तिका नाश और कर्मयोगके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है, तब कर्मयोगका सम्पादन कठिन नहीं प्रतीत होता।

कर्मोंमें सब प्रकारके फलकी इच्छाके त्यागका नाम ही स्वार्थ-त्याग है। स्वार्थत्यागयुक्त कर्मोंसे राग-द्वेषादि दुर्गुणोंका एवं राग-द्वेषादिसे होनेवाले दुराचारोंका नाश हो जाता है। अतएव मनुष्यको उचित है कि भगवान्‌के शरण होकर स्वार्थ-त्यागयुक्त कर्मोंका सम्पादन करे। किन्तु इस बातपर विशेष ध्यान देना चाहिये कि कर्मोंमें स्वार्थत्याग किसका नाम है। हम मन, वाणी, शरीरद्वारा किसी भी शास्त्रविहित कर्मका आरम्भ करते हैं और उसका फल स्त्री, धन, पुत्र और शरीरका आराम आदि नहीं चाहते, इतने मात्रसे ही स्वार्थका त्याग नहीं समझा जाता। इन सबका त्याग तो मनुष्य मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये भी कर सकता है। अतएव इन सबके त्यागके साथ-साथ मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाका एवं स्वर्गादिके भोगकी इच्छाका भी सर्वथा त्याग करके उस त्यागके अभिमानका भी त्याग होनेसे सर्वथा स्वार्थत्याग समझा जाता है।

हमलोग छोटे-छोटे स्वार्थोंके लिये परमात्माकी प्राप्तिरूप सच्चे स्वार्थको जो खो बैठते हैं, इसमें हमारी बेसमझी यानी मूर्खता ही कारण है। हमें इससे जो बड़ा भारी नुकसान होता है, इस बातपर मूर्खताके कारण हमारा विश्वास नहीं है। यत्किञ्चित् विश्वास है भी तो वह शङ्कायुक्त है। क्योंकि परमानन्द और परमा शान्तिकी प्राप्तिकी बातें हम ग्रन्थोंमें पढ़ते हैं, इनकी प्राप्ति तो कभी हुई नहीं। शास्त्र और महात्मा पुरुष कहते हैं मान और बड़ाईकी इच्छाको विषके समान समझकर त्याग दो। ये मान और बड़ाई भगवत्प्राप्तिके मार्गमें बड़े भारी कण्टक हैं। साधकके लिये भगवान्‌के मार्गमें बाधा देनेवाले हैं एवं इनकी विशेष लालसा होनेसे तो ये दम्भ और पाखण्डको

उत्पन्न करके साधकका पतन करनेवाले भी हो जाते हैं। बुद्धिद्वारा विचार करनेपर ऐसी प्रतीति भी होती है। परन्तु मान और बड़ाईकी प्राप्ति होनेपर प्रत्यक्षमें सुख प्रतीत होता है और उसमें आसक्ति उत्पन्न होकर मान-बड़ाईकी इच्छा हो ही जाती है। इन सभी बातोंमें हेतु हमारी बेसमझी यानी मूर्खता ही है। जैसे कोई रोगी मनुष्य आसक्तिके कारण स्वादके वशीभूत हो कुपथ्य सेवन करके अपना दुःख बढ़ा लेता है, कोई-कोई तो मृत्युको प्राप्त हो जाता है। इस कुपथ्यके सेवनमें भी विचार करके देखा जाय तो जैसे रोगीकी मूर्खता ही हेतु है, इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, धन, देह और मान-बड़ाई आदिमें जो हमारी आसक्ति है, उसमें भी मूर्खता ही हेतु है। जो रोगी वैद्य, औषध और पथ्यपर श्रद्धा करके कुपथ्यसे बचकर औषधका सेवन और पथ्यका पालन करता है वह आरोग्य हो जाता है। ऐसे ही जो मनुष्य शास्त्र और महापुरुषोंद्वारा बतलाये हुए दुर्गुण और दुराचाररूप कुपथ्यको त्याग कर श्रद्धापूर्वक ईश्वर-भक्तिरूप औषधका सेवन और सदाचार-सद्गुणरूपी पथ्यका पालन करता है वह जन्म-मरणरूप महान् भवरोगसे मुक्त हो जाता है। लौकिक औषधका सेवन करनेवाला तो अदृष्ट प्रतिकूल होनेसे शायद आरोग्य नहीं भी होता, परन्तु इस औषध तथा पथ्यका सेवन करनेवाला तो निश्चय ही जन्म-मरणरूप दुःखोंसे मुक्त हो जाता है। क्योंकि इसमें अदृष्ट बाधक नहीं हो सकता।

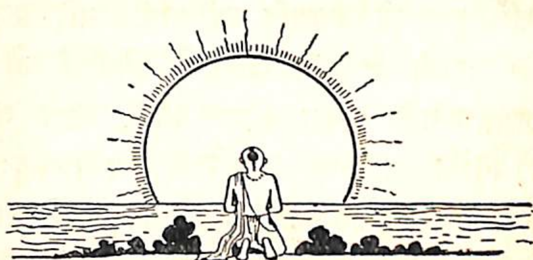
हम लोग जितने कर्म करते हैं, सबमें प्रथम यही भाव मनमें उत्पन्न होता है कि इससे हमको क्या लाभ होगा। स्वाभाविक ही इस प्रकार हमारी बुद्धि स्वार्थकी ओर चली जाती है। अतएव

क्रियाके आरम्भके समय जब स्वार्थबुद्धि उत्पन्न हो तभी उसका बाध कर देना चाहिये। हम जिसको लाभ समझते हैं, वह सांसारिक लाभ वास्तवमें लाभ ही नहीं है। लाभ वही है जो वास्तविक हो और जिसका कभी अभाव न हो। ऐसा वास्तविक लाभ सांसारिक लाभोंके त्यागसे प्राप्त होता है। अतएव क्रियाके आरम्भके समय व्यक्तिगत भौतिक स्वार्थकी जो इच्छा उत्पन्न हो उसको अनर्थका मूल समझकर तुरन्त उसका त्याग कर देना चाहिये।

हमलोगोंमें भौतिक स्वार्थकी मात्रा इतनी बढ़ गयी है कि हम अपने असली स्वार्थको तो समझ ही नहीं पाते। इसके लिये हमें पद-पदपर परमेश्वरका स्मरण करके उनसे प्रार्थना करनी चाहिये, जिससे हम सदा सावधान रह सकें और अपना असली स्वार्थ वस्तुतः किस बातमें है——इसको समझकर अनर्थकारी भौतिक स्वार्थोंसे बच सकें।

जिन पुरुषोंने भगवान्‌के गुण, प्रभाव और तत्त्वको समझकर भगवान्‌की शरण ग्रहण कर ली है, उनके लिये तो यह कर्मयोगका तत्त्व और भी सुगम है, यद्यपि पुत्र, स्त्री, गृह, धन और देहादिमें प्रीति होनेके कारण इनकी प्राप्तिरूप स्वार्थकी इच्छाका त्याग होना कठिन है तथा मान-बड़ाईका त्याग तो इनसे भी अत्यन्त ही कठिन है। शरीर और संसारमें आसक्ति होनेके कारण संसारके पदार्थोंकी आवश्यकता प्रतीत होती है और आवश्यकताके कारण कामना होती है एवं कामनाकी पूर्तिके लिये मनुष्य कर्मोंका सम्पादन करता है। उनसे कामनापूर्ति न होनेपर वह याचनातक करनेको प्रवृत्त हो जाता है। अतएव इन सब अनर्थोंका मूल आसक्ति ही है, जिसे

हम 'राग' कह सकते हैं। यह राग अनुकूलतामें होता है और सुखके देनेवाले पदार्थ ही मनुष्यको अनुकूल प्रतीत होते हैं। इससे प्रतिकूल दुःखदायी पदार्थोंमें द्वेष होता है और उस द्वेषसे वैर, ईर्षा, क्रोध, भय और सन्ताप आदि अनेकों दुर्भाव उत्पन्न होकर हिंसादि कर्मके द्वारा मनुष्यका पतन हो जाता है। अतएव सारे अनर्थोंके हेतु ये राग-द्वेष ही हैं। इन राग-द्वेषका कारण मोह (अज्ञान) है। भगवान्‌की कृपासे जब इस बातका रहस्य पूर्णतया मनुष्यकी समझमें आ जाता है, तब उसके राग-द्वेष क्षीण हो जाते हैं और क्षीण हुए राग-द्वेष श्रीपरमेश्वरके नाम, रूप, गुण और प्रभावके स्मरण और मननसे नाशको प्राप्त हो जाते हैं। फिर मन और इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही उसके अधीन हो जाती हैं। ऐसी अवस्थामें उसके द्वारा आसक्ति और स्वार्थत्यागरूप कर्मयोगका सम्पादन बड़ी सुगमतासे होता है, जिससे वह परम आनन्द और परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।



आध्यात्मिक प्रश्नोत्तर

एक सज्जनने कुछ उपयोगी प्रश्न लिख भेजे हैं। उनका उत्तर अपनी स्वल्पबुद्धिके अनुसार नीचे देनेकी चेष्टा की जाती है। प्रश्नोंकी भाषा आवश्यकतानुसार सुधार दी गयी है। प्रश्न इस प्रकार हैं—

(१) जीव, आत्मा और परमात्मामें क्या भेद है ?

(२) सुख-दुःख किसको होते हैं—शरीरको या आत्माको ? यदि कहा जाय कि शरीरको होते हैं तो शरीर तो जड पदार्थोंका बना हुआ है, जड पदार्थोंको सुख-दुःखकी अनुभूति कैसे होगी ? और शरीर तो मरनेके बाद भी कायम रहता है, उस समय उसे कुछ भी अनुभूति नहीं होती। यदि यह कहा जाय कि सुख-दुःखकी अनुभूति आत्माको होती है तो यह कहना भी युक्तिसङ्गत नहीं मालूम होता; क्योंकि गीता आदि शास्त्रोंमें आत्माको निर्लेप, साक्षी एवं जन्म-मरण तथा सुख-दुःखादिसे रहित बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त चीर-फाड़ करते समय डाक्टर-लोग रोगीको क्लोरोफार्म सुँघाकर बेहोश कर देते हैं। आत्मा तो उस समय भी मौजूद रहता है, फिर रोगीको कष्टका अनुभव क्यों नहीं होता ?

उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः नीचे दिया जाता है—

(१) प्राणिमात्रकी 'जीव' संज्ञा है। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण—इन तीन प्रकारके व्यष्टिशरीरोंमेंसे एक, दो या तीनोंसे सम्बन्धित चेतनका नाम 'जीव' है। इन तीनों शरीरोंके सम्बन्धसे रहित व्यष्टि-चेतनका नाम 'आत्मा' है। इसीको 'कूटस्थ' भी कहते हैं। वैसे तो गीतादि शास्त्रोंमें मन, बुद्धि, शरीर तथा इन्द्रिय आदिके लिये भी 'आत्मा' शब्दका व्यवहार हुआ है; परन्तु प्रश्नकर्ताने मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रिय आदिसे भिन्न शुद्ध चेतनके अर्थमें 'आत्मा' शब्दका प्रयोग किया है। अतः उसीके अनुसार 'आत्मा' का लक्षण किया गया है। तथा शुद्ध सच्चिदा-नन्दघन गुणातीत अक्षर ब्रह्मको परमात्मा कहते हैं। आकाशके दृष्टान्तसे उक्त तीनों पदार्थोंका भेद कुछ-कुछ समझमें आ सकता है। जो आकाश अनन्त घटोंमें समानरूपसे व्याप्त है, उसे वेदान्तकी परिभाषामें महाकाश कहते हैं और जो किसी एक घटके अंदर सीमित है, उसे घटाकाश कहते हैं। महाकाशस्थानीय परमात्मा हैं, घटाकाशस्थानीय आत्मा अथवा शुद्ध चेतन है और जलसे भरे हुए घड़ेके अंदर रहनेवाले जलसहित आकाशके स्थानमें जीवको समझना चाहिये। इसीको जीवात्मा भी कहते हैं। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण—इन तीनों प्रकारके शरीरोंमेंसे एक, दो या तीनों शरीरोंसे सम्बन्ध होनेपर ही इसकी 'जीव' संज्ञा होती है। इनमेंसे कारणशरीरके साथ तो जीवका अनादि सम्बन्ध है, महासर्गके आदिमें उसका सूक्ष्मशरीरके साथ सम्बन्ध हो जाता है, जो महाप्रलयपर्यन्त रहता है और देव-तिर्यक्-मनुष्यादि योनियोंसे संयुक्त होनेपर उसका स्थूलशरीरके

साथ सम्बन्ध हो जाता है। एक शरीरको छोड़कर जब यह जीव दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है, उस समय पहला शरीर छोड़ने और दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेके बीचके समयमें उसका सम्बन्ध सूक्ष्म और कारण दोनों शरीरोंसे रहता है और जब यह किसी योनिके साथ सम्बद्ध रहता है, उस समय इसका स्थूल, सूक्ष्म, कारण — तीनों शरीरोंसे सम्बन्ध रहता है।

(२) दूसरा प्रश्न यह है कि सुख-दुःखका भोक्ता शरीर है या आत्मा। इस सम्बन्धमें प्रश्नकर्ताका यह कहना ठीक ही है कि सुख-दुःखका भोक्ता न केवल शरीर है और न शुद्ध आत्मा ही। तो फिर इनका भोक्ता कौन है? इसका उत्तर यह है कि शरीरके साथ सम्बद्ध हुआ यह जीव ही सुख-दुःखका भोक्ता है। गीतामें भी कहा है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(१३ । २१)

'प्रकृतिमें स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।'

योगसूत्रोंमें भी प्रायः ऐसी ही बात कही गयी है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।

(यो० द० २ । १७)

'द्रष्टा और दृश्य अर्थात् पुरुष और प्रकृतिका संयोग ही हेय अर्थात् दुःखका हेतु है।'

इस संयोगका कारण अविद्या अर्थात् अज्ञान है—

तस्य हेतुरविद्या। (यो० द० २। २४)

अज्ञानके कारण ही चेतन आत्मा 'मैं देह हूँ' ऐसा मानने लगता है और इसीलिये सुखी-दुखी होता है। इस अविद्यारूप कारणके नाश हो जानेपर उक्त संयोगरूप कार्यका भी नाश हो जाता है; इसीको आत्माका कैवल्य अर्थात् मोक्ष कहते हैं—

तद्भावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्।

(यो० द० २। २५)

समाधि, गाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) तथा मूर्च्छाके समय सुख-दुःखका अनुभव नहीं होता—इसका कारण यही है कि उस समय मन-बुद्धि, जो सुख-दुःखकी अनुभूतिके द्वार हैं, अपने कारण प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। इसीलिये डाक्टर लोग चीर-फाड़के समय क्लोरोफार्म आदिका प्रयोग करके कृत्रिम मूर्च्छाकी स्थिति ले आते हैं। महाप्रलयके समय, जब जीवका केवल कारणशरीरके साथ सम्बन्ध रहता है, उस समय भी सुख-दुःखका अनुभव नहीं होता। सुख-दुःखका अनुभव सूक्ष्मशरीरके साथ सम्बन्ध होनेपर ही होता है। अतएव जाग्रत्-अवस्था अथवा स्वप्नावस्थामें ही सुख-दुःखका अनुभव होता है। स्वप्नावस्थामें स्थूलशरीरके साथ सम्बन्ध न रहनेपर भी मन-बुद्धिके साथ तो सम्बन्ध रहता ही है अतएव उस समय जीवको प्रत्यक्षवत् ही सुख-दुःखकी अनुभूति होती है।

भगवान् अवतार कब लेते हैं ?

वर्तमानके भीषण समयमें अनेक प्रकारके अत्याचारोंको फैलते देखकर धार्मिक जगत्में एक प्रकारकी हलचल-सी हो रही है। इस प्रकार पापोंका प्रसार देखकर सहज ही सहृदय मनुष्यके हृदयमें एक प्रश्न उठ जाता है।

प्रश्न—भगवान् अवतार कब लेते हैं ? वर्तमानमें इतने अत्याचारोंके होते हुए भी भगवान् प्रकट क्यों नहीं होते ? क्या गीतामें की हुई प्रतिज्ञा ठीक नहीं है ?

उत्तर—गीतामें भगवान्ने जो प्रतिज्ञा की है वह निश्चय ही ठीक है। अभी अवतार लेनेका समय नहीं आया। नहीं तो भगवान् अवश्य ही अवतार ले लेते। भगवान् स्वयं कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ७-८)

'हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ। साधुपुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

जब-जब पूर्वकालमें भगवान्‌ने अवतार लिया है उस समयकी परिस्थितिका आप जरा-सा विचार करें तो पता लग सकता है कि उस समय कितना पापपूर्ण और भीषण समय था। सत्ययुगमें हिरण्यकशिपुके राज्यमें ऐसी राजाज्ञा थी कि जो धर्माचरण और हरिकी भक्ति करे उसे फाँसी दे दो, हरिका नाम भी कोई न लेने पावे। इस प्रकारकी राजाज्ञा राजाके स्वपुत्र प्रह्लादने न मानी तो उसे भी घोर दण्ड दिया गया। एक दिन हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको गोदमें बैठाकर पूछा—बेटा ! तूने क्या पढ़ा है, जरा मुझे सुना। प्रह्लादने कहा—पिताजी ! मैंने जो पढ़ा है वह सुनिये—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७।५।२३)

'भगवान् विष्णुके नाम और गुणोंका श्रवण एवं कीर्तन करना, भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपका स्मरण करना, भगवान्‌के चरणोंकी सेवा करनी, भगवान्‌के विग्रहका पूजन करना और उनको नमस्कार करना, दासभावसे आज्ञाका पालन करना, सखाभावसे प्रेम करना और सर्वस्वसहित अपने-आपको समर्पण करना।'

ऐसी बात सुनकर हिरण्यकशिपु चौंक पड़ा और उसने

पूछा—यह बात तुझे किसने सिखायी ? मेरे राज्यमें मेरे परम शत्रु विष्णुकी भक्तिका उपदेश देकर मेरे हाथसे कौन मृत्युमुखमें जाना चाहता है ? प्रह्लाद बोला कि हे पिताजी !

शास्ता विष्णुरशेषस्य जगतो यो हृदि स्थितः ।
तमृते परमात्मानं तात कः केन शास्यते ॥

(विष्णुपु० १ । १७ । २०)

'हृदयमें स्थित भगवान् विष्णु ही तो सम्पूर्ण जगत्के उपदेशक हैं । हे तात ! उन परमात्माको छोड़कर और कौन किसको कुछ सिखा सकता है ।'

न केवलं मद्धृदयं स विष्णु-
राक्रम्य लोकानखिलानवस्थितः ।
स मां त्वदादींश्च पितस्समस्तान्
समस्तचेष्टासु युनक्ति सर्वगः ॥

(विष्णुपु० १ । १७ । २६)

'पिताजी ! वे विष्णुभगवान् केवल मेरे ही हृदयमें नहीं, बल्कि सम्पूर्ण लोकोंमें स्थित हैं । वे सर्वगामी तो मुझको, आप सबको और समस्त प्राणियोंको अपनी-अपनी चेष्टाओंमें प्रवृत्त करते हैं ?'

ऐसी बातें सुनकर तो राक्षसराजका क्रोध अत्यन्त भड़क गया और वह भक्त प्रह्लादको भयानक त्रास देने लगा । हरिनाम लेनेवाले प्रह्लादको विष पिलाया गया, पर्वतसे गिराया गया, सर्पोंसे डसाया गया, आगमें जलाया गया इत्यादि अनेक प्रकारसे राक्षसोंने जबरदस्ती जोर-जुल्म ढहाये किन्तु उसका कुछ भी अनिष्ट न कर सके—

जाको राखै साइयाँ, मारि सकै नहिं कोय।
बार न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय॥
कहा करै बैरी प्रबल, जो सहाय रघुबीर।
दस हजार गजबल घट्यो, घट्यो न दस गज चीर॥

प्रबल शत्रु सामने हो तो भी सारे संसारका वार खाली चला जाता है, उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। भक्तपर अत्यन्त अत्याचार होनेपर अन्तमें खम्भमेंसे प्रह्लादके प्यारे परम प्रभुको प्रकट होना ही पड़ा।

प्रेम बड़ो पहलादहिको जिन पाहनतें परमेसुर काढ़ो।

यद्यपि उस समय लोग तो धर्मका पालन करना चाहते थे परन्तु धर्मकार्योंमें अनेक प्रकारसे बलात्कार बाधाएँ डाली जाती थीं। वर्तमान समयमें लोग स्वतः ही धर्मका त्याग कर रहे हैं। यदि कोई धर्मपालन करे तो उसमें जबरन् बाधा नहीं दी जाती है।

त्रेतामें देखिये—सुबाहु और मारीच यज्ञोंको ध्वंस कर देते थे। मुनियोंको खा जाते थे। इतना ही नहीं, अनेक राक्षस घोर अत्याचार करने लगे थे। आजकल जहाँ-तहाँ पशुओंकी हड्डियोंके ढेर देखे जाते हैं परन्तु रामायणको देखनेसे मालूम होता है कि उस समय तो फलमूलाहारी तपस्वी ऋषि-मुनियोंके मांस-मज्जाको राक्षसोंने भक्षण करके उनकी हड्डियोंका ढेर लगा दिया था।

अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया॥
जानतहूँ पूछिअ कस स्वामी। सबदरसी तुम्ह अंतरजामी॥
निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुबीर नयन जल छाए॥

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह ।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥

(रामचरितमानस अरण्यकाण्ड)

तब उस समय मनुष्यके रूपमें श्रीरामचन्द्रका अवतार हुआ । वैसा घोर समय अब नहीं है । जब-जब धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् प्रकट होते हैं । (सत्य, न्याय आदि सब धर्मके ही नाम हैं ।) धर्म परमेश्वरका स्वरूप है । भगवान् स्वयं कहते हैं—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

(गीता १४ । २७)

'हे अर्जुन ! उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका मैं ही आश्रय हूँ अर्थात् उपरोक्त ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वतधर्म तथा ऐकान्तिक सुख, यह सब मेरे ही नाम-रूप हैं, इसलिये इनका मैं परम आश्रय हूँ ।'

लोककी स्थिति धर्मकी भित्तिपर ही ठहरी हुई है—

धर्मेण धार्यते पृथ्वी धर्मेण तपते रविः ।
धर्मेण वाति वायुश्च सर्वं धर्मे प्रतिष्ठितम् ॥

'धर्मसे ही पृथ्वी ठहरी हुई है, धर्मसे ही सूर्य तप रहा है, धर्मसे ही वायु चल रहा है—सारा संसार धर्मसे ही प्रतिष्ठित है अर्थात् सबका आधार धर्म ही है ।'

वेद भी अनादि है—इसका यह अर्थ नहीं कि वेदकी पुस्तकें

अनादि हैं परन्तु उसकी शिक्षा यानी उपदेश अनादि है। जैसे 'सत्यं वद' 'धर्मं चर'—'सत्य बोलो', 'धर्माचरण करो' इत्यादि यह शिक्षा अनादि, सर्वव्यापक और सर्वमान्य है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान इत्यादि श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित विधिवाक्य धर्म हैं। धर्मका त्याग करके अनीति करनेवाला अन्तमें नष्ट हो ही जाता है। कंस, रावणादि अनीतिके कारण अन्तमें नष्ट हो गये।

वर्तमान काल अवतार लेने लायक है या नहीं, इसका निर्णय तो प्रभु ही कर सकते हैं। यह बुद्धिसे अतीत विषय है। तथापि मनुष्य अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार कुछ अनुमान लगा ही लिया करते हैं सो मेरी साधारण बुद्धिके अनुसार तो यह समझमें आता है कि वर्तमान कालमें पापोंकी वृद्धि और धर्मका क्षय स्वाभाविक होते हुए भी ऐसा घोर समय अभी नहीं आया है कि जिसके कारण भगवान्‌को अवतार लेना पड़े। इस समय कलियुगके कारण पापाचार बढ़ रहा है तो भी मनुष्य प्रयत्न करनेसे भगवान्‌को उनकी कृपासे प्राप्त कर सकता है।

भगवान्‌के दो स्वरूप हैं—निर्गुण और सगुण। उनका वह निर्गुण स्वरूप बुद्धि और इन्द्रियोंसे अतीत है। सगुण स्वरूप बुद्धि और नेत्रोंका भी विषय है उसे हम देख सकते हैं। सगुणके भी दो भेद हैं—साकार और निराकार। जो सच्चिदानन्दस्वरूपसे सर्वत्र व्यापक है वह सगुण निराकार स्वरूप है जिस प्रकार सर्वत्र फैले हुए बिजलीके तारमें बिजलीका प्रवाह सदा सर्वव्यापक रहता है वैसे

ही भगवान् न दीखनेपर भी सदा सर्वत्र विराजमान हैं। उसे सूक्ष्मदर्शी पुरुष अपनी तीक्ष्ण निर्मल बुद्धिद्वारा अनुभव करते हैं—

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

(कठ० १ । ३ । १२)

'यह आत्मा सूक्ष्मदर्शी पुरुषोंद्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धिसे ही देखा जाता है ।'

परन्तु सगुण साकारको तो हम अपने नेत्रोंके सामने प्रकट भी देख सकते हैं।

निर्गुणकी उपासनासे गुणातीत ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। यों तो गुणातीतका वर्णन नित्य, ज्ञान, अनन्त आदि शब्दोंसे किया गया है पर वास्तवमें उसका स्वरूप वाणीद्वारा नहीं बताया जा सकता, वह तो अचिन्त्य और अनिर्वचनीय है। अन्तमें वेद भी 'नेति-नेति' कहकर ही बतलाता है। वह अनुमान-प्रमाणसे भी नहीं जाना जा सकता, केवल अनुभवरूप ही है। क्योंकि समस्त प्रमाण उस ब्रह्मके सकाशसे ही सिद्ध होते हैं। श्रुति कहती है—

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

इत्यादि ।

(केन० १ । ४-५)

'जिसे वाणी प्रकाशित नहीं कर सकती, किन्तु जिसके

सकाशसे वाणी प्रकाशित होती है, उसे ही तू ब्रह्म जान; यह नामरूपात्मक दृश्य जिसकी अविवेकी लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है। जिसे मन मनन नहीं कर सकता, किन्तु जिसके द्वारा मनको मनन किया हुआ बतलाते हैं, उसे ही तू ब्रह्म जान; यह नामरूपात्मक दृश्य जिसकी अविवेकी लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।'

अतएव वह ब्रह्म स्वत:सिद्ध है। ब्रह्म ही जब शुद्धसत्त्वविशिष्ट होता है, तभी वह बुद्धिद्वारा समझनेमें आ सकता है और साकार-रूपसे प्रकट होनेपर नेत्रोंद्वारा भी देखा जा सकता है। भगवान् अपना साकाररूपसे प्रकट होना इस प्रकार बतलाते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

'हे अर्जुन! मेरा जन्म प्राकृत मनुष्योंके सदृश नहीं है। मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी, सम्पूर्ण प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

ऐसा कहनेपर भी जो सगुण भगवान्के तत्त्वको नहीं जानते अर्थात् भगवान् कृष्णको ईश्वर नहीं मानते उनके लिये भगवान् कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(गीता ९। ११)

'मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ़ लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ समझते हैं, अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं।'

इसलिये भगवान्के साकारतत्त्वको भी जानना चाहिये। जो भगवान्के साकारतत्त्वको जानता है उसके लिये भगवान् कहते हैं--

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

'हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं--इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्याग कर फिर जन्म ग्रहण नहीं करता किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है।'

प्रश्न--यहाँ तत्त्वसे जानना क्या है?

उत्तर--भगवान्का जन्म असाधारण है, स्वतन्त्र है, वे मायाके स्वामी बनकर आते हैं--

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

'अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

प्रभुका शरीर अनामय है अर्थात् सारे रोग और विकारोंसे

रहित दिव्य है। हमारा जन्म सुख-दुःख भोगनेके लिये हुआ करता है परन्तु प्रभु साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंका नाश और धर्मकी स्थापना करनेके लिये प्रकट होते हैं।

वे अपनी दिव्य विभूतियोंके सहित योगमायासे अवतरित होते हैं। भक्तिके द्वारा देखे और जाने जाते हैं। अब भी भक्तिद्वारा भगवान् प्रकट हो सकते हैं। भगवान्ने कहा भी है——

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११।५४)

'परन्तु हे परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

भक्तिके द्वारा सब कुछ हो सकता है। साकार भगवान् नेत्रोंसे देखे जाते हैं, सगुण निराकार बुद्धिद्वारा समझे जाते हैं और निर्गुण निराकार अनुभवसे प्राप्त किये जाते हैं। ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानीजन ही भगवान्को तत्त्वसे जान सकते हैं। कृष्णावतारके समय उनका साक्षात् दर्शन बहुतोंने किया था परन्तु उन्हें तत्त्वसे जाननेवाले थोड़े ही थे। भगवान् जन्मते-मरते हुए-से प्रतीत होते हैं पर वास्तवमें वह उनका अवतरण और तिरोभाव है, जन्मना-मरना नहीं है। जैसे अग्नि सर्वत्र व्याप्त है पर चेष्टा करनेसे चाहे जहाँ प्रज्वलित हो जाती है और अन्तमें विलीन हो

जाती है, परन्तु न दीखनेपर भी वहाँ वस्तुतः अग्निका अभाव नहीं होता। उसी प्रकार भगवान् भी सर्वत्र व्याप्त होते हुए प्रकट और अन्तर्धान हो जाते हैं। भगवान्की शारीरिक धातु चिन्मय और दिव्य है, प्राकृतिक नहीं है। देखनेमें नरवपु धारणकर नरलीला करते हुए प्राकृतिककी-ज्यों दीख पड़ते हैं।

सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्म, परमेश्वर वास्तवमें जन्म और मृत्युसे सर्वथा अतीत हैं। उनका जन्म जीवोंकी भाँति नहीं है; वे अपने भक्तोंपर अनुग्रह करके अपनी दिव्य लीलाओंके द्वारा उनके मनको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये, दर्शन, स्पर्श और भाषणादिके द्वारा उनको सुख पहुँचानेके लिये, संसारमें अपनी दिव्य कीर्ति फैलाकर उसके श्रवण, कीर्तन और स्मरणद्वारा लोगोंके पापोंका नाश करनेके लिये तथा जगत्में पापाचारियोंका विनाश करके धर्मकी स्थापना करनेके लिये जन्म-धारणकी केवल लीलामात्र करते हैं। उनका वह जन्म निर्दोष और अलौकिक है, जगत्का कल्याण करनेके लिये ही भगवान् इस प्रकार मनुष्यादिके रूपमें लोगोंके सामने प्रकट होते हैं; उनका वह विग्रह प्राकृत उपादानोंसे बना हुआ नहीं होता—वह दिव्य, चिन्मय, प्रकाशमान्, शुद्ध और अलौकिक होता है; उनके जन्ममें गुण और कर्म-संस्कार हेतु नहीं होते; वे मायाके वशमें होकर जन्म धारण नहीं करते; किन्तु अपनी प्रकृतिके अधिष्ठाता होकर योगमायासे मनुष्यादिके रूपमें केवल लोगोंपर दया करके ही प्रकट होते हैं—इस बातको भली-भाँति समझ लेना अर्थात् इसमें किञ्चिन्मात्र भी असम्भावना और

विपरीत भावना न रखकर पूर्ण विश्वास करना और साकाररूपमें प्रकट भगवान्‌को साधारण मनुष्य न समझकर सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, साक्षात् सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा समझना भगवान्‌के जन्मको तत्त्वसे दिव्य समझना है। इस अध्यायके छठे श्लोकमें यही बात समझायी गयी है। सातवें अध्यायके २४ वें और २५ वें श्लोकोंमें और नवें अध्यायके ११ वें तथा १२ वें श्लोकोंमें इस तत्त्वको न समझकर भगवान्‌को साधारण मनुष्य समझनेवालोंकी निन्दा की गयी है एवं दसवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें इस तत्त्वको समझनेवालेकी प्रशंसा की गयी है।

जो पुरुष इस प्रकार भगवान्‌के जन्मकी दिव्यताको तत्त्वसे समझ लेता है, उसके लिये भगवान्‌का एक क्षणका वियोग भी असह्य हो जाता है। भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्यप्रेम होनेके कारण उसके द्वारा भगवान्‌का अनन्यचिन्तन होता रहता है।

प्रश्न—उनके कर्मोंमें क्या दिव्यता है ?

उत्तर—भगवान्‌के कर्म अहंकार और स्वार्थके विना केवल लोकहितके लिये ही होते हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

(गीता ३। २२)

'हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ।'

किन्तु—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥

(गीता ४ । १४)

'कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता ।'

भगवान्‌के सारे कर्म लीलामय होते हैं । उनके कर्मोंसे लोगोंको नीति, धर्म और प्रेमका उपदेश मिलता रहता है, भगवान् सृष्टि-रचना और अवतार-लीलादि जितने भी कर्म करते हैं, उनमें उनका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है; केवल लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही वे मनुष्यादि अवतारोंमें नाना प्रकारके कर्म करते हैं (३ । २२-२३) । भगवान् अपनी प्रकृतिद्वारा समस्त कर्म करते हुए भी उन कर्मोंके प्रति कर्तृत्वभाव न रहनेके कारण वास्तवमें न तो कुछ करते हैं और न उनके बन्धनमें पड़ते हैं; भगवान्‌की उन कर्मोंके फलमें किञ्चिन्मात्र भी स्पृहा नहीं होती (४ । १३-१४) । भगवान्‌के द्वारा जो कुछ भी चेष्टा होती है, लोकहितार्थ ही होती है । (४ । ८); उनके प्रत्येक कर्ममें लोगोंका हित भरा रहता है । वे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके स्वामी होते हुए भी सर्वसाधारणके साथ अभिमानरहित दया और प्रेमपूर्ण समताका व्यवहार करते हैं (९ । २९); जो कोई मनुष्य जिस प्रकार उनको भजता है, वे स्वयं उसे उसी प्रकार

भजते हैं (४ । ११); अपने अनन्य भक्तोंका योगक्षेम भगवान् स्वयं चलाते हैं (९ । २२), उनको दिव्य ज्ञान प्रदान करते हैं (१० । १०-११) और भक्तिरूपी नौकापर बैठे हुए भक्तोंका संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेके लिये स्वयं उनके कर्णधार बन जाते हैं (१२ । ७)। इस प्रकार भगवान्‌के समस्त कर्म आसक्ति, अहङ्कार और कामनादि दोषोंसे सर्वथा रहित निर्मल और शुद्ध तथा केवल लोगोंका कल्याण करने एवं नीति, धर्म, शुद्ध-प्रेम और न्याय आदिका जगत्‌में प्रचार करनेके लिये ही होते हैं; इन सब कर्मोंको करते हुए भी भगवान्‌का वास्तवमें उन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, वे उनसे सर्वथा अतीत और अकर्त्ता हैं—इस बातको भलीभाँति समझ लेना, इसमें किञ्चिन्मात्र भी असम्भावना या विपरीत भावना न रहकर पूर्ण विश्वास हो जाना ही भगवान्‌के कर्मोंको तत्त्वसे दिव्य समझना है। इस प्रकार जान लेनेपर उस जाननेवालेके कर्म भी शुद्ध और अलौकिक हो जाते हैं—अर्थात् फिर वह भी सबके साथ दया, समता, धर्म, नीति, विनय और निष्काम प्रेमभावका बर्ताव करता है। जिनका भगवान्‌में प्रेम और श्रद्धा है वे भगवान्‌की प्रत्येक लीलामय क्रियाओंसे शिक्षा ग्रहण किया करते हैं और प्रेममें मुग्ध हुआ करते हैं। उनको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करनेकी चेष्टा किया करते हैं, इस प्रकार भगवान्‌के लीलामय कर्मोंसे शिक्षा ग्रहण करके जो उनका अनुकरण करते हैं वे भी कर्मोंसे लिपायमान न होकर परमेश्वरको प्राप्त हो जाते हैं और उनके कर्म भी दिव्य हो जाते हैं।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
(गीता ४ । १९)

'जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म विना कामना और सङ्कल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं ।'

फलकामना, आसक्ति और कर्त्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल लोकहितार्थ ही जो कर्मोंका करना है यही वास्तवमें भगवान्‌के कर्मोंको दिव्य समझना है, जिनके कर्म ऐसे नहीं होते, जो भगवान्‌का अनुकरण नहीं करते, उन्होंने भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यताको वास्तवमें नहीं समझा क्योंकि जो भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यताका तत्त्व समझ लेते हैं उनके भी कर्म फिर दिव्य हो जाते हैं ।

पहले भी मोक्षकी इच्छावाले साधकोंने ऐसा समझकर ही कर्मोंका आचरण किया था, उसी प्रकार आसक्ति, फलेच्छा और अभिमान छोड़कर कर्म करनेके लिये भगवान् अर्जुनको आज्ञा देते हुए कर्मोंका तत्त्व इस प्रकार समझाते हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥
(गीता ४ । १६—१८)

'कर्म क्या है ? और अकर्म क्या है ?—इस प्रकार इसका निर्णय करनेमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं । इसलिये वह कर्मतत्त्व मैं तुझे भलीभाँति समझाकर कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभसे अर्थात् कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा । कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये और अकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये; तथा विकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये; क्योंकि कर्मकी गति गहन है । जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वह योगी समस्त कर्मोंको करनेवाला है ।'

प्रश्न—कर्ममें अकर्म देखना क्या है ? तथा इस प्रकार देखनेवाला मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और समस्त कर्म करनेवाला कैसे है ?

उत्तर—लोकप्रसिद्धिमें मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके व्यापारमात्रका नाम कर्म है; उनमेंसे जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म हैं उनको कर्म कहते हैं और शास्त्रनिषिद्ध पापकर्मोंको विकर्म कहते हैं । शास्त्रनिषिद्ध पापकर्म सर्वथा त्याज्य हैं, इसलिये उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गयी । अतः यहाँ, जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म हैं, उनमें अकर्म देखना क्या है—इस बातपर विचार करना है । यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविका और शरीर-निर्वाहसम्बन्धी

जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं–उन सबमें आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहङ्कारका त्याग कर देनेसे वे इस लोक या परलोकमें सुख-दु:खादि फल भुगतानेके और पुनर्जन्मके हेतु नहीं बनते बल्कि मनुष्यके पूर्वकृत समस्त शुभाशुभ कर्मोंका नाश करके उसे संसार-बन्धनसे मुक्त करनेवाले होते हैं––इस रहस्यको समझ लेना ही कर्ममें अकर्म देखना है । इस प्रकार कर्ममें अकर्म देखनेवाला मनुष्य आसक्ति, फलेच्छा और ममताके त्यागपूर्वक ही कर्त्तव्यकर्मोंका यथायोग्य आचरण करता है । अत: वह कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता, इसलिये वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है; उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, इसलिये वह योगी है और उसे कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता—वह कृतकृत्य हो जाता है, इसलिये वह समस्त कर्मोंको करनेवाला है ।

प्रश्न–अकर्ममें कर्म देखना क्या है ? तथा इस प्रकार देखनेवाला मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और समस्त कर्म करनेवाला कैसे है ?

उत्तर–लोकप्रसिद्धिमें मन, वाणी और शरीरके व्यापारको त्याग देनेका ही नाम अकर्म है; यह त्यागरूप अकर्म भी आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहङ्कारपूर्वक किया जानेपर पुनर्जन्मका हेतु बन जाता है, इतना ही नहीं, कर्त्तव्य-कर्मोंकी अवहेलनासे या दम्भाचारके लिये किया जानेपर तो यह विकर्म (पाप) के रूपमें बदल जाता है—इस रहस्यको समझ लेना ही अकर्ममें कर्म देखना है । इस रहस्यको समझनेवाला मनुष्य किसी भी वर्णाश्रमोचित

कर्मका त्याग न तो शारीरिक कष्टके भयसे करता है, न राग-द्वेष अथवा मोहवश और न मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा या अन्य किसी फलकी प्राप्तिके लिये ही करता है। इसलिये वह न तो कभी अपने कर्तव्यसे गिरता है और न किसी प्रकारके त्यागमें ममता, आसक्ति, फलेच्छा या अहङ्कारका सम्बन्ध जोड़कर पुनर्जन्मका ही भागी बनता है; इसीलिये वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है। उसका परम पुरुष परमेश्वरसे संयोग हो जाता है, इसलिये वह योगी है और उसके लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता, इसलिये वह समस्त कर्म करनेवाला है।

प्रश्न–कर्मसे क्रियमाण, विकर्मसे विविध प्रकारके सञ्चित कर्म और अकर्मसे प्रारब्ध कर्म लेकर कर्ममें अकर्म देखनेका यदि यह अर्थ किया जाय कि क्रियमाण कर्म करते समय यह देखे कि भविष्यमें यही कर्म प्रारब्ध कर्म (अकर्म) बनकर फल-भोगके रूपमें उपस्थित होंगे और अकर्ममें कर्म देखनेका यह अर्थ किया जाय कि प्रारब्धरूप फलभोगके समय उन दुःखादि भोगोंको अपने पूर्वकृत क्रियमाण कर्मोंका ही फल समझे और इस प्रकार समझकर पापकर्मोंका त्याग करके शास्त्रविहित कर्मोंको करता रहे, तो क्या आपत्ति है ? क्योंकि सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध कर्मोंके ये ही तीन भेद प्रसिद्ध हैं ?

उत्तर–ठीक है, ऐसा मानना बहुत लाभप्रद है और बड़ी बुद्धिमानी है; किन्तु ऐसा अर्थ मान लेनेसे 'कवयोऽप्यत्र मोहिताः', 'गहना कर्मणो गतिः', 'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्', 'स युक्तः कृत्स्न-

कर्मकृत्,' 'तमाहुः पण्डितं बुधाः', 'नैव किञ्चित्करोति सः' आदि वचनोंकी सङ्गति नहीं बैठती। अतएव यह अर्थ लाभप्रद होनेपर भी प्रकरणविरुद्ध है।

प्रश्न–कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखनेवाला साधक भी मुक्त हो जाता है या सिद्ध पुरुष ही इस प्रकार देख सकता है?

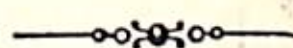
उत्तर–मुक्त पुरुषके जो स्वाभाविक लक्षण होते हैं, वे ही साधकके लिये साध्य होते हैं। अतएव मुक्त पुरुष तो स्वभावसे ही इस तत्त्वको जानता है और साधक उनके उपदेशद्वारा जानकर उस प्रकार साधन करनेसे मुक्त हो जाता है। इसीलिये भगवान्ने कहा है कि 'मैं तुझे वह कर्म-तत्त्व बतलाऊँगा, जिसे जानकर तू कर्म-बन्धनसे छूट जायगा।'

उपर्युक्त प्रकारसे कर्मयोगके तत्त्वको जाननेवाला ही मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, योगी है और सम्पूर्ण कर्मोंका करनेवाला है इसलिये वह इस कर्मरहस्यको समझकर संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

इस प्रकारसे कर्मोंका तत्त्व समझकर फल, कामना, आसक्ति और अहंकारको छोड़कर समस्त कर्मोंका करना ही भगवान्के कर्मोंकी दिव्यताको समझना है।

ऊपर बतलाये हुए भगवान्के जन्म और कर्मोंकी दिव्यताके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष सारे कर्म और दुःखोंसे छूटकर, परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

गीतोक्त दिव्यदृष्टि



किसी भाईका प्रश्न है कि श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ११ में विश्वरूप-दर्शनके लिये अर्जुनको दिव्यदृष्टि प्रदान करनेका प्रसंग आता है, यह दिव्यदृष्टि क्या थी ? उसके द्वारा अर्जुनने किस प्रकार विश्वरूपके दर्शन किये ? और भगवान्‌ने जो अपना विराट्स्वरूप अर्जुनको दिखाया वह कैसा था ?

वास्तवमें इस प्रश्नका पूरा उत्तर वे ही महापुरुष दे सकते हैं, जिनको भगवान्‌की कृपासे कभी ऐसी दिव्यदृष्टिके द्वारा भगवान्‌के दिव्य विराट् रूपके दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ हो, मेरे द्वारा इस विषयमें जो कुछ निवेदन किया जाता है, वह तो केवल

श्रीमद्भगवद्गीता और दूसरे-दूसरे शास्त्रोंपर विवेचन करनेसे अपनी साधारण बुद्धिसे जो कुछ समझमें आ सका है उसीका प्रदर्शन है।

इस विषयमें लोगोंके भिन्न-भिन्न विचार हैं। कोई कहते हैं कि भगवान्‌ने उपदेशद्वारा अर्जुनको ऐसा ज्ञान प्रदान कर दिया, जिससे इस सारे विश्वको अर्जुन भगवान्‌का स्वरूप समझने लगा था, अतः यहाँ ज्ञानका ही नाम दिव्यदृष्टि है; किसीका कहना है कि भगवान्‌ने अर्जुनको दूरबीनके-जैसी कोई दृष्टि दे दी होगी, जिससे अर्जुन वहीं खड़ा-खड़ा सारे विश्वको देख सका होगा; किसीका कहना है कि जैसे आजकल रेडियोद्वारा बहुत दूर देशका गाना सुनाया जाता है, ऐसे ही भगवान्‌ने कोई यन्त्र अर्जुनको दिया होगा कि जिससे अर्जुन व्यवधानयुक्त दूर देशमें स्थित वस्तुओंको भी देख सके; इसी तरह अपनी-अपनी समझके अनुसार लोग कल्पना किया करते हैं।

हमें इस विषयको समझनेके लिये श्रीमद्भगवद्गीतामें कहे हुए भगवान्, अर्जुन और सञ्जयके वचनोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये, उनपर विचार करनेसे ही यह विषय प्रायः स्पष्ट हो सकता है।

दशवें अध्यायमें अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेके बाद, अन्तमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि तुझे यह सब विस्तार समझनेकी क्या आवश्यकता है, यह सारा विश्व मेरी योगमायाके द्वारा किसी एक अंशमें धारण किया हुआ है (१० । ४२) इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञानद्वारा सारे विश्वको भगवान्‌के किसी एक अंशमें स्थित देखनेकी बात तो भगवान् पहले ही कह चुके और

उसे सुनकर अर्जुनने भी स्वीकार कर लिया कि आप जो कुछ कह रहे हैं, वह सर्वथा ठीक है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। किन्तु उसके बाद भी अर्जुन प्रार्थना करता है कि हे पुरुषोत्तम! मैं आपके उस ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजयुक्त दिव्य स्वरूपको प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ (११ । ३), अतः यदि आप मेरेद्वारा वह रूप देखा जाना शक्य समझते हों, तो मुझे उसका दर्शन करावें (११ । ४)। इससे यह पाया जाता है कि अर्जुनने भगवान्के ऐश्वर्यमय साकार अद्भुत रूपके दर्शन करनेकी प्रार्थना की थी और भगवान्ने भी अपने योगबलसे वैसे ही रूपका अर्जुनको दर्शन कराया था। भगवान्ने स्वयं कहा है कि मेरे इस शरीरमें तू एक ही जगह स्थित, चराचर जीवोंके सहित सारे जगत्को देख और अन्य भी जो कुछ देखनेकी तेरी इच्छा है, वह भी देख (११ । ७)। भगवान्ने अर्जुनको जिस अद्भुत रूपका दर्शन कराया था, वह इस दृश्य जगत्से भिन्न था, अलौकिक था, भगवान्के शुद्ध सत्त्वसे बना हुआ तेजस्वरूप था, उसके समस्त वस्त्र, आभूषण और शस्त्रादि एवं पुष्पमाला और गन्धलेपन आदि भी दिव्य और अलौकिक थे (११ । १०-११)। उस रूपका तेज अपार था, हजारों सूर्य एक साथ उदय होनेपर भी उस रूपके तेजकी बराबरी कर सकें या नहीं, इसमें भी सन्देह था (११ । १२)। ऐसा अलौकिक रूप साधारण नेत्रोंद्वारा कैसे देखा जा सके, इसीलिये भगवान्ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि प्रदान की (११ । ८) और उसके द्वारा अर्जुनने भगवान्के रूपका दर्शन किया।

इसलिये यह कहना नहीं बन सकता कि इस दृश्य जगत्को ज्ञानद्वारा भगवान्का स्वरूप समझ लेना ही विश्वरूपका देखना है और ऐसा ज्ञान ही यहाँ दिव्यदृष्टि है ।

भगवान्के विराट् रूपको देखकर अर्जुन कहता है कि स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका यह सारा आकाश और सब दिशाएँ एकमात्र आपके ही रूपसे व्याप्त हो रहे हैं (गीता ११ । २०) । आपके शरीरमें मैं समस्त देवोंको, ब्रह्माको और महादेवको भी देख रहा हूँ (११ । १५) । आप अपने तेजसे इस सारे विश्वको तपा रहे हैं, आपकी सामर्थ्य अनन्त है, आपका आदि, मध्य और अन्त नहीं है (११ । १९) । कितने ही देवोंके झुण्ड आपमें प्रवेश कर रहे हैं, कितने ही भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए स्तुति करते हैं, महर्षि और सिद्धोंके समुदाय भी आपकी स्तुति कर रहे हैं (११ । २१) । रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य और अश्विनी-कुमार आदि सब देव एवं गन्धर्व, यक्ष, राक्षसगण आपको विस्मित होकर देख रहे हैं (११ । २२) । आकाशसे संलग्न हुए आपके विकराल रूपको देखकर मेरा धैर्य छूट रहा है, मुझे शान्ति नहीं मिलती है, मैं व्यथित हो रहा हूँ (११ । २४) ! ये सब राजाओंके सहित धृतराष्ट्रके पुत्र एवं भीष्म, द्रोण और कर्ण तथा हमारी सेनाके भी सब शूरवीर, आपके भयानक मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं और उनमेंसे कितने ही आपके दाँतोंमें चिपके हुए दिखलायी दे रहे हैं आप उन सबको निगल रहे हैं, आपका उग्र प्रकाश अपने तेजसे सारे जगत्को परिपूर्ण करके तपा रहा है (११ । २६, २७, ३०) ।

इस वर्णनसे यह पाया जाता है कि अर्जुनने भगवान्‌का विराट् रूप अपने सामने प्रत्यक्ष देखा था एवं उस रूपके अंदर उसको सारा ब्रह्माण्ड और भविष्यमें होनेवाली युद्धविषयक घटना तथा उसका परिणाम दिखलायी दे रहा था। जिस विश्वमें अर्जुन अपनेको खड़ा देख रहा था, वह भगवान्‌के शरीरमें दिखलायी देनेवाले ब्रह्माण्डसे भिन्न था, क्योंकि उस विराट् रूपसे दृश्य जगत्‌के स्वर्गलोकसे लेकर पृथ्वीके बीचके आकाशको और सब दिशाओंको व्याप्त देखना, महर्षि और सिद्धोंके समुदायोंको भगवान्‌के स्वरूपसे बाहर खड़े हुए स्तुति करते देखना, उनके तेजसे सारे विश्वको तपायमान होते देखना, धृतराष्ट्रके पुत्रोंको, द्रोण, भीष्मादि शूर-वीरोंको और अपनी सेनाके शूरवीरोंको (जो कि दृश्य जगत्‌में प्रत्यक्ष जीवित स्वस्थ खड़े थे) भगवान्‌के रूपमें मरते हुए देखना— ये सभी बातें तभी सम्भव हो सकती हैं।

भगवान्‌के विराट् रूपका दर्शन करते हुए अर्जुनको हर्ष, आश्चर्य, मोह, व्यथा और भय एवं दिग्भ्रम भी एक साथ ही हुए। भगवान्‌की अनन्त और अलौकिक सामर्थ्यको देखकर, उनको परब्रह्म परमेश्वर समझकर, हर्ष और आश्चर्य हुआ एवं भयानक रूपदर्शनसे मोहके कारण भय, व्यथा और दिग्भ्रमादि हुए। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भगवान्‌ने उपदेशद्वारा इस दृश्य जगत्‌को ही ईश्वरका रूप समझाया हो, सो नहीं, क्योंकि ऐसा होनेसे अर्जुनको भय, व्यथा और दिग्भ्रमादि होनेका कोई कारण नहीं रह जाता।

इसलिये यह कहना नहीं बन सकता कि इस दृश्य जगत्को ज्ञानद्वारा भगवान्का स्वरूप समझ लेना ही विश्वरूपका देखना है और ऐसा ज्ञान ही यहाँ दिव्यदृष्टि है ।

भगवान्के विराट् रूपको देखकर अर्जुन कहता है कि स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका यह सारा आकाश और सब दिशाएँ एकमात्र आपके ही रूपसे व्याप्त हो रहे हैं (गीता ११ । २०) । आपके शरीरमें मैं समस्त देवोंको, ब्रह्माको और महादेवको भी देख रहा हूँ (११ । १५) । आप अपने तेजसे इस सारे विश्वको तपा रहे हैं, आपकी सामर्थ्य अनन्त है, आपका आदि, मध्य और अन्त नहीं है (११ । १९) । कितने ही देवोंके झुण्ड आपमें प्रवेश कर रहे हैं, कितने ही भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए स्तुति करते हैं, महर्षि और सिद्धोंके समुदाय भी आपकी स्तुति कर रहे हैं (११ । २१) । रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य और अश्विनी-कुमार आदि सब देव एवं गन्धर्व, यक्ष, राक्षसगण आपको विस्मित होकर देख रहे हैं (११ । २२) । आकाशसे संलग्न हुए आपके विकराल रूपको देखकर मेरा धैर्य छूट रहा है, मुझे शान्ति नहीं मिलती है, मैं व्यथित हो रहा हूँ (११ । २४) ! ये सब राजाओंके सहित धृतराष्ट्रके पुत्र एवं भीष्म, द्रोण और कर्ण तथा हमारी सेनाके भी सब शूरवीर, आपके भयानक मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं और उनमेंसे कितने ही आपके दाँतोंमें चिपके हुए दिखलायी दे रहे हैं आप उन सबको निगल रहे हैं, आपका उग्र प्रकाश अपने तेजसे सारे जगत्को परिपूर्ण करके तपा रहा है (११ । २६, २७, ३०) ।

इस वर्णनसे यह पाया जाता है कि अर्जुनने भगवान्‌का विराट् रूप अपने सामने प्रत्यक्ष देखा था एवं उस रूपके अंदर उसको सारा ब्रह्माण्ड और भविष्यमें होनेवाली युद्धविषयक घटना तथा उसका परिणाम दिखलायी दे रहा था। जिस विश्वमें अर्जुन अपनेको खड़ा देख रहा था, वह भगवान्‌के शरीरमें दिखलायी देनेवाले ब्रह्माण्डसे भिन्न था, क्योंकि उस विराट् रूपसे दृश्य जगत्‌के स्वर्गलोकसे लेकर पृथ्वीके बीचके आकाशको और सब दिशाओंको व्याप्त देखना, महर्षि और सिद्धोंके समुदायोंको भगवान्‌के स्वरूपसे बाहर खड़े हुए स्तुति करते देखना, उनके तेजसे सारे विश्वको तपायमान होते देखना, धृतराष्ट्रके पुत्रोंको, द्रोण, भीष्मादि शूरवीरोंको और अपनी सेनाके शूरवीरोंको (जो कि दृश्य जगत्‌में प्रत्यक्ष जीवित स्वस्थ खड़े थे) भगवान्‌के रूपमें मरते हुए देखना— ये सभी बातें तभी सम्भव हो सकती हैं।

भगवान्‌के विराट् रूपका दर्शन करते हुए अर्जुनको हर्ष, आश्चर्य, मोह, व्यथा और भय एवं दिग्भ्रम भी एक साथ ही हुए। भगवान्‌की अनन्त और अलौकिक सामर्थ्यको देखकर, उनको परब्रह्म परमेश्वर समझकर, हर्ष और आश्चर्य हुआ एवं भयानक रूपदर्शनसे मोहके कारण भय, व्यथा और दिग्भ्रमादि हुए। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भगवान्‌ने उपदेशद्वारा इस दृश्य जगत्‌को ही ईश्वरका रूप समझाया हो, सो नहीं, क्योंकि ऐसा होनेसे अर्जुनको भय, व्यथा और दिग्भ्रमादि होनेका कोई कारण नहीं रह जाता।

भगवान्‌के शरीरमें दीखनेवाला विश्व, इस दृश्य जगत्‌का प्रतिबिम्ब भी नहीं था। क्योंकि भगवान्‌के शरीरमें तो भीष्म, द्रोण आदि शूरवीरोंको और अपनी सेनाके शूरवीरोंको प्रवेश होते हुए और मरते हुए अर्जुन देख रहा है और इस दृश्य जगत्‌में वे सब जीवित हैं, उनके साथ युद्ध करनेके लिये भगवान् अर्जुनको आज्ञा दे रहे हैं।

इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने जिस रूपका अर्जुनको दर्शन कराया था, वह भगवान्‌का अलौकिक स्वरूप था, भविष्यमें होनेवाली घटनाका परिणाम और अपना ऐश्वर्य दिखलाकर भगवान्‌ने अर्जुनके विश्वासको दृढ़ किया था।

दूरबीन और रेडियोके सदृश किसी यन्त्रद्वारा दूर देशमें स्थित केवल जड दृश्य, जो दूर देशमें वर्तमान हों, वे ही दिखलाये जा सकते हैं। लोगोंके मनकी बातें और भविष्यमें होनेवाली घटना नहीं दिखलायी जा सकती अतः इस प्रसङ्गमें किसी यन्त्रद्वारा विश्वरूप दिखलाये जानेकी कल्पना करना या किसी यन्त्रविशेषको दिव्यदृष्टि समझना भूल है।

किसी प्रकारके उपदेशद्वारा अर्जुनको ऐसा समझाया गया हो कि यह दृश्य जगत् भगवान्‌का ही रूप है एवं ऐसे ज्ञानका ही नाम यहाँ दिव्यदृष्टि है, यह मानना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेसे अर्जुनको भय, व्यथा और मोह होनेका कोई कारण नहीं रहता। तथा अर्जुनका यह पूछना भी नहीं बन सकता कि विकराल रूपधारी आप कौन हैं? (११। ३१)।

उस समय अर्जुन अपने सामने भगवान्‌का बहुत लंबा-चौड़ा शरीर और उसीमें समस्त जगत्‌को विचित्र ढंगसे देखकर घबरा गया (११ । २४,२५) और उस रूपका उपसंहार करनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करने लगा। किसी प्रकारके ज्ञानद्वारा दृश्य जगत्‌को भगवान्‌का रूप समझाया जानेपर समझनेवालेका यह कहना नहीं बन सकता कि इसका उपसंहार करके, आपका किरीट, गदा और चक्र आदि भूषण और शस्त्रोंसे युक्त चतुर्भुजरूप दिखलाइये (११ । ४६) एवं भगवान्‌का चतुर्भुजरूप दिखला-कर फिर मानुषरूपमें स्थित होकर अर्जुनको आश्वासन देना और उस सौम्यरूपको देखकर अर्जुनका यह कहना भी नहीं बन सकता कि अब आपके इस सौम्य मानुषरूपको देखकर, मैं शान्त-चित्त और स्वस्थ हो गया हूँ।

इस प्रकार विवेचन करनेसे यही समझमें आता है कि अर्जुनके प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने अपने प्यारे भक्त अर्जुनको, उसपर प्रसन्न होकर उसकी श्रद्धा और प्रेम बढ़ानेके लिये एवं अपना प्रभाव, तत्त्व और रहस्य उसको समझानेके लिये अपने योगबलसे वैसा ऐश्वर्यमय रूप दिखाया था, भगवान्‌का वह विश्वरूप अलौकिक, दिव्य और तेजोमय था, साधारण जगत्‌की भाँति पाञ्चभौतिक पदार्थोंसे बना हुआ नहीं था। यदि पाञ्चभौतिक पदार्थोंसे बना हुआ होता तो वहीं खड़े हुए दूसरे लोगोंको भी दिखलायी देता, किन्तु विना दिव्यदृष्टिके उसके दर्शन किसीको नहीं हुए। भगवान् अपना प्रभाव और तत्त्व समझानेके लिये जिस-जिसपर कृपा करके अपने दिव्य अलौकिक आश्चर्यमय विश्वरूपका दर्शन कराना

चाहते हैं, वही उसको देख सकता है। बिना भगवान्की कृपाके कोई योगी योगबलसे ऐसे रूपको नहीं देख सकता, तथा वेदविद्या-अध्ययनसे या यज्ञ, दान और तप आदि पुण्यकर्मोंसे भगवान्के इस प्रकारके रूपको कोई नहीं देख सकता, भगवान्से अतिरिक्त दूसरा कोई योगी या सिद्ध पुरुष ऐसे रूपकी रचना करके दूसरोंको दिखा भी नहीं सकता। जिस समय भगवान् अपने भक्तपर दया करके उसको अपना तत्त्व और रहस्य समझानेके लिये ऐसे रूपको प्रकट करते हैं उस समय भी उसके दर्शन वही मनुष्य कर सकता है कि—जिनको वैसे रूपका दर्शन करनेकी दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है, जो भगवान्का परमभक्त होता है और जिसको भगवान् वैसा रूप दिखाना चाहते हैं—दूसरा कोई किसी भी उपायसे नहीं देख सकता।

संजयको भगवान् वेदव्यासजीने दिव्यदृष्टि प्रदान की थी। वह भगवान्का परम प्रेमी, भक्त और विश्वासपात्र था, इसीसे भगवान्के अद्भुत रूपको देखनेका सौभाग्य उसे भी प्राप्त हो गया, वह स्वयं कहता है कि मैंने भगवान् वेदव्यासजीकी कृपासे ही आज भगवान्के इस अद्भुत रूपके दर्शन किये और श्रीकृष्ण-अर्जुनके गुह्य संवादको सुना (१८ । ७५—७७)।

भगवान्ने अपने योगबलसे अर्जुनको विश्वरूपदर्शनके लिये एक प्रकारकी योगशक्ति प्रदान की थी, जिसके प्रभावसे अर्जुनकी समस्त इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि दिव्य हो गये, उनकी सामर्थ्य अलौकिक हो गयी, उसमें दिव्यरूपका दर्शन करनेकी योग्यता आ

गयी, इसी योग शक्तिका नाम 'दिव्यदृष्टि' है। ऐसी ही दिव्यदृष्टि वेदव्यासजीने संजयको भी दी थी, इस दिव्यदृष्टिसे मनुष्य दूर देशकी बातें सुन सकता है, सब प्रकारके दृश्य देख सकता है और दूसरेके मनके भावोंको भी जान सकता है, यही कारण था कि संजय समस्त महाभारतके युद्धका प्रसंग एक जगह बैठे हुए भी देख-सुनकर और समझकर, सब धृतराष्ट्रको सुना दिया करता था, यहाँतक कि लोगोंके मनके विचार भी धृतराष्ट्रके सामने प्रकट कर दिया करता था।

ऐसी दिव्य शक्तिका साधारण तो प्रकरण पातञ्जलयोगमें भी आया है, किन्तु वहाँ जिन शक्तियोंका वर्णन है वे परिमित हैं। भगवान्ने अर्जुनको जो दिव्यशक्ति प्रदान की थी वह अपरमित थी, उसके लिये अर्जुनको किसी प्रकारकी साधना नहीं करनी पड़ी थी, भगवान्ने स्वयं ही उसपर कृपा करके वह शक्ति प्रदान की थी।

मनुष्यमात्रको उचित है कि इस प्रकार भगवान्की अनन्त और अलौकिक शक्तिको उनके दिव्य विराट् रूपको रहस्यसहित उनके प्रभाव, तत्त्व, लीला और गुणोंको बारंबार याद करके भगवान्में अनन्य प्रेम करें और उनके दर्शन करनेके पात्र बनें।



चेतावनी

शास्त्र और महापुरुष डंकेकी चोट चेतावनी देते आये हैं और दे रहे हैं। इसपर भी हमारे भाइयोंकी आँखें नहीं खुलतीं—यह बड़े आश्चर्यकी बात है। मनुष्यका शरीर सम्पूर्ण शरीरोंसे उत्तम और मुक्तिदायक होनेके कारण अमूल्य माना गया है। चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्यकी योनि, सारी पृथ्वीमें भारतभूमि और सारे धर्मोंमें वैदिक सनातन-धर्मको सर्वोत्तम बतलाते हैं। मनुष्यसे बढ़कर कोई योनि देखनेमें भी नहीं आती, अध्यात्मविषयकी शिक्षा सारी पृथ्वीपर भारतसे ही गयी है यानी दुनियामें जितने प्रधान-प्रधान धर्म-प्रचारक हुए हैं, उन्होंने अध्यात्मविषयक धार्मिक शिक्षा प्रायः भारतसे ही पायी है। तथा यह वैदिक धर्म अनादि और सनातन

है, सारे मत-मतान्तर एवं धर्मोंकी उत्पत्ति इसके बाद और इसके आधारपर ही हुई है। विधर्मी लोग भी इस वैदिक सनातन-धर्मको अनादि न माननेपर भी सबसे पहलेका तो मानते ही हैं। अतएव युक्तिसे भी इन सबकी सबसे श्रेष्ठता सिद्ध होती है। ऐसे उत्तम देश, जाति और धर्मको पाकर भी जो लोग नहीं चेतते हैं, उनको बहुत ही पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

वे लोग मृत्यु नजदीक आनेपर सिरको धुन-धुनकर दुःखित-हृदयसे पश्चात्ताप करेंगे और कहेंगे कि 'कलिकालरूप समयके प्रभावके कारण मैं कल्याणके लिये कुछ भी नहीं कर पाया, मेरे प्रारब्धमें ऐसा ही लिखा था; ईश्वरकी ऐसी ही मर्जी थी।' किन्तु यह सब कहना उनकी भूल है क्योंकि यह कलिकाल पापोंका खजाना होनेपर भी आत्मोद्धारके लिये परम सहायक है।

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥

(श्रीमद्भा० १२।३।५१)

'हे राजन्! दोषके खजाने कलियुगमें एक ही यह महान् गुण है कि भगवान् श्रीकृष्णके कीर्तनसे ही आसक्तिरहित होकर मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

केवल भगवान‍्के पवित्र गुणगान करनेसे ही मनुष्य परमपदको प्राप्त हो जाता है। आत्मोद्धारके लिये साधन करनेमें प्रारब्ध भी

बाधक नहीं है। इसलिये प्रारब्धको दोष देना व्यर्थ है और ईश्वरकी दयाका तो पार ही नहीं है—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

इसपर भी ईश्वरको दोष लगाना मूर्खता नहीं है तो और क्या है? आज यदि हम अपने कर्मोंके अनुसार बन्दर होते तो इधर-उधर वृक्षोंपर उछलते फिरते, पक्षी होते तो वनमें, शूकर-कूकर होते तो गाँवोंमें भटकते फिरते। इसके सिवा और क्या कर सकते थे? कुछ सोच-विचारकर देखिये—परम दयालु ईश्वरकी कितनी भारी दया है, ईश्वरने यह मनुष्यका शरीर देकर हमें बहुत विलक्षण मौका दिया है, ऐसे अवसरको पाकर हमलोगोंको नहीं चूकना चाहिये। पूर्वमें भी ईश्वरने हमलोगोंको ऐसा मौका कई बार दिया था किन्तु हमलोग चेते नहीं, इसपर भी यह पुनः मौका दिया है। ऐसा मौका पाकर हमें सचेत होना चाहिये क्योंकि महान् ऐश्वर्यशाली मान्धाता और युधिष्ठिर-सरीखे धर्मात्मा चक्रवर्ती राजा; दीर्घ आयुवाले हिरण्यकशिपु, रावण और कुम्भकर्ण-जैसे बली और प्रतापी दैत्य; वरुण, कुबेर और यमराज-जैसे लोकपाल और इन्द्र-जैसे देवताओंके भी राजा संसारमें उत्पन्न हो-होकर इस शरीर और ऐश्वर्यको यहीं त्यागकर चले गये; किसीके साथ कुछ भी नहीं गया। फिर विचार करना चाहिये कि इन तन, धन, कुटुम्ब और ऐश्वर्य आदिके साथ अल्प आयुवाले हमलोगोंका तो सम्बन्ध ही कितना है।

फिर आपलोग मदिरा पीये हुए उन्मत्तकी भाँति इन सब बातोंको भुलाकर दुःखरूप संसारके अनित्य विषय-भोगोंमें एवं उनके साधनरूप धनसंग्रहमें तथा कुटुम्ब और शरीरके पालनमें ही केवल अपने इस अमूल्य मनुष्य-जीवनको किसलिये धूलमें मिला रहे हैं ? इन सबसे न तो आपका पूर्वमें सम्बन्ध था और न भविष्यमें रहनेवाला ही है, फिर इन क्षणस्थायी वस्तुओंकी उन्नतिको ही अपनी उन्नतिकी पराकाष्ठा आप क्यों मानने लगे हैं ? यह जीवन अल्प है और मृत्यु हमारी बाट देख रही है; बिना खबर दिये ही अचानक पहुँचनेवाली है । अतएव जबतक इस देहमें प्राण है, वृद्धावस्था दूर है, आपका इसपर अधिकार है, तबतक ही जिस कामके लिये आये हैं, उस अपने कर्तव्यका शीघ्रातिशीघ्र पालन कर लेना चाहिये । भर्तृहरिने भी कहा है कि—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥

(३ । ७५)

'जबतक यह शरीररूपी घर स्वस्थ है, वृद्धावस्था दूर है, इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण नहीं हुई है और आयुका भी (विशेष) क्षय नहीं हुआ है, तभीतक विद्वान् पुरुषको अपने कल्याणके लिये महान् प्रयत्न कर लेना चाहिये, नहीं तो घरमें आग लग जानेपर कुआँ खोदनेका प्रयत्न करनेसे क्या होगा ?'

अतएव—

काल भजंता आज भज, आज भजंता अब।
पलमें परलय होयगी, बहुरि भजैगा कब॥

हमारे लिये वही परम कर्तव्य है, जिसका सम्पादन आजतक कभी नहीं किया गया। यदि इस कर्तव्यका पालन पूर्वमें किया जाता तो आज हमलोगोंकी यह दशा नहीं होती। दुनियामें ऐसी कोई भी योनि नहीं होगी जो हमलोगोंको न मिली हो। चींटीसे लेकर देवराज इन्द्रकी योनितकको हमलोग भोग चुके हैं किन्तु साधन न करनेके कारण हमलोग भटक रहे हैं और जबतक तत्पर होकर कल्याणके लिये साधन नहीं करेंगे तबतक भटकते ही रहेंगे। हजारों-लाखों ब्रह्मा हो-होकर चले गये, और करोड़ों इन्द्र हो-होकर चले गये और हमलोगोंके इतने अनन्त जन्म हो चुके कि पृथ्वीके कणोंकी संख्या गिनी जा सकती है, किन्तु जन्मोंकी संख्या नहीं गिनी जा सकती। और भी चाहे लाखों, करोड़ों कल्प बीत जायँ, बिना साधनके परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती और बिना परमात्माकी प्राप्तिके भटकना मिट नहीं सकता। इसलिये उस सर्वव्यापी परम दयालु परमात्माके नाम और रूपका सदा-सर्वदा स्मरण और उसीकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। इसीसे परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र और सुलभ है। (गीता ८। १४; १२। ६-७) इन साधनोंके लिये उन महापुरुषोंकी शरणमें जाना चाहिये, जिन पुरुषोंको परमात्माकी प्राप्ति हो चुकी है। उन पुरुषोंके संग, सेवा और दयासे ही भगवान्के गुण और प्रभावको जानकर भगवान्में परम श्रद्धा और अनन्य

प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति होती है। और जिन पुरुषोंपर प्रभुकी दया होती है, उन्हींपर महापुरुषोंकी दया होती है, क्योंकि—

जापर कृपा राम की होई तापर कृपा करै सब कोई ॥

प्रभुकी दयासे ही महापुरुषोंका संग और सेवा करनेका अवसर मिलता है। यद्यपि प्रभुकी दया सबके ऊपर ही अपार है, किन्तु हमलोग इस बातको अज्ञानके कारण समझते नहीं हैं, विषय-सुखमें भूले हुए हैं। इसलिये उस दयासे पूरा लाभ नहीं उठा सकते। जैसे किसीके घरमें पारस पड़ा है, पर वह उसके गुण, प्रभाव और रहस्यको न जाननेके कारण दरिद्रताके दुःखको भोगता है, उसी प्रकार हमलोग भगवान् और भगवान्‌की दयाके रहस्य, प्रभाव, तत्त्व और गुणोंको न जाननेके कारण दुखी हो रहे हैं।

अतएव इन सबको जाननेके लिये महापुरुषोंका संग, सेवा तथा प्रभुके नाम, रूप, गुण और चरित्रोंका ग्रन्थोंमें अध्ययन करके उनका कीर्तन और मनन करना चाहिये। क्योंकि यह नियम है कि कोई भी पदार्थ हो, उसके गुण और प्रभाव जाननेसे उसमें श्रद्धा-प्रेम और अवगुण जाननेसे घृणा होती है। और यह बात प्रसिद्ध है कि परमेश्वरके समान संसारमें न कोई गुणी है और न कोई प्रभावशाली। जिसके सङ्कल्प करनेसे तथा नेत्रोंके खोलने और मूँदनेसे क्षणमें संसारकी उत्पत्ति और विनाश हो जाता है, जिसके प्रभावसे क्षणमें मच्छरके तुल्य जीव भी इन्द्रके समान और इन्द्रके तुल्य जीव मच्छरके समान हो जाते हैं, इतना ही क्यों वह असम्भवको सम्भव और सम्भवको भी असम्भव कर सकता है;

ऐसी कोई भी बात नहीं है जो उसके प्रभावसे न हो सके। ऐसा प्रभावशाली होनेपर भी वह भजनेवालेकी कभी उपेक्षा नहीं करता, बल्कि भजनेवालेको स्वयं भी वैसे ही भजता है, इस रहस्यको किञ्चित् भी जाननेवाला पुरुष एक क्षणके लिये भी ऐसे प्रभुका वियोग कैसे सह सकता है ?

जो परमेश्वर महापामर दीन-दुखी अनाथको याचना करनेपर उसके दुर्गुण और दुराचारोंकी ओर खयाल न करके बच्चेको माताकी भाँति गले लगा लेता है, ऐसे उस परम दयालु सच्चे हितैषी परम-पुरुषकी इस दयाके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष उसकी प्राप्तिसे वंचित कैसे रह सकता है ?

उस परमात्मामें धैर्य, क्षमा, दया, त्याग, शान्ति, प्रेम, ज्ञान, समता, निर्भयता, वत्सलता, सरलता, कोमलता, मधुरता, सुहृदता आदि गुणोंका पार नहीं है, और परमात्माके ये सब गुण उसको भजनेवालेमें स्वाभाविक ही आ जाते हैं—इस बातके मर्मको जानने-वाला पुरुष उसको छोड़कर एक क्षण भी दूसरेको नहीं भज सकता।

जो प्रेमका तत्त्व जानता है—साक्षात् प्रेमस्वरूप है, जो महान् होकर भी अपने प्रेमी भक्त और सखाओंके साथ उनका अनुगमन करता है, ऐसे उस निरभिमानी, प्रेमी, दयालु भगवान्के तत्त्वको जाननेवाला पुरुष उसकी किसी भी आज्ञाका उल्लङ्घन कैसे कर सकता है ?

इन सब भगवान्के गुण और प्रभावको जान लेनेपर तो बात

ही क्या है, किन्तु ऐसे गुण और प्रभावशाली प्रभुके होनेमें विश्वास (श्रद्धा) होनेपर भी मनुष्यके द्वारा पापाचार तो हो ही नहीं सकता, बल्कि उसके प्रभाव और गुणोंको स्मरण कर-कर मनुष्यमें स्वाभाविक ही निर्भयता, प्रसन्नता और शान्ति आ जाती है। और पद-पदपर उसे आश्रय मिलता रहता है, जिससे उसके उत्साह और साधनकी वृद्धि होकर परमेश्वरकी प्राप्ति हो जाती है।

यदि ऐसा विश्वास न हो सके तो भी उसको अपने चित्तसे एक क्षण भुलाना तो नहीं चाहिये। नहीं तो भारी विपत्तिका सामना करना पड़ेगा। क्योंकि मनुष्य जिस-जिसका चिन्तन करता हुआ जाता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है, इस प्रकार शास्त्र और महात्माओंने कहा है और यह युक्तिसंगत भी है। सोते समय मनुष्य जिस-जिस वस्तुका चिन्तन करता हुआ सोता है, स्वप्नमें भी प्रायः वही वस्तु उसे प्रत्यक्ष-सी दिखलायी देती है, इसी प्रकार मरणकाल-में भी जिस-जिसका चिन्तन करता हुआ मनुष्य मरता है, आगे जाकर वह उसीको प्राप्त होता है अर्थात् जो भगवान्‌को चिन्तन करता हुआ जाता है, वह भगवान्‌को प्राप्त होता है और जो संसार-को चिन्तन करता हुआ जाता है, वह संसारको प्राप्त होता है। यदि कहें कि अन्तकालमें ही भगवान्‌का चिन्तन कर लेंगे—तो ऐसा मानना भूल है। अन्तकालमें इन्द्रियाँ और मन कमज़ोर और व्याकुल हो जाते हैं, उस समय प्रायः पूर्वका अभ्यास ही काम आता है। इसलिये मनुष्यजन्मको पाकर यह जोखिम तो अपने सिरसे उतार ही देनी चाहिये, यानी और कुछ साधन न बन पड़े

तो गुण और प्रभावके सहित नित्य-निरन्तर परमेश्वरका स्मरण तो करना ही चाहिये। इसमें न तो कुछ खर्च लगता है और न कुछ परिश्रम ही है, बल्कि यह साधन प्रत्यक्ष आनन्द और शान्तिदायक है तथा करनेमें भी बहुत सुगम है। केवल विश्वास (श्रद्धा) की ही आवश्यकता है। फिर तो अपने-आप सहज ही सब काम हो सकता है। परमात्मामें विश्वास होनेके लिये परमात्माके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, प्रेम और चरित्रकी बात महापुरुषोंसे श्रवण करके उसका मनन करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे उन महापुरुष और परमात्माकी दयासे परमेश्वरमें विश्वास और परम प्रेम होकर उसकी प्राप्ति सहजमें ही हो सकती है। परन्तु शोककी बात है कि ईश्वर और परलोकपर विश्वास न रहनेके कारण हमलोग इस ओर खयाल न करके अपने अमूल्य जीवनको अपने आत्मोद्धाररूप ऊँचे-से-ऊँचे काममें बिताना तो दूर रहा, नाशवान् क्षणभङ्गुर सांसारिक विषय-भोगोंके भोगनेमें ही समाप्त कर देते हैं। सांसारिक पदार्थोंमें जो क्षणिक सुखकी प्रतीति होती है, वास्तवमें वह सुख नहीं है, धोखा है। यह बात विचार करनेसे समझमें आ सकती है। ईश्वरने हमलोगोंको बुद्धि और ज्ञान, विवेकपूर्वक समय बितानेके लिये ही दिया है, अतएव जो भाई अपने जीवनको बिना विचारे बिताता है, वह अपनी अज्ञताका परिचय देता है। हर एक मनुष्यको यह विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ ? यह संसार क्या है ? इसके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है ? मैं क्या कर रहा हूँ ? मुझे क्या करना चाहिये ?

संसारके सारे प्राणी सुख चाहते हैं, वह सुख भी सदा-सर्वदा

अपार चाहते हैं और दु:खको कोई किञ्चित् मात्र भी कभी नहीं चाहता। किन्तु ऐसा होता नहीं, बल्कि उसकी इच्छाके विपरीत ही होता है। क्योंकि यह अपने समयको जैसा विताना चाहिये मूर्खताके कारण वैसा नहीं विताता।

संसारमें जो बड़े-बड़े विद्वान् और बुद्धिमान् समझे जाते हैं, वे भी भौतिक यानी सांसारिक सुखको ही सुख मानकर उसकी प्राप्तिके लिये मोहके वशीभूत होकर टूट पड़ते हैं और उसकी प्राप्तिके लिये चेष्टा करना ही उन्नति मानते हैं। बहुत-से लोग सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिके साधनरूप रुपयोंको ही सर्वोपरि मानकर धनसञ्चय करना ही अपनी उन्नति मानते हैं और कितने ही लोकमें मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके लिये अपनी ख्याति करना ही उन्नति मानते हैं। किन्तु यह सब मूर्खता है क्योंकि ये सारी बातें अनित्य होनेके कारण इनमें भ्रमसे प्रतीत होनेवाला क्षणिक सुख भी अनित्य ही है। अनित्य होनेके कारण ही शास्त्रकारोंने इसे असत्य बतलाया है। शास्त्र और महापुरुषोंका यह सिद्धान्त है एवं युक्तिसंगत भी है। कोई भी पदार्थ हो जो सत् होगा, उसका किसी भी प्रकार कभी विनाश नहीं होगा। उसपर कितनी ही चोटें लगें, वह सदा-सर्वदा अटल ही रहेगा। जो असत् पदार्थ है, उसके लिये आप कितना ही प्रयत्न करें, वह कभी रहनेका नहीं। इन सब बातोंको समझकर क्षणभङ्गुर— नाशवान् सुखसे अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको हटाना चाहिये और वास्तवमें जो सच्चा सुख है उसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। उसकी प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर हो जाना ही असली उन्नति है।

अब हमको यह विचार करना चाहिये कि सच्चा सुख क्या है और किसमें है ? तथा मिथ्या सुख क्या है और किसमें है ? सर्वशक्तिमान् विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा ही नित्य वस्तु है, अतएव उस परमात्माके सम्बन्धसे होनेवाला सुख ही सत्य और नित्य सुख है। जो सांसारिक पदार्थ हैं, वे सब क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण उनमें प्रतीत होनेवाला सुख क्षणिक और अनित्य है। अब यह विचार करें कि सांसारिक पदार्थ और उनमें प्रतीत होनेवाला सुख क्षणिक और अनित्य कैसे है ? देखिये, जैसे प्रातःकाल गायका दूध दुहकर तुरन्त पान किया जाता है तो उसका स्वाद, गुण, रूप दूसरा ही होता है। और सायंकालतक पड़े रहनेपर कुछ दूसरा ही हो जाता है यानी प्रातःकाल-जैसा स्वाद और गुण उसमें नहीं रहता तथा रूप भी कुछ गाढ़ा हो जाता है। दूसरे और तीसरे दिन तो स्वाद, गुण और रूपकी तो बात ही क्या है, उसका नाम भी बदल जाता है अर्थात् कुछ क्रिया न करनेपर भी दूधका दही हो जाता है तथा मीठेका खट्टा, पित्त और वायुनाशककी जगह पित्त और वायुवर्धक एवं पतलेका अत्यन्त गाढ़ा हो जाता है। और दस दिनके बाद तो पड़ा-पड़ा स्वाभाविक ही विषके तुल्य स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त हानिकर हो जाता है। विचार करके देखिये, कुछ क्रिया न करनेपर भी अमृतके तुल्य दूध-जैसे पदार्थमें क्षणपरिणामी होनेके कारण पहलेवाले स्वाद, गुण, रूप और नामका अत्यन्त अभाव हो जाता है। यदि वह नित्य होता तो उसका परिवर्तन और विनाश नहीं होता। इसी प्रकार अन्य सब पदार्थोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिये।

अतएव इन सांसारिक पदार्थोंमें प्रतीत होनेवाला सुख वास्तवमें सुख नहीं है। यदि प्रतीत होनेवाले क्षणिक सुखको सुख माना जाय तो उससे बढ़कर उनमें दुःख भी है, इसलिये वे त्याज्य हैं। एक पुरुष रमणीके साथ रमण करता है, उस समय उसको क्षणिक सुख-सा प्रतीत होता है, पर आगे चलकर उससे रोगोंकी वृद्धि तथा बल, बुद्धि, तेज और आयुका क्षय होता है एवं वह महान् दुखी होकर शीघ्र ही कालका ग्रास बन जाता है! उपर्युक्त कार्य धर्मसे विरुद्ध करनेपर तो इस लोकमें अपकीर्ति और मरनेपर नरककी भी प्राप्ति होती है। अब विचार करके देखिये कि क्षणिक सुखके बदलेमें कितने समयतक कितना दुःख भोगना पड़ता है। इसी प्रकार अन्य सब पदार्थोंके भोगमें भी समझना चाहिये क्योंकि विषयोंके भोगमात्रसे ही शरीर और इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं और अन्तःकरण दूषित, दुर्बल और चञ्चल होता जाता है; पूर्वकृत पुण्योंका क्षय और पापोंकी वृद्धि होती है। इतना ही नहीं, धीर और वीर पुरुष भी विलासी बन जाते हैं तथा ईश्वरप्राप्तिके मार्गपर आरूढ़ नहीं हो सकते। कोई आरूढ़ होनेका प्रयत्न करते हैं तो भी उनको सफलता शीघ्र नहीं होती।

इसलिये इन पदार्थोंके भोगनेके उद्देश्यसे अर्थ (धन) को इकट्ठा करना भी भूल ही है—क्योंकि प्रथम तो इस अर्थ (धन) के उपार्जन करनेमें बहुत परिश्रम होता है। इतना ही नहीं, घोर नरकदायक पाप यानी अनेकों अनर्थ करने पड़ते हैं। फिर इसकी रक्षा करनेमें बहुत कठिनाई पड़ती है। कहीं-कहीं तो इसकी रक्षा करनेमें प्राणोंपर नौबत आ जाती है। इसके खर्च और दान करने-

में भी कम दुःख नहीं होता। लोग कहते हैं कि देना और मरना समान है। इसके नाश और वियोगमें और भी बड़ा भारी दुःख होता है। जब मनुष्य इसको छोड़कर परलोकमें जाता है, उस समय तो दुःखका पार ही नहीं है। अतएव क्षणिक सुखकी प्राप्तिके लिये महान् दुःखका सामना करना मूर्खता नहीं तो और क्या है? फिर उस अर्थ (धन) के द्वारा प्राप्त होनेवाला विषयसुख भी इसके इच्छानुसार इसको नहीं मिल सकता। संसारमें बड़े-बड़े जो व्यावहारिक दृष्टिसे विद्वान् और बुद्धिमान् समझे जाते थे, वे सब इस धनको छोड़ सिर धुन-धुनकर पछताते हुए चले गये। बड़े-बड़े प्रतापी, प्रभावशाली, बलवान् पुरुष भी इसे साथ नहीं ले जा सके, फिर हमलोगोंकी तो बात ही क्या है। संसारमें यह भी देखा जाता है कि इसे इकट्ठा कोई करता है और उसका उपभोग प्रायः दूसरा ही करता है जो कि कहीं-कहीं तो उसके उद्देश्यसे बिल्कुल ही विपरीत होता है। जैसे शहदकी मक्खी शहद इकट्ठा करती है। पर उसका उपभोग प्रायः दूसरे लोग ही करते हैं। यह उसकी मूर्खताका परिचय है। मक्खियाँ तो साधारण कीट हैं किन्तु मनुष्य होकर भी जो इस विषयपर विचार नहीं करता, वह उन कीटोंसे भी बढ़कर मूर्ख है।

एक भाई रोज हजार रुपये कमाता है और आज हजार रुपयोंकी थैली उसके घरपर आ गयी, तो कलके लिये दो हजारकी चेष्टा करता है, पर थोड़ी देरके लिये समझ लीजिये कि कल उसकी मृत्यु होनेवाली है और यह बात स्पष्ट है कि मृत्यु होनेके बाद उसका इस धनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता और मृत्यु

विना खबर दिये ही अचानक आती है और सम्पूर्ण धनको खर्च कर देनेतक लाख प्रयत्न करनेपर भी किसी प्रकार मृत्युसे वह छूट नहीं सकता। उसकी मृत्यु अवश्यमेव है। ऐसी हालतमें जिन पढ़े-लिखे तथा प्रतिष्ठित टाइटल पाये हुए मनुष्योंका धनसञ्चय करना ही ध्येय है उनकी शहद इकट्ठा करनेवाली मक्खियोंसे भी बढ़कर अज्ञता कही जाय तो इसमें क्या अत्युक्ति है?

जो नाम-ख्यातिके लिये तन, मन, धनको लगाते हैं, वे भी बुद्धिमान् नहीं हैं, क्योंकि नाम-ख्याति सच्चे सुखमें बाधक है और मरनेके बाद भी उस नाम-ख्यातिसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अतएव उन धनी-मानी विषयासक्त भाइयोंसे सविनय निवेदन है कि एक परमेश्वर और उसके आज्ञापालनरूप धर्मके सिवा आपका इस लोक और परलोकमें कहीं भी कोई साथी तथा सहायक नहीं है। इसलिये यदि नाम-ख्यातिकी ही इच्छा हो तो भी भगवत्प्राप्तिकी ही चेष्टा करनी चाहिये। क्योंकि जब उस ब्रह्मको अभेदरूपसे प्राप्त हो जावेंगे यानी जब परमात्मा ही बन जावेंगे, तब तो वेद और शास्त्रोंमें जो विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्मकी महिमा गायी है तथा भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णकी जो ख्याति है, वह सब तुम्हारी ही हो जायगी। इतना ही नहीं, दुनियामें जितनी भी ख्याति हो रही है और होगी, वह सब तुम्हारी ही है। क्योंकि जो पुरुष ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह सबका आत्मा ही हो जाता है। इसलिये सबकी ख्याति ही उसकी ख्याति है और सबकी ख्याति भी उसके एक अंशमात्रमें ही स्थित है। गीतामें श्रीभगवान्ने कहा भी है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥
(१० । ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान ।'

अब विचार करना चाहिये कि फिर तुच्छ लौकिक ख्यातिकी इच्छा करना और उसके लिये अपना तन, मन, धन नष्ट करना कितनी मूर्खता है । वास्तवमें भगवान्की प्राप्ति अपनी ख्यातिके लिये नहीं करनी है, वह तो हमारा परम ध्येय और आश्रय होना चाहिये क्योंकि उस पदको प्राप्त होनेपर और कुछ भी पाना बाकी नहीं रहता । इसीको मुक्ति, परमपद और सच्चे सुखकी प्राप्ति कहते हैं । जुगुनूका जैसे सूर्यके साथ तथा बूँदका जैसे समुद्रके साथ मुकाबला सम्भव नहीं, उसी प्रकार सारी दुनियाका सम्पूर्ण सुख मिलाकर भी उस विज्ञान-आनन्दघनकी प्राप्तिरूप सच्चे सुखके साथ उसका मुकाबला नहीं किया जा सकता । भगवान् गीतामें कहते हैं—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥
(२ । ४६)

'सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त होनेपर छोटे जलाशयमें मनुष्यका जितना प्रयोजन रहता है, अच्छी प्रकार ब्रह्मको जाननेवाले

ब्राह्मणका वेदोंमें उतना ही प्रयोजन रहता है। अर्थात् जैसे बड़े जलाशयके प्राप्त हो जानेपर जलके लिये छोटे जलाशयोंकी आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होनेपर आनन्दके लिये वेदोंकी आवश्यकता नहीं रहती।'

जैसे स्वप्नमें प्राप्त हुए त्रिलोकीके राज्य-सुखका थोड़े-से भी जाग्रत्‌के सुखके साथ मुकाबला नहीं किया जा सकता तथा यदि उस स्वप्नके राज्यको कोई बेचना चाहे तो एक पैसा भी उसका मूल्य नहीं मिलता क्योंकि जागनेके बाद उस स्वप्नके राज्यका कोई नाम-निशान ही नहीं है, वैसे ही परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद इस संसार और सांसारिक सुखका नाम-निशान भी नहीं रहता। अतएव ऐसे अनन्त सुखको छोड़कर जो क्षणभङ्गुर, नाशवान् मिथ्या सुखके लिये चेष्टा करता है, उससे बढ़कर कौन मूर्ख है?

दूसरा जो प्रेममें मुग्ध होकर भेदरूपसे भगवान्‌की उपासना करता है उसकी तो और भी अद्भुत लीला है। वह स्वामीकी प्रसन्नतामें प्रसन्न और उनके सुखमें सुखी रहता है। स्वामीमें अनन्य प्रेम, नित्य संयोग और उनकी प्रसन्नताके लिये ही उस भक्तकी सारी चेष्टाएँ होती हैं। अपने प्रेमास्पद सगुण ब्रह्मपर तन, मन, धनको और अपने-आपको न्यौछावर करके वह प्रेम और आनन्दमें मुग्ध हो जाता है। केवल एकमात्र भगवान् ही उसके परम आश्रय, जीवन, प्राण, धन और आत्मा हैं। इसलिये वह भक्त उनके वियोगको एक क्षण भीं नहीं सह सकता। उस प्यारे प्रेमीके नाम, रूप, गुण, प्रेम, प्रभाव, रहस्य और चरित्रोंका श्रवण,

मनन और कीर्तन करता हुआ नित्य-निरन्तर उसमें रमण करता है।

इस आनन्दमें वह इतना मुग्ध हो जाता है कि ऊपरमें अभेदरूपसे बतलायी हुई परमगति यानी मुक्तिरूप सुखकी भी वह परवा नहीं करता। मछली जैसे जलके वियोगको नहीं सह सकती वैसे ही भगवान्‌का वियोग उसको अत्यन्त असह्य हो जाता है। इतना ही नहीं, भगवान्‌के मिलनेपर भगवान् जब उसको हृदयसे लगाते हैं, तब वस्त्रादिका व्यवधान भी उसको विघ्नरूप-सा प्रतीत होने लगता है। वह अव्यवधानरूपसे नित्य-निरन्तर मिलना ही पसंद करता है और एक क्षण भी भगवान्‌से अलग होना नहीं चाहता। इस प्रकार भगवत्प्राप्तिरूप आनन्दमें जो मग्न है, उसके गुणोंका वर्णन वाणीद्वारा शेष, महेश, गणेश आदि भी नहीं कर सकते, फिर अन्यकी तो बात ही क्या है? ऋषि, मुनि, महात्मा और सारे वेद जिन परमेश्वरकी महिमाका गान कर रहे हैं वे परमेश्वर स्वयं उस भक्तकी महिमा गाते हैं और उसके प्रेममें बिक जाते हैं। तथा उस भक्तके भावके अनुसार भावित हुए उसके इच्छानुसार प्रत्यक्ष प्रकट होकर उसके साथ रसमय क्रीड़ा करने लग जाते हैं यानी जिस प्रकारसे भक्तको प्रसन्नता हो, वैसी ही लीला करने लगते हैं।

यदि कहा जाय कि भेद और अभेदरूपसे होनेवाली परमात्माकी प्राप्तिमें क्या अन्तर है तो इसका उत्तर यह है कि अभेदरूप परमात्माकी उपासना करनेवाला पुरुष तो स्वयं ही सच्चा सुख यानी विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा ही हो जाता है और भेदरूपसे

उपासना करनेवाला भक्त भिन्नरूपसे उस रसमय परमात्माके स्वरूप-का दिव्य रस प्राप्त करता है यानी उस अमृतमय सगुणस्वरूप परमात्माके मिलनके आनन्दका अनुभव करता है।

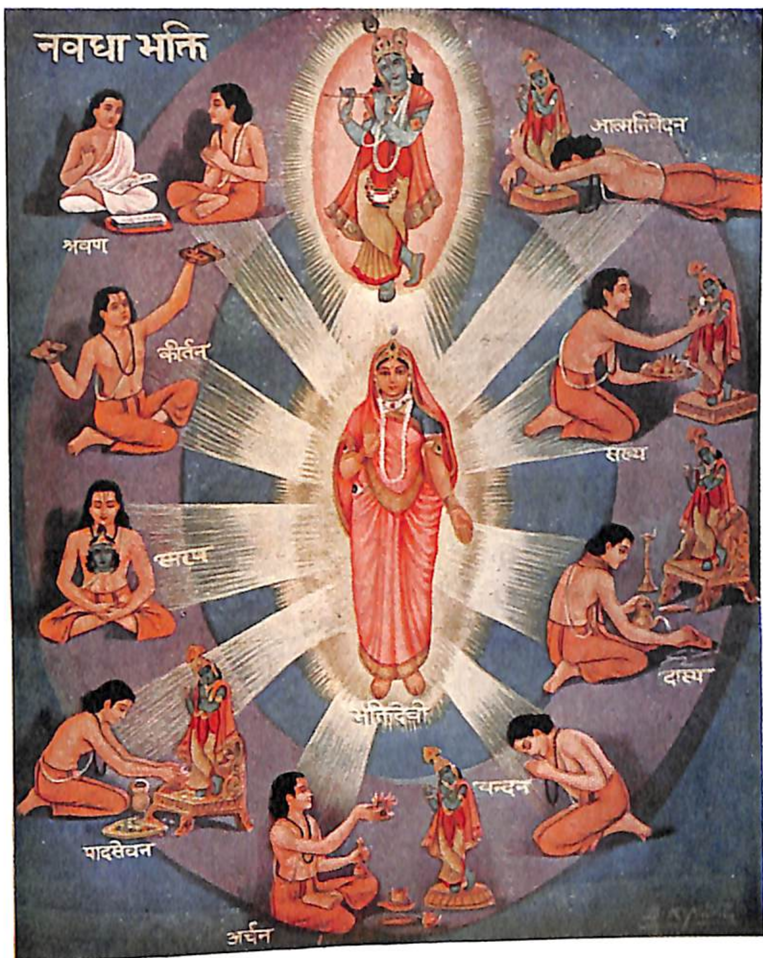
यहाँतक तो वाणीकी पहुँच है। इसके बाद दोनों प्रकारके भक्तोंकी एक ही फलस्वरूपा अनिर्वचनीय स्थिति होती है, जिसे वेद-शास्त्र, शिव-सनकादि, शारदा एवं साधु-महात्मा तथा इस स्थितिको प्राप्त होनेवाले भी कोई पुरुष किसी प्रकार नहीं बतला सकते। जो कुछ भी बतलाया जाता है, उस सबसे यह अत्यन्त परेकी बात है। क्योंकि यहाँ वाणीकी तो बात ही क्या है, मन और बुद्धिकी भी पहुँच नहीं है।

इसलिये दुःख और विघ्नरूप समझते हुए नाशवान्, क्षण-भङ्गुर, तुच्छ भौतिक सुखको लात मारकर परमात्माकी प्राप्तिरूप सच्चे सुखके लिये ही कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकार चेष्टा करनेवाले पुरुषको परमेश्वरकी दयासे उसकी प्राप्ति होनी सहज है।



नवधा भक्ति

भक्ति ही एक ऐसा साधन है जिसको सभी सुगमतासे कर सकते हैं और जिसमें सभी मनुष्योंका अधिकार है । इस कलिकालमें तो भक्तिके समान आत्मोद्धारके लिये दूसरा कोई सुगम उपाय है ही नहीं क्योंकि ज्ञान, योग, तप, याग आदि इस समय सिद्ध होने बहुत ही कठिन हैं । और इस समय इनके उपयुक्त सहायक सामग्री आदि साधन भी मिलने कठिन हैं । इसलिये मनुष्यको कटिबद्ध होकर केवल ईश्वरकी भक्तिका ही साधन करनेके लिये तत्पर होना चाहिये । विचार करके देखा जाय तो संसारमें धर्मको माननेवाले जितने लोग हैं उनमें अधिकांश ईश्वर-भक्तिको ही पसंद करते हैं । अब हमको यह विचार करना चाहिये कि ईश्वर क्या है और उसकी भक्ति क्या है ? जो सबके शासन करनेवाले, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी हैं, न्याय और सदाचार जिनकी कानून है, जो सबके साक्षी और सबको शिक्षा, बुद्धि और ज्ञान देनेवाले हैं तथा जो तीनों गुणोंसे अतीत होते हुए भी लीलामात्रसे गुणोंके भोक्ता हैं, जिनकी भक्तिसे मनुष्य सम्पूर्ण दुर्गुण, दुराचार और दुःखोंसे विमुक्त होकर परम पवित्र बन जाता है, जो


नवधा भक्ति
आत्मनिवेदन
श्रवण
कीर्तन
सख्य
दास्य
भक्तिदेवी
वन्दन
पादसेवन
अर्चन

अव्यक्त होकर भी जीवोंपर दया करके जीवोंके कल्याण एवं धर्मके प्रचार तथा भक्तोंको आश्रय देनेके लिये अपनी लीलासे समय-समयपर देव, मनुष्य आदि सभी रूपोंमें व्यक्त होते हैं अर्थात् साकाररूपसे प्रत्यक्ष प्रकट होकर भक्तजनोंको उनके इच्छानुसार दर्शन देकर आह्लादित करते हैं और जो सत्ययुगमें श्रीहरिके रूपमें, त्रेतायुगमें श्रीरामरूपमें, द्वापरयुगमें श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए थे, उन प्रेममय नित्य अविनाशी विज्ञानानन्दघन, सर्वव्यापी हरिको ईश्वर समझना चाहिये।*

अब भक्ति किसका नाम है—इस विषयमें विचार करना चाहिये। महर्षि शाण्डिल्यने कहा है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' 'ईश्वरमें परम अनुराग यानी परम प्रेम ही भक्ति है।'

देवर्षि नारदने भी भक्तिसूत्रमें कहा है—'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' (२) 'उस परमेश्वरमें अतिशय प्रेमरूपता ही भक्ति है।' 'अमृतस्वरूपा च' (३) 'और वह अमृतरूप है'।

इस प्रकार और भी बहुत-से वचन मिलते हैं। इनसे यही मालूम होता है कि ईश्वरमें जो परम प्रेम है, वही अमृत है, वही असली भक्ति है। यदि कहें कि व्याकरणसे भक्ति शब्दका अर्थ सेवा होता है क्योंकि भक्ति शब्द 'भज् सेवायाम्' धातुसे बनता है तो यह कहना भी ठीक ही है। प्रेम सेवाका फल है और भक्तिके

---

* इस विषयमें विशेष जानना हो तो 'भगवान् क्या हैं?' इस पुस्तिकाको मँगाकर देख सकते हैं। यह गीताप्रेससे छपी है और इसका मूल्य)॥ है।

साधनोंकी अन्तिम सीमा है। जैसे वृक्षकी पूर्णता और गौरव फल आनेपर ही है, इसी प्रकार भक्तिकी पूर्णता और गौरव भगवान्‌में परम प्रेम होनेमें ही है। प्रेम ही उसकी पराकाष्ठा है और प्रेमके ही लिये सेवा की जाती है। इसलिये वास्तवमें भगवान्‌में अनन्य प्रेमका होना ही भक्ति है।

यद्यपि ईश्वरकी भक्तिमें सभी जीवोंका अधिकार होना न्याययुक्त है क्योंकि हनूमान्, जाम्बवन्त, गजेन्द्र, गरुड़, काकभुशुण्डि और जटायु आदि पशु-पक्षी भी भगवान्‌की भक्तिके प्रतापसे परम-पदको प्राप्त हुए हैं परन्तु मनुष्यातिरिक्त पशु-पक्षी आदिमें ज्ञान और साधनका अभाव होनेके कारण वे ईश्वर-भक्ति कर नहीं पाते—इसलिये शास्त्रकार ईश्वरभक्तिमें मनुष्योंका अधिकार बतलाते हैं।

ईश्वरकी भक्तिमें आयु और रूपका तो कुछ भी मूल्य नहीं है। विद्या, धन, जाति और बल—ये भी मुख्य नहीं हैं एवं सदाचार और सद्गुणकी तरफ भी भगवान् इतना खयाल नहीं करते—वे केवल प्रेमको ही देखते हैं। किसी कविने कहा भी है—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्।
कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

'व्याधका कौन-सा (अच्छा) आचरण था? ध्रुवकी आयु ही क्या थी? गजेन्द्रके पास कौन-सी विद्या थी? विदुरकी कौन उत्तम जाति थी? यादवपति उग्रसेनका कौन-सा पुरुषार्थ था?

कुब्जाका ऐसा क्या विशेष सुन्दर रूप था ? सुदामाके पास कौन-सा धन था ? भक्तिप्रिय माधव तो केवल भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं, गुणोंसे नहीं ।'

सदाचार और सद्गुण तो उस भक्तमें भक्तिके प्रभावसे अनायास ही आ जाते हैं, इसलिये ईश्वरकी भक्तिमें सदाचार और सद्गुणोंकी भी इतनी प्रधानता नहीं है । किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि ईश्वरकी भक्तिमें सदाचार और सद्गुणोंकी आवश्यकता ही नहीं है । जैसे बीमार आदमीके लिये रोगकी निवृत्तिमें औषधका सेवन प्रधान है और साथ-ही-साथ पथ्यकी भी आवश्यकता रहती है, इसी प्रकार जन्म-मरणरूपी भवरोगकी निवृत्तिके लिये ईश्वरकी भक्ति परमौषध है और सद्गुण तथा सदाचारका सेवन पथ्य है । लौकिक रोगकी निवृत्तिके लिये रोगी औषधका सेवन करता हुआ यदि पथ्यकी ओर ध्यान नहीं देता तो उसके रोगकी निवृत्ति प्रायः नहीं होती किन्तु सदाचार और सद्गुणरूपी पथ्यकी कमी रहनेपर भी भक्तिरूपी औषधके सेवनसे भवरोगकी निवृत्ति हो जाती है क्योंकि भक्तिरूपी औषध पथ्यका काम भी कर लेती है । इतना ही नहीं, कुपथ्य-सेवनसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके दुर्गुण और विघ्नरूप दोषोंका नाश एवं सदाचार-सद्गुणरूप पथ्यका उत्पादन भी ईश्वर-भक्ति कर देती है तथा सदाके लिये रोगकी जड़ उखाड़ डालती है । अतः ईश्वर-भक्ति परमौषध है ।

भक्तिके प्रधान दो भेद हैं—एक साधनरूप, जिसको वैध और नवधाके नामसे भी कहा है और दूसरा साध्यरूप जिसको

प्रेमा-प्रेमलक्षणा आदि नामोंसे कहा है। इनमें नवधा साधनरूप है और प्रेम साध्य है।

अब यह विचार करना चाहिये कि वैध-भक्ति किसका नाम है। इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि स्वामी जिससे सन्तुष्ट हो उस प्रकारके भावसे भावित होकर उसकी आज्ञाके अनुसार आचरण करनेका नाम वैध-भक्ति है। शास्त्रोंमें उसके अनेक प्रकारके लक्षण बतलाये गये हैं।

तुलसीकृत रामायणमें शबरीके प्रति भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

तथा श्रीमद्भागवतमें भी प्रह्लादजीने कहा है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(७।५।२३)

'भगवान् विष्णुके नाम, रूप, गुण और प्रभावादिका श्रवण,

कीर्तन और स्मरण तथा भगवान्‌की चरणसेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान्‌में दासभाव, सखाभाव और अपनेको समर्पण कर देना—यह नव प्रकारकी भक्ति है।'

इस प्रकार शास्त्रोंमें भक्तिके भिन्न-भिन्न प्रकारसे अनेक लक्षण बतलाये गये हैं किन्तु विचार करनेपर सिद्धान्तमें कोई भेद नहीं है। तात्पर्य सबका प्रायः एक ही है कि स्वामी जिस भाव और आचरणसे सन्तुष्ट हो उसी प्रकारके भावोंसे भावित होकर उनकी आज्ञाके अनुकूल आचरण करना ही भक्ति है।

अब श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादके द्वारा बतलायी हुई नवधा भक्तिके विषयमें उसके स्वरूप, विधि, प्रयोजन, हेतु, फल और उदाहरणका दिग्दर्शन कराया जाता है। इस उपर्युक्त नवधा भक्तिमेंसे एकका भी अच्छी प्रकार अनुष्ठान करनेपर मनुष्य परमपदको प्राप्त हो जाता है; फिर जो नवोंका अच्छी प्रकारसे अनुष्ठान करनेवाला है उसके कल्याणमें तो कहना ही क्या है।

श्रवण

भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंद्वारा कथित भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण करना एवं उन अमृतमयी कथाओंका श्रवण करके वीणाके सुननेसे जैसे हरिण मुग्ध हो जाता है, वैसे ही प्रेममें मुग्ध हो जाना श्रवणभक्तिका स्वरूप है।

उपर्युक्त श्रवणभक्तिकी प्राप्तिके लिये श्रद्धा और प्रेमपूर्वक महापुरुषोंको साष्टाङ्ग प्रणाम, उनकी सेवा और उनसे नित्य

निष्कपटभावसे प्रश्न करना और उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार आचरण करनेके लिये तत्परतासे चेष्टा करना यह श्रवण-भक्तिको प्राप्त करनेकी विधि है । श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
(४ । ३४)

'हे अर्जुन ! उस ज्ञानको तू समझ; श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास जाकर उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे ।'

महापुरुषोंके द्वारा वर्णित उपर्युक्त श्रवणभक्तिको प्राप्त करके प्रभुमें अनन्य प्रेम होनेके लिये प्रभुके भक्तोंमें उसका प्रचार करना—यह उसका प्रयोजन है ।

यह श्रवणभक्ति महापुरुषोंके संग विना प्राप्त होनी कठिन है । गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ॥

किन्तु महापुरुषोंके संगके अभावमें उच्च श्रेणीके साधकोंका संग एवं महापुरुषविरचित ग्रन्थोंका अवलोकन करना भी सत्संगके ही समान है ।

सत्संग न होनेसे विषयोंका संग तो स्वाभाविक होता ही है। उससे मनुष्यका पतन हो जाता है और सत्संगसे प्रत्यक्ष परमलाभ होता है क्योंकि मनुष्यके जैसा-जैसा संग होता है उस संगके अनुसार ही उसपर वैसा-वैसा प्रभाव पड़ता है। और श्रवणभक्ति भी सत्संगसे ही मिलती है इसलिये सत्संग ही श्रवणभक्तिका हेतु है।

उन सत्पुरुषोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन और संगसे पापी पुरुष भी परम पवित्र बन जाता है। महापुरुषोंकी कृपाके विना कोई भी परमपदको प्राप्त नहीं हो सकता। श्रीमद्भागवतमें राजा रहूगणके प्रति महात्मा जडभरत कहते हैं कि—

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥
(५। १२। १२)

'हे रहूगण! महापुरुषोंके चरणोंकी धूलिमें स्नान किये विना केवल तप, यज्ञ, दान, गृहस्थधर्मपालन और वेदाध्ययनसे तथा जल, अग्नि और सूर्यकी उपासनासे वह परमतत्त्वका ज्ञान नहीं प्राप्त होता।'

अतएव इससे यही सिद्ध होता है कि सारे कार्योंकी सिद्धि महापुरुषोंके संगसे ही होती है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् उद्धवके प्रति कहते हैं कि—

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा ॥
अन्नं हि प्राणिनां प्राणा आर्तानां शरणं त्वहम् ।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम् ॥
(११ । २६ । ३१, ३३)

'हे उद्धव ! जिस प्रकार भगवान् अग्निदेवका आश्रय लेनेपर शीत, भय और अन्धकारका नाश हो जाता है उसी प्रकार सन्त-महात्माओंके सेवनसे सम्पूर्ण पापरूपी शीत, जन्म-मृत्युरूपी भय और अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश हो जाता है ।'

'जैसे प्राणियोंका जीवन अन्न है और दुखी पुरुषोंका आश्रय मैं हूँ तथा मरनेपर मनुष्योंका धर्म ही धन है, वैसे ही जन्म-मरणसे भयभीत हुए व्याकुल पुरुषोंके लिये सन्त-महात्माजन परमाश्रय हैं ।'

न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म एव च ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥
(११ । १२ । १-२)

'जैसे सम्पूर्ण आसक्तियोंका नाश करनेवाला सत्पुरुषोंका संग मुझको अवरुद्ध कर सकता है अर्थात् प्रेम-पाशसे बाँध सकता है वैसे योग, सांख्य, धर्मपालन, स्वाध्याय, तप, त्याग, यज्ञ, कूप-तड़ागादिका निर्माण, दान तथा व्रत, पूजा, वेदाध्ययन, तीर्थाटन, यम-नियमोंका पालन—ये कोई भी नहीं बाँध सकते अर्थात् इनके द्वारा मैं वशमें नहीं आ सकता ।'

महापुरुषोंका संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है। इसलिये भगवत्प्राप्तिके इच्छुक पुरुषोंको उन सत्पुरुषोंका संग अवश्यमेव करना चाहिये। देवर्षि नारदजी भी कहते हैं--

'महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च' (ना० सूत्र ३९)

'महापुरुषोंका संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।'

अत:---

'तदेव साध्यताम्, तदेव साध्यताम्।' (ना० सूत्र ४२)

'उस सत्संगकी ही साधना करो--सत्संगकी ही साधना करो अर्थात् संत महापुरुषोंका संग, सेवा और आज्ञाका पालन करो।'

सत्पुरुषोंद्वारा प्राप्त हुई इस प्रकारकी केवल श्रवणभक्तिसे भी मनुष्य परमपदको प्राप्त कर सकता है--यह उसका फल है। भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है कि--

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(१३। २५)

'परन्तु इनसे दूसरे, अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

नारदजीने भी श्रीमद्भागवतमाहात्म्यमें सनकादिके प्रति कहा है—

श्रवणं सर्वधर्मेभ्यो वरं मन्ये तपोधनाः ।
वैकुण्ठस्थो यतः कृष्णः श्रवणाद्यस्य लभ्यते ॥

(६ । ७७)

'हे तपोधनो ! मैं भगवान्के गुणानुवादोंके श्रवणको सब धर्मोंसे श्रेष्ठ मानता हूँ क्योंकि भगवान्के गुणानुवाद सुननेसे वैकुण्ठस्थित भगवान्की प्राप्ति हो जाती है ।'

केवल श्रवणभक्तिसे भगवान्की प्राप्ति हो जाती है । इसके लिये शास्त्रोंमें बहुत-से प्रमाण भी मिलते हैं तथा इतिहास और पुराणोंमें बहुत-से उदाहरण भी मिलते हैं । जैसे राजा परीक्षित भागवतको सुननेसे ही परमपदको प्राप्त हो गये । श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें लिखा है—

असारे संसारे विषयविषसङ्गाकुलधियः
क्षणार्द्धं क्षेमार्थं पिबत शुकगाथातुलसुधाम् ।
किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सितकथे
परीक्षित्साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्युक्तिकथने ॥

(६ । १०१)

'हे विषयरूप विषके संसर्गसे व्याकुलबुद्धिवाले पुरुषो ! किस लिये कुत्सित वार्तारूप कुमार्गमें व्यर्थ घूम रहे हो ? इस असार संसारमें कल्याणार्थ (कम-से-कम) आधे क्षणके लिये तो शुकदेवजीके मुखसे निकली हुई भागवतकथारूप अनुपम अमृतका पान करो । श्रवणसे मुक्ति हो जाती है—इस कथनके लिये परीक्षित साक्षी (प्रमाण) है ।'

धुन्धुकारी-जैसा पापी भी केवल भगवान्के गुणानुवादोंके

सुननेके प्रभावसे तर गया तथा शौनकादि बहुत-से ऋषि भी पुराण और इतिहासके श्रवणमें ही अपने समयको व्यतीत किया करते थे—वे कभी भी नहीं अघाते थे ।

इस मनुष्यजीवनके लिये और कोई भी इससे बढ़कर आनन्ददायक श्रवणीय विषय नहीं है और यह महापुरुषोंके संग-से ही प्राप्त होता है । इसलिये महापुरुषोंके संगके समान आनन्द-दायक लाभप्रद संसारमें कोई भी पदार्थ मनुष्योंके लिये नहीं है । श्रीमद्भागवतमें सूतजी कहते हैं—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ।।
(१ । १८ । १३)

'भगवत्संगी अर्थात् नित्य भगवान्‌के साथ रहनेवाले अनन्य प्रेमी भक्तोंके निमेषमात्रके भी संगके साथ हम स्वर्ग तथा मोक्षकी भी समानता नहीं कर सकते, फिर मनुष्योंके इच्छित पदार्थोंकी तो बात ही क्या है ?'

अतएव अपना सारा जीवन महापुरुषोंके संगमें रहते हुए ही भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रेम, प्रभाव, लीला, धाम, रहस्य और तत्त्वकी अमृतमयी कथाओंको निरन्तर सुननेमें लगाना चाहिये और उन्हें सुन-सुनकर प्रेम और आनन्दमें मुग्ध होते हुए अपने मनुष्य-जीवनको सफल बनाना चाहिये ।

कीर्त्तन

भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, चरित्र, तत्त्व और

रहस्यका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक उच्चारण करते-करते शरीरमें रोमाञ्च, कण्ठावरोध, अश्रुपात, हृदयकी प्रफुल्लता, मुग्धता आदिका होना कीर्तन-भक्तिका स्वरूप है।

कथा-व्याख्यानादिके द्वारा भक्तोंके सामने भगवान्‌के प्रेम-प्रभावका कथन करना, एकान्तमें अथवा बहुतोंके साथ मिलकर भगवान्‌को सम्मुख समझते हुए उसके नामका उपांशु जप एवं ऊँचे स्वरसे कीर्तन करना, भगवान्‌के गुण, प्रभाव और चरित्र आदिका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक धीरे-धीरे या जोरसे, खड़े या बैठे रहकर, वाद्य-नृत्यके सहित अथवा विना वाद्य-नृत्यके उच्चारण करना तथा दिव्य स्तोत्र एवं पदोंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करना, यही उपर्युक्त भक्तिको प्राप्त करनेका प्रकार है। किन्तु ये सब क्रियाएँ नामके दश अपराधोंको बचाते हुए* दम्भरहित एवं शुद्ध भावनासे स्वाभाविक होनी चाहिये।

उपर्युक्त कीर्तनभक्तिको प्राप्त करके सबको भगवान्‌में अनन्य

---

* सन्निन्दासति नामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधी-
रश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदैशिकगिरां नाम्न्यर्थवादभ्रमः।
नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागो हि धर्मान्तरैः
साम्यं नाम्नि जपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश॥

'सत्पुरुषोंकी निन्दा, अश्रद्धालुओंमें नामकी महिमा कहना, विष्णु और शिवमें भेदबुद्धि, वेद, शास्त्र और गुरुकी वाणीमें अविश्वास, हरिनाममें अर्थवादका भ्रम अर्थात् केवल स्तुतिमात्र है ऐसी मान्यता, नामके बलसे विहितका त्याग और निषिद्धका आचरण, अन्य धर्मोंसे नामकी तुलना यानी शास्त्रविहित कर्मोंसे नामकी तुलना—ये सब भगवान् शिव और विष्णुके नामजपमें नामके दश अपराध हैं।'

प्रेम होकर उसकी प्राप्ति हो जाय, इस उद्देश्यसे कीर्तन करना, यह इसका प्रयोजन है।

कीर्तनभक्ति भी ईश्वर एवं महापुरुषोंकी कृपासे ही प्राप्त होती है। इसलिये इस विषयमें उनकी कृपा ही हेतु है। क्योंकि भगवान्‌के भक्तोंके द्वारा भगवान्‌के प्रेम, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी बातोंको सुननेसे एवं शास्त्रोंको पढ़नेसे भगवान्‌में श्रद्धा होती है और तब मनुष्य उपर्युक्त कीर्तन-भक्तिको प्राप्त कर सकता है। अतः भगवान् और उनके भक्तोंकी दया प्राप्त करनेके लिये उनकी आज्ञा-का पालन करना चाहिये।

इस प्रकारकी केवल कीर्तन-भक्तिसे भी मनुष्य परमात्माकी दयासे उसमें अनन्य प्रेम करके उसे प्राप्त कर सकता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम

शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

इतना ही नहीं, इस कीर्तन-भक्तिका प्रचारक तो भगवान्‌को सबसे बढ़कर प्रिय है। भगवान्‌ने गीतामें स्वयं कहा है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(१८। ६८-६९)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीता-शास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा अर्थात् निष्काम भावसे प्रेमपूर्वक मेरे भक्तोंको पढ़ावेगा और अर्थकी व्याख्याद्वारा इसका प्रचार करके उनके हृदयमें धारण करावेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है। मेरा उससे बढ़कर अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है; तथा मेरा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।' यही इस कीर्तन-भक्तिका फल है।

भागवत और रामायण आदि सभी भक्तिके ग्रन्थोंमें भगवान्‌के केवल नाम और गुणोंके कीर्तनसे सब पापोंका नाश एवं भगवत्-प्राप्ति बतलायी है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

ब्रह्महा पितृहा गोघ्नो मातृहाचार्यहाघवान्।
श्वादः पुल्कसको वापि शुद्धयेरन्यस्य कीर्तनात्॥

(६। १३। ८)

'ब्राह्मणघाती, पितृघाती, गोघाती, मातृघाती, गुरुघाती ऐसे पापी तथा चाण्डाल एवं म्लेच्छ जातिवाले भी जिसके कीर्तनसे शुद्ध हो जाते हैं।'

संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥
(श्रीमद्भा० १२।१२।४७)

'जिस तरह सूर्य अन्धकारको, प्रचण्ड वायु बादलको छिन्न-भिन्न कर देता है उसी तरह कीर्तित होनेपर विख्यात प्रभाववाले अनन्त भगवान् मनुष्योंके हृदयमें प्रवेश करके उनके सारे पापोंको निस्सन्देह विध्वंस कर डालते हैं।' एवं—

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन्।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम्॥
(श्रीमद्भा० १।१।१४)

'घोर संसारमें पड़ा हुआ यह मनुष्य जिस परमात्मासे स्वयं भय भी भय खाता है उस परमात्माके नामका विवश होकर भी उच्चारण करनेसे तुरन्त संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः।
कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
(श्रीमद्भा० १२।३।५१)

'हे राजन्! दोषके खजाने कलियुगमें एक ही यह महान्

गुण है कि भगवान् कृष्णके कीर्तनसे ही मनुष्य आसक्तिरहित होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।'

> इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-
> वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि ।
> अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो
> भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ॥
> (श्रीमद्भा० ११ । ३१ । २८)

'इस प्रकार इस भागवतमें अथवा अन्य सब शास्त्रोंमें वर्णित भगवान् कृष्णके सुन्दर अवतारोंके पराक्रमोंको तथा परम मंगलमय बालचरितोंको कहता हुआ मनुष्य परमहंसोंकी गतिस्वरूप भगवान्‌की परा भक्तिको प्राप्त करता है ।'

> अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
> यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
> तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
> ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥
> (श्रीमद्भा० ३ । ३३ । ७)

'अहो ! आश्चर्य है कि जिसकी जिह्वापर तुम्हारा पवित्र नाम रहता है वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है; क्योंकि जो तुम्हारे नामका कीर्तन करते हैं उन श्रेष्ठ पुरुषोंने तप, यज्ञ, तीर्थस्नान और वेदाध्ययन आदि सब कुछ कर लिया ।'

रामचरितमानसमें गोस्वामी तुलसीदासजीने भी नाम-जपकी महिमा कही है—

नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥
कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

महर्षि पतञ्जलि भी कहते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः। (योग० १।२७)

'उस परमात्माका वाचक अर्थात् नाम ओंकार है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योग० १।२८)

'उस परमात्माके नामका जप और उसके अर्थकी भावना अर्थात् स्वरूपका चिन्तन करना।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।
(योग० १।२९)

उपर्युक्त साधनसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है। नारदपुराणमें भी कहा है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
(१।४१।११५)

'कलियुगमें केवल श्रीहरिका नाम ही कल्याणका परम साधन है, इसको छोड़कर दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।' इस तरह शास्त्रोंमें और भी बहुत-से प्रमाण मिलते हैं।

इस कीर्तन-भक्तिसे पूर्वकालमें बहुत-से तर गये हैं। इतिहास और पुराणोंमें एवं रामायणमें बहुत-से उदाहरण भी मिलते हैं।

भगवान्‌के नाम और गुणोंके कीर्तनके प्रतापसे पूर्वकालमें नारद, वाल्मीकि, शुकदेव आदि तथा अर्वाचीन समयमें गौरांग महाप्रभु, तुलसीदास, सूरदास, नानक, तुकाराम, नरसी, मीराबाई आदि अनेक भक्त परमपदको प्राप्त हुए हैं। इनके जीवनका इतिहास विख्यात ही है। परम भक्तोंकी बात तो छोड़ दीजिये, जो महापापी थे वे भी तर गये हैं। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥

अतः जैसे मेघको देखकर पपीहा जलके लिये पी-पी करता है वैसे ही भगवान्‌में परम प्रेम होनेके लिये एवं भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भगवान्‌के नाम और गुणके कीर्तनकी नित्य-निरन्तर तत्पर होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

स्मरण

प्रभुके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका जो श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण तथा पठन किया गया है उनका मनन करना एवं इस प्रकार मनन करते-करते देहकी सुधि भुलाकर भगवान्‌के स्वरूपमें ध्रुवकी भाँति तल्लीन हो जाना, स्मरणभक्तिका स्वरूप है।

जहाँतक हो सके, एकान्त एवं पवित्र स्थानमें सुखपूर्वक स्थिर, सरल आसनसे बैठकर इन्द्रियोंको विषयोंसे रहित करके

कामना और संकल्पको त्याग कर प्रशान्त और वैराग्ययुक्त चित्तसे अथवा चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते सभी काम करते हुए भी स्वाभाविक, शुद्ध और सरलभावसे भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार*-निराकारके तत्त्वको जानकर गुण और

---

* श्रीमद्भागवतमें सगुण-साकारके ध्यान करनेका यह भी एक प्रकार है—

समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम् ।
सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम् ॥
समानकर्णविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम् ।
हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम् ॥
शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम् ।
नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम् ॥
द्युमत्किरीटकटककटिसूत्राङ्गदायुतम् ।
सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम् ॥
सुकुमारमभिध्यायेत्सर्वाङ्गेषु मनो दधत् ।
(११ । १४ । ३८—४२)

'जो सम हैं, प्रशान्त हैं, जिनका मुख सुन्दर है, जिनकी लंबी-लंबी चार सुन्दर भुजाएँ हैं, जिनका कण्ठ अति सुन्दर है, जो सुन्दर कपोलवाले हैं, जिनका मुसकान उज्ज्वल है, जो कानोंमें देदीप्यमान मकराकृत कुण्डलों-को धारण किये हुए हैं, जिनका वर्ण मेघके समान श्याम है, जो पीताम्बरधारी हैं, जिनके हृदयमें श्रीवत्स एवं लक्ष्मीका चिह्न है, जो शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म एवं वनमालासे विभूषित हैं, जिनके चरण नूपुरोंसे सुशो-भित हैं, जो कौस्तुभमणिकी कान्तिसे युक्त हैं, जो कान्तिवाले किरीट, कड़े, मेखला और भुजबन्धों (बाजूबन्द) से युक्त हैं, जिनके सम्पूर्ण अङ्ग सुन्दर हैं, जो मनोहर हैं, जो कृपायुक्त मुख-नेत्रवाले हैं, ऐसे सुकुमार भगवान्‌के अङ्गोंमें मनको लगाकर सम्यक् प्रकारसे ध्यान करे ।'

प्रभावसहित भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करना, भगवान्‌के नामका मनसे स्मरण करना, भगवान्‌की लीलाओंका स्मरण करके मुग्ध होना, भगवान्‌के तत्त्व और रहस्य जाननेके लिये उनके गुण, प्रभावका चिन्तन करना तथा दिव्य स्तोत्र और पदोंसे मनके द्वारा स्तुति और प्रार्थना करना, इस तरह स्मरणके बहुत-से प्रकार शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं ।

प्रभुमें अनन्य प्रेम होकर उसकी प्राप्ति होना इसका उद्देश्य है ।

प्रेमी भक्तोंके द्वारा नाम, रूप, गुण, प्रभाव आदिकी अमृतमयी कथाओंका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण करना, भगवद्विषयक धार्मिक पुस्तकोंका पठन-पाठन करना, भगवान्‌के नामका जप और कीर्तन करना, भगवान्‌के पद एवं स्तोत्रोंके द्वारा अथवा किसी भी प्रकारसे ध्यानके लिये करुणाभावसे स्तुति-प्रार्थना करना तथा भगवान् और महापुरुषोंकी आज्ञाका पालन करना आदि उपर्युक्त स्मरण-भक्तिको प्राप्त करनेके उपाय हैं ।

ऊपर बतलायी हुई केवल स्मरण-भक्तिसे भी सारे पाप, विघ्न, अवगुण और दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है । भगवत्-स्मरणके द्वारा मनुष्य जो कुछ भी चाहे प्राप्त कर सकता है । भगवत्-प्राप्तिरूप परमशान्तिकी प्राप्ति भी इससे अति शीघ्र एवं सुगमतासे हो जाती है । श्रुति-स्मृति, इतिहास, पुराण, संत-महात्मा सबने एक स्वरसे भगवत्-स्मरण (ध्यान) की बड़ी महिमा गायी है । कठोपनिषद्‌में कहा है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
(१ । २ । १६)

'यह ओंकार अक्षर ही ब्रह्म है, यही परब्रह्म है, इसी ओंकार-रूप अक्षरको जानकर (उपासना करके) जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिलती है ।'

सन्ध्योपासनविधिके आदिमें लिखा है—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥

'अपवित्र हो, पवित्र हो, किसी भी अवस्थामें क्यों न हो, जो पुरुष भगवान् पुण्डरीकाक्षका स्मरण करता है वह बाहर और भीतरसे शुद्ध हो जाता है ।' श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(६ । ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता ।'

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥

(गीता ८ । ७-८)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा । हे पार्थ ! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त दूसरी ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरुष परम प्रकाशस्वरूप दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है ।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है उस नित्य निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९ । २२)

'जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन

करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ ।'

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

(गीता १२ । ६–८)

'परन्तु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्तको लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ । इसलिये हे अर्जुन ! तू मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा अर्थात् मेरेको ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।'

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

(गीता १८ । ५७-५८)

'हे अर्जुन ! तू सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समत्वबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर

मुझमें चित्तवाला हो। उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें चित्तवाला होकर मेरी कृपासे समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा।'

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुड्यायां तमनुस्मरन्।
संरम्भभययोगेन विन्दते तत्सरूपताम्॥
एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे।
वैरेण पूतपाप्मानस्तमीयुरनुचिन्तया॥
कामाद्द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥

(७।१।२७–२९)

'जैसे दीवालपर भँवरेके द्वारा रुद्ध किया हुआ कीड़ा भँवरेके क्रोधके भयसे उसका स्मरण करता हुआ उसके (भँवरेके) समान ही हो जाता है वैसे ही मायासे मनुष्यरूप धारण करनेवाले परमेश्वर श्रीकृष्ण भगवान्‌का वैरभावसे भी बारंबार चिन्तन करते हुए बहुत लोग निष्पाप होकर उनको प्राप्त हो गये। इसी तरह काम, द्वेष, भय, स्नेह तथा भक्तिसे ईश्वरमें मन लगाकर बहुत-से साधक पापरहित होकर परमपदको प्राप्त हो चुके हैं।'

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्
नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो-
राविष्टचेता न भवाय कल्पते॥

(श्रीमद्भा० १०।२।३७)

'जो पुरुष सम्पूर्ण क्रियाओंको करते समय आपके मंगलमय रूप तथा नामोंका श्रवण, कथन, स्मरण एवं चिन्तन करता हुआ आपके चरणारविन्दोंमें ध्यान रखता है, वह फिर संसारमें नहीं आता।'

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।२७)

'विषय-चिन्तन करनेवालेका मन विषयोंमें आसक्त होता है और मेरा बार-बार स्मरण करनेवालेका मन मुझमें ही लीन हो जाता है।'

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥

(श्रीमद्भा० १२।१२।५४)

'श्रीकृष्णचन्द्र महाराजके चरणकमलोंकी स्मृति सब पापोंका नाश करती है तथा अन्तःकरणकी शुद्धि, परमात्मामें भक्ति, विज्ञान-विराग-सहित ज्ञान एवं शान्तिका विस्तार करती है।'

श्रीविष्णुसहस्रनामके आदिमें कहा है—

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे॥

'जिसके स्मरणमात्रसे मनुष्य जन्मरूपी संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है, संसारको उत्पन्न करनेवाले उस विष्णुके लिये नमस्कार है।'

श्रीतुलसीकृत रामायणमें सुतीक्ष्णकी स्मरण-भक्ति सराहनीय है। सुतीक्ष्ण भगवान्‌के प्रेममें मग्न होकर मन-ही-मन भगवान्‌का स्मरण करता हुआ कहता है—

सो परम प्रिय अति पातकी जिन्ह कबहुँ प्रभु सुमिरन करयौं।
ते आजु मैं निज नयन देखौं पूरि पुलकित हिय भरयौं॥
जे पदसरोज अनेक मुनि करि ध्यान कबहुँक पावहीं।
ते राम श्रीरघुवंशमणि प्रभु प्रेमतें सुख पावहीं॥

आगे जाकर भगवान्‌के ध्यानमें ऐसा मस्त हो गया कि उसे अपने तन-मनकी सुधि भी न रही।

मुनि मग माझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥

इतना ही नहीं, भगवान्‌के दर्शन होनेपर भी यही वर माँगा कि हे नाथ! मेरे हृदयमें आप निरन्तर वास करो।

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥

इससे यही सिद्ध होता है कि सुतीक्ष्णको भगवान्‌का ध्यान बहुत ही प्रिय था। इसी प्रकार स्मरण करनेवाले भक्तोंके शास्त्रोंमें बहुत-से नाम आते हैं किन्तु सबका चरित्र न देकर केवल कतिपय भक्तोंके नाममात्र दे दिये जाते हैं। जैसे सनकादि, ध्रुव, भीष्म, कुन्ती आदि स्मरण-भक्तिसे ही परमपदको प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त नीच जातिवाली भिलनी एवं जटायु पक्षीको भी भगवत्-स्मरणसे परमगति मिली।

गुण, प्रभाव एवं प्रेमसहित भगवान्‌के स्वरूपके ध्यानके समान इस संसारमें शीघ्र उद्धार करनेवाला और कोई भी साधन नहीं है। प्रायः सारे साधनोंका फल भगवत्-स्मरण है। इसलिये अपना सारा जीवन उपर्युक्त प्रकारसे भगवत्-चिन्तनमें बितानेकी कटिबद्ध होकर चेष्टा करनी चाहिये। श्रीकबीरदासजीने भी कहा है—

सुमिरनसों मन लाइये, जैसे दीप पतंग।
प्रान तजे छिन एकमें, जरत न मोड़ै अंग॥
सुमिरनसों मन लाइये, जैसे कीट भिरंग।
कबीर बिसारे आपको, होय जाय तेहि रंग॥

इसलिये भगवत्-प्राप्तिकी इच्छावाले साधक पुरुषको उचित है कि सब कार्य करते हुए भी जैसे कछुआ अण्डोंका, गऊ बछड़ेका, कामी स्त्रीका, लोभी धनका, नटी अपने चरणोंका, मोटर चलानेवाला सड़कका ध्यान रखता है, वैसे ही परमात्माका ध्यान रक्खे।

पाद-सेवन

सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम्।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्॥
यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्॥

(श्रीमद्भा० ३। २८। २१-२२)

'जो वज्र, अङ्कुश, ध्वजा एवं कमल आदि चिह्नोंसे युक्त हैं, जिनके शोभायुक्त, रक्तवर्ण, उन्नत नखमण्डलकी प्रभा भक्तोंके हृदयके महान् अन्धकारको पूर्णतः नष्ट कर देती है, श्रीभगवान्के उन चरणकमलोंका बड़े प्रेमसे चिन्तन करना चाहिये।'

'जिनके चरणोंके प्रक्षालनजलसे निकली हुई गङ्गाजीके पवित्र जलको सिरपर धारण करके शिवने शिवत्व प्राप्त किया है और जो ध्यान करनेवाले पुरुषोंके अन्तःकरणमें रहनेवाले पापरूप पहाड़ोंके लिये इन्द्रद्वारा छोड़े हुए वज्रके समान हैं अर्थात् जिनके ध्यानसे पापराशि नष्ट हो जाती है, भगवान्के उन चरणकमलोंका चिरकालतक चिन्तन करना चाहिये।'

श्रीभगवान्के दिव्य मङ्गलमय स्वरूपकी धातु आदिकी मूर्त्ति, चित्रपट अथवा मानस-मूर्त्तिके मनोहर चरणोंका श्रद्धापूर्वक दर्शन, चिन्तन, पूजन और सेवन करते-करते भगवत्प्रेममें तन्मय हो जाना ही 'पाद-सेवन' कहलाता है।

बार-बार अतृप्त नयनोंसे भगवान्के चरणारविन्दका दर्शन करना, हाथोंसे भगवच्चरणोंका पूजन और सेवन करना तथा चरणोदक लेना, मनसे भगवच्चरणोंका चिन्तन-पूजन-सेवन करना, भगवान्की चरणपादुकाओंका हाथोंसे पूजन और मनसे चिन्तन, सेवन तथा पूजन करना, भगवान्की चरणरजको मनसे मस्तकपर धारण करना, हृदयसे लगाना, भगवान्के चरणोंसे स्पर्श किये हुए शय्यासन आदिको तीर्थसे बढ़कर समझ उनका समादर करना, अयोध्या, चित्रकूट, वृन्दावन, मथुरा आदि स्थानोंको, जहाँ-जहाँ भगवान्का अवतार या

प्राकट्य हुआ है, या जहाँ-जहाँ भगवान्के चरण टिके हैं, परम तीर्थ समझकर—वहाँकी धूलिको भगवान्की चरणधूलि मानकर मस्तकपर धारण करना, जिस वस्तुको भगवान्का चरणस्पर्श प्राप्त हुआ है, उस वस्तुका हृदयसे आदर करना और उसे मस्तकपर धारण करना तथा श्रीगङ्गाजीके जलको भगवान्का चरणोदक समझकर प्रणाम-पूजन, स्नान-पानादिके द्वारा उसका सेवन करना आदि सभी 'पाद-सेवन' भक्तिके ही विभिन्न प्रकार हैं।

ममता, अहङ्कार और अभिमान आदिका नाश होकर प्रभुके चरणोंमें अनन्य प्रेमकी प्राप्ति होनेके उद्देश्यसे पाद-सेवन भक्ति की जाती है।

भगवान्के अनन्य भक्तोंका सङ्ग करनेसे भगवान्की चरण-सेवाका तत्त्व, रहस्य और प्रभाव सुननेको मिलता है, उससे श्रद्धा होकर तब यह भक्ति प्राप्त होती है।

केवल इस पादसेवन भक्तिसे भी मनुष्यके सम्पूर्ण दुराचार, दुर्गुण और दुःख सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और भगवान्में सहज ही अतिशय श्रद्धा और प्रेम होकर उसे आत्यन्तिकी परमा शान्तिकी प्राप्ति होती है। उसके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता।

शास्त्र और महात्माओंने पाद-सेवन भक्तिकी बड़ी महिमा गायी है। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि भगवान्की चरणकमलरूपी नौका ही संसार-सागरसे पार उतारनेवाली है—

अपारसंसारसमुद्रमध्ये
सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति।

गुरो कृपालो कृपया वदैतद्
विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका ॥

शिष्य—'हे कृपालु गुरुदेव ! आप कृपा करके यह बतावें कि इस अपार संसाररूपी समुद्रमें मुझ डूबते हुएके लिये सहारा क्या है ?' गुरु—'भगवान् विश्वेश्वरके चरण-कमलरूप जहाज ही एकमात्र सहारा है ।'

भगवान्‌के चरणोदकका पान करनेसे और उसे मस्तकपर धारण करनेसे भी कल्याण होता है । भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका चरणामृत पीकर उन्हें नौकासे उस पार ले जाते समयके प्रसङ्गमें केवटकी महिमा गाते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार ।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार ॥

नित्य-निरन्तर प्रभुके चरणोंका दर्शन और सेवन करके पल-पलमें किस प्रकार आनन्दित होना चाहिये, इसका आदर्श श्रीसीताजी हैं । वनगमनके समय आप भगवान्‌से कहती हैं—

छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी ।
रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी ॥
मोहि मग चलत न होइहि हारी ।
छिनु छिनु चरन सरोज निहारी ॥
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं ।
करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं ॥

सम महि तृन तरुपल्लव डासी।
पाय पलोटिहि सब निसि दासी॥

भगवान् श्रीरामके चरणचिह्न, चरणरज और चरणपादुकाके दर्शन तथा सेवनसे भरतजीको कितना आनन्द प्राप्त होता है और उनकी कैसी प्रेमतन्मय दशा हो जाती है। भगवान् शिवके शब्दोंमें सुनिये—

स तत्र वज्राङ्कुशवारिजाञ्चित-
ध्वजादिचिह्नानि पदानि सर्वतः।
ददर्श रामस्य भुवोऽतिमङ्गला-
न्यचेष्टयत्पादरजःसु सानुजः॥
अहो सुधन्योऽहममूनि राम-
पादारविन्दाङ्कितभूतलानि।
पश्यामि यत्पादरजो विमृग्यं
ब्रह्मादिदेवैः श्रुतिभिश्च नित्यम्॥

(अध्यात्मरामायण २। ९। २-३)

'वहाँ उन्होंने सब ओर श्रीरामचन्द्रके वज्र, अङ्कुश, कमल और ध्वजा आदिके चिह्नोंसे सुशोभित तथा पृथ्वीके लिये अति मंगलमय चरणचिह्न देखे, उन्हें देखकर भाई शत्रुघ्नके साथ वे उस चरणरजमें लोटने लगे और मन-ही-मन कहने लगे—अहो! मैं परम धन्य हूँ जो आज भगवान् श्रीरामजीके उन चरणारविन्दोंके चिह्नोंसे विभूषित भूमिको देख रहा हूँ, जिनकी चरणरजको ब्रह्मादि देवता और श्रुतियाँ भी सदा खोजती रहती हैं।'

गोसाईं श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं।
रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥
नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राजकाज बहु भाँति॥

अहल्या भगवान्‌के चरणरजको पाकर कृतार्थ हो जाती है और कहती है—

अहो कृतार्थास्मि जगन्निवास ते
पादाब्जसंलग्नरजःकणादहम्।
स्पृशामि यत्पद्मजशङ्करादिभि-
र्विमृग्यते रन्धितमानसैः सदा॥
(अ० रा० १। ५। ४३)

'हे जगन्निवास ! आपके चरणकमलोंमें लगे हुए रजःकणोंका स्पर्श पाकर आज मैं कृतार्थ हो गयी। अहो ! आपके जिन चरणारविन्दोंका ब्रह्मा, शङ्कर आदि सदा चित्त लगाकर अनुसन्धान किया करते हैं, आज मैं उन्हींका स्पर्श कर रही हूँ।'

भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेनेसे मनुष्यके सब दोषोंका नाश हो जाता है, उसकी सारी विपत्तियाँ टल जाती हैं और वह गोपदके समान संसार-सागरसे तर जाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।

तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥
(३।९।६)

'हे प्रभो ! जबतक लोग तुम्हारे अभय चरणकमलोंका सच्चे हृदयसे आश्रय नहीं लेते, तभीतक धन, घर, मित्र आदिके निमित्तसे भय, शोक, स्पृहा, पराजय एवं महान् लोभ ये सब होते हैं और तभीतक सम्पूर्ण दुःखोंका मूल यह 'मेरा है' ऐसी झूठी धारणा रहती है। अर्थात् भगवान्‌की चरण-शरणमें आनेपर यह सब नष्ट हो जाते हैं।'

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः ।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं
पदं पदं यद्विपदां न तेषाम् ॥
(श्रीमद्भा० १०।१४।५८)

'जिन्होंने संतोंके आश्रयणीय, पवित्र यशवाले भगवान्‌के पदपल्लवरूपी जहाजका आश्रय लिया है, उनके लिये संसारसागर, बछड़ेका पैर टिके, इतना-सा हो जाता है, उन्हें पद-पदमें परम-पद प्राप्त है, इसलिये कभी भी उन्हें विपत्तियोंके दर्शन नहीं होते।'

त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि
समाधिनावेशितचेतसैके ।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन
कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् ॥
(श्रीमद्भा० १०।२।३०)

'हे कमलनयन ! कई संतलोग सम्पूर्ण सत्त्वके धाम तुममें समाधिके द्वारा अपना चित्त तल्लीन करके महात्माओंके द्वारा अनुभूत तुम्हारे चरणकमलोंका जहाज बनाकर संसार-सागरको गोवत्सपदके समान पार कर जाते हैं।'

भगवान्‌के चरणरजके शरण हुए प्रेमी भक्त तो स्वर्गादिकी तो बात ही क्या, मोक्षतकका तिरस्कार कर चरणरजके सेवनमें ही संलग्न रहना चाहते हैं। नागपत्नियाँ कहती हैं—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ३७)

'आपकी चरणधूलिकी शरण ग्रहण करनेवाले भक्तजन न स्वर्ग चाहते हैं, न चक्रवर्तिता, न ब्रह्माका पद, न सारी पृथ्वीका स्वामित्व और न योगसिद्धियाँ ही; अधिक क्या, वे मोक्षपदकी भी वाञ्छा नहीं करते।'

भगवान्‌की केवल पाद-सेवन-भक्तिसे ही भगवान्‌के अनन्य प्रेमको प्राप्त करनेवाले अनेकों भक्तोंका शास्त्रोंमें वर्णन आता है। अतएव भगवान्‌के पवित्र चरणोंमें श्रद्धापूर्वक मन लगाकर उनका नित्य सेवन करना चाहिये।

अर्चन

श्रीविष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि।
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम्॥

(विष्णुरहस्य)

'जो लोग इस संसारमें श्रीभगवान्‌की अर्चा-पूजा करते हैं वे श्रीभगवान्‌के अविनाशी आनन्दस्वरूप परमपदको प्राप्त होते हैं।'

भगवान्‌के भक्तोंसे सुने हुए, शास्त्रोंमें पढ़े हुए, धातु आदिसे बनी मूर्ति या चित्रपटके रूपमें देखे हुए अपने मनको रुचनेवाले किसी भी भगवान्‌के स्वरूपका बाह्य सामग्रियोंसे, भगवान्‌के किसी भी अपने अभिलषित स्वरूपकी मानसिक मूर्ति बनाकर मानसिक सामग्रियोंसे अथवा सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माको स्थित समझकर सबका आदर-सत्कार करते हुए यथायोग्य नानाविध उपचारोंसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनका सेवन-पूजन करना और उनके तत्त्व, रहस्य तथा प्रभावको समझ-समझकर प्रेममें मुग्ध होना अर्चन-भक्ति है।

पत्र, पुष्प, चन्दन आदि सात्त्विक, पवित्र और न्यायोपार्जित द्रव्योंसे भगवान्‌की प्रतिमाका श्रद्धापूर्वक पूजन करना, भगवान्‌की प्रीतिके लिये शास्त्रोक्त यज्ञादि करना, सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर अपने वर्णाश्रमके अनुसार उनकी यथायोग्य सेवा करना तथा सत्कार, मान, पूजा आदिसे सन्तुष्ट करना और दुखी, अनाथ, अपंग, पीड़ित प्राणियोंमें—भूखोंकी अन्नसे, प्यासोंकी जलसे, वस्त्रहीनोंकी वस्त्रादिसे, रोगियोंकी औषधादिसे, अनाथोंकी आश्रय-दानसे यथावश्यक यथाशक्ति श्रद्धा और सत्कारपूर्वक सबको भगवत्स्वरूप समझकर भगवत्प्रीतिके लिये सेवा करना आदि सभी भगवान्‌की बाह्य पूजाके प्रकार हैं।

शास्त्रोंमें वर्णन किये हुए, अपने चित्तको अनायास ही आकर्षित करनेवाले भगवान्‌के किसी भी अलौकिक रूपलावण्ययुक्त,

अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यमय परम तेजोमण्डित स्वरूपका प्रत्येक अवयव वस्त्राभूषण, आयुधादिसे युक्त और हस्तपदादिके मङ्गल-चिह्नोंसहित मनके द्वारा चिन्तन करके आह्लादपूर्वक मनमें उसका आवाहन, स्थापन और नानाविध मानसिक सामग्रियोंके द्वारा अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ पूजन करना मानस-पूजाका प्रकार है।

भगवान्‌में अनन्य प्रेम होकर सबको उसकी प्राप्ति हो जाय इस उद्देश्यसे परम श्रद्धापूर्वक स्वयं आचरण करना या करवाना इसका प्रयोजन है।

अर्चन-भक्तिका स्वरूप और तत्त्व जाननेके लिये भगवान्‌के परम प्रेमी भक्तोंका संग और सेवन करना चाहिये।

उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌की पूजा करनेसे मनुष्य जो कुछ चाहता है, वही उसे मिल जाता है और सहज ही उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम्।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्॥
(१०।८१।१९)

'श्रीभगवान्‌के चरणोंका अर्चन-पूजन करना जीवोंके स्वर्ग और मोक्षका एवं मर्त्यलोक और पाताललोकमें रहनेवाली समस्त सम्पत्तियोंका और सम्पूर्ण सिद्धियोंका भी मूल है।'

अपने-अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजासे भगवत्प्राप्ति

होती है, इस बातकी घोषणा स्वयं भगवान्‌ने गीतामें की है--

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

इतना ही नहीं, परम श्रद्धा और प्रेमके साथ भगवान्‌की पूजा की जाय तो वे स्वयं अपने दिव्य मङ्गल-विग्रह-स्वरूपमें प्रकट होकर भक्तके अर्पण किये हुए पदार्थोंको खाते हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(९।२६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये पत्र, पुष्प, फल, जल आदि प्रेमसे अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

राजा पृथु, अम्बरीष आदि बहुतोंने विधिपूर्वक नाना उपचारोंसे और मन, इन्द्रियोंसे भगवान्‌की पूजा की और वे अनायास ही भगवान्‌को प्राप्त हो गये। इनकी तो बात ही क्या, नाना उपचारोंके विना भी भक्तिपूर्वक पूजा करनेवाले सुदामाने

केवल चावलोंकी कनियोंसे, गजेन्द्रने एक पुष्पसे, द्रौपदीने शाक-पत्रसे भगवान्‌को पूजकर परम सिद्धि प्राप्त की। शबरी-जैसी हीन जातिकी स्त्री भी केवल बेरोंसे ही भगवान्‌को सन्तुष्टकर परमपदको प्राप्त हो गयी।

अतएव भगवान्‌के प्रेममें विह्वल होकर श्रद्धापूर्वक अपनी-अपनी रुचि और भावनाके अनुसार भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये।

वन्दन

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥
(श्रीमद्भा० ११। ५। ३३)

'हे पुरुषोत्तम! हे प्रभो! जो सर्वदा ध्यान करनेयोग्य हैं, तिरस्कारको नष्ट करनेवाले हैं, समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले हैं, जो तीर्थोंके आधार हैं, जिन्हें शिव और ब्रह्मा सिरसे नमस्कार करते हैं और जो शरणागतोंकी रक्षा करनेमें प्रवीण हैं, जो सेवकोंकी विपत्तिके नाशक हैं, नमस्कार करनेवालोंके रक्षक एवं संसार-सागरके जहाज हैं, तुम्हारे उन चरण-कमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ।'

भगवान्‌के शास्त्रवर्णित स्वरूप, भगवान्‌के नाम, भगवान्‌की धातु आदिकी मूर्ति, चित्र अथवा मानसिक मूर्तिको शरीर अथवा

मनसे श्रद्धासहित साष्टाङ्ग प्रणाम करना या समस्त चराचर भूतोंको परमात्माका स्वरूप समझकर श्रद्धापूर्वक शरीर या मनसे प्रणाम करना और ऐसा करते हुए भगवत्प्रेममें मुग्ध होना वन्दन-भक्ति है ।

भगवान्‌के मन्दिरोंमें जाकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌की मूर्तिको साष्टाङ्ग प्रणाम करना, अपने-अपने घरोंमें भगवान्‌की प्रतिमा या चित्रपटको, भगवान्‌के नामको, भगवान्‌के चरण और चरणपादुकाओंको, भगवान्‌के तत्त्व, रहस्य, प्रेम, प्रभाव और भगवान्‌की मधुर लीलाओंका जिनमें वर्णन हो, ऐसे सत् शास्त्रोंको और सम्पूर्ण चराचर जीवोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर या उनके हृदयमें भगवान्‌को स्थित समझकर नियमपूर्वक श्रद्धा-भक्ति-सहित गद्‌गदभावसे प्रणाम करना वन्दन-भक्तिके प्रकार हैं । श्री-मद्भागवतमें योगीश्वर कवि कहते हैं—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥
(११ । २ । ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, दिशाएँ और वृक्षलता आदि एवं नदियाँ, समुद्र और सम्पूर्ण भूतप्राणी भगवान्‌के शरीर हैं; अतः भगवान्‌का अनन्यभक्त यावन्मात्र जगत्‌को भगव-द्भावसे प्रणाम करे ।'

भगवान्‌को सर्वत्र और सब ओर समझकर उन्हें किस प्रकार प्रणाम करना चाहिये, इसके लिये अर्जुनका उदाहरण बड़ा सुन्दर है। अर्जुन भगवान्‌को नमस्कार करते हुए कहते हैं—

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥

(गीता ११। ४०)

'हे अनन्त सामर्थ्यवाले! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार, हे सर्वात्मन्! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार हो; क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं।'

श्रीतुलसीदासजी महाराज समस्त जगत्‌को 'सीयराममय' देखकर प्रणाम करते हैं—

सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

भगवान्‌में अनन्य प्रेम होकर भगवान्‌को प्राप्त करना इस भक्तिका उद्देश्य है। भगवान्‌के प्यारे प्रेमी भक्तोंका संग और सेवन करके उनके द्वारा भगवान्‌की वन्दन-भक्तिका रहस्य, प्रभाव और तत्त्व समझनेसे इस वन्दन-भक्तिकी प्राप्ति होती है।

भगवान्‌के रहस्यको समझकर उन्हें प्रणाम करनेवाला सब दुःखोंसे छूट जाता है। अनुस्मृतिके वचन हैं—

न वासुदेवात्परमस्ति मङ्गलं
न वासुदेवात्परमस्ति पावनम् ।
न वासुदेवात्परमस्ति दैवतं
तं वासुदेवं प्रणमन्न सीदति ॥१०१॥

'भगवान् वासुदेवसे अधिक और कुछ मङ्गलमय नहीं है। वासुदेवसे अधिक और कुछ पावन नहीं है, एवं वासुदेवसे श्रेष्ठ और कोई आराध्य देवता नहीं है, उन वासुदेवको नमस्कार करनेवाला कभी दुखी नहीं होता।'

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥
(भीष्मस्तवराज ९१)

'भगवान् श्रीकृष्णको किया हुआ एक भी प्रणाम दस अश्वमेधयज्ञोंके अवभृथस्नानके बराबर है, (इतना ही नहीं, विशेषता यह है कि) दस अश्वमेध करनेवालेको तो फिर जन्म लेना पड़ता है, किन्तु भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवालेको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता।'

श्रद्धापूर्वक भगवान्‌को प्रणाम करनेवालेकी तो बात ही क्या है, किसी भी अवस्थामें भगवान्‌को प्रणाम करनेसे भी सब पापोंका नाश हो जाता है—

पतितः स्खलितश्चार्त्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन् ।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ॥

(श्रीमद्भा० १२ । १२ । ४६)

'पतित, स्खलित, आर्त्त, छींकता हुआ अथवा किसी प्रकारसे परवश हुआ पुरुष भी यदि ऊँचे स्वरसे 'हरये नमः' इस प्रकार बोल उठता है तो वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ।'

भगवान्‌के अनेकों भक्त इस प्रकार केवल नमस्कार करके ही परमपदको प्राप्त हो गये । देखिये, अक्रूरजी किस प्रकार मुग्ध होकर नमस्कार करते हैं—

रथात्तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरः स्नेहविह्वलः ।
पपात चरणोपान्ते दण्डवद्रामकृष्णयोः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३८ । ३४)

'अक्रूर प्रेमविह्वल होकर बड़ी शीघ्रताके साथ रथसे कूदकर भगवान् बलराम और श्रीकृष्णके चरणोंके पास दण्डवत् गिर पड़े ।'

पितामह भीष्म गद्गद होकर भगवान्‌को नमस्कार करते हैं और भगवान् तत्काल ही उन्हें अपना दिव्य ज्ञान दे देते हैं । वैशम्पायन मुनि कहते हैं—

एतावदुक्त्वा वचनं भीष्मस्तद्गतमानसः ।
नम इत्येव कृष्णाय प्रणाममकरोत्तदा ॥
अभिगम्य तु योगेन भक्तिं भीष्मस्य माधवः ।
त्रैलोक्यदर्शनं ज्ञानं दिव्यं दत्त्वा ययौ हरिः ॥

(भीष्मस्तवराज १००-१०१)

'जिनका मन भगवान्‌में तन्मय हो चुका है ऐसे भीष्मने अनेक प्रकारसे भगवान्‌की स्तुति करनेके बाद 'नमः कृष्णाय' इतना कहकर भगवान्‌को प्रणाम किया, तब भगवान् श्रीकृष्ण योगशक्तिद्वारा भीष्मकी भक्तिको समझकर उसे त्रिलोकीको (भगवत्स्वरूपसे) प्रत्यक्ष करनेवाला दिव्य ज्ञान देकर चले गये।'

अतएव श्रीभगवान्‌के प्रेममें विभोर होकर उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌की वन्दन-भक्ति करनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

दास्य

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

भगवान्‌के गुण, तत्त्व, रहस्य और प्रभावको जानकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना दास्य-भक्ति है।

मन्दिरोंमें भगवान्‌के विग्रहोंकी सेवा करना, मन्दिरमार्जनादि करना, मनसे प्रभुके स्वरूपका ध्यान करके उनकी सेवा करना, सम्पूर्ण चराचरको प्रभुका स्वरूप समझकर सबकी यथाशक्ति, यथायोग्य सेवा करना, गीता आदि शास्त्रोंको भगवान्‌की आज्ञा मानकर उसके अनुसार आचरण करना, और जो कर्म भगवान्‌की रुचि, प्रसन्नता और इच्छाके अनुकूल हों उन्हीं कर्मोंको करना, ये सभी दास्य-भक्तिके प्रकार हैं।

भगवान्‌के रहस्यको जाननेवाले प्रेमी भक्तोंके सङ्ग और सेवनसे दास्य-भक्तिकी प्राप्ति होती है।

भगवान्‌में अनन्य प्रेमकी प्राप्ति और नित्य-निरन्तर सेवाके लिये भगवान्‌के समीप रहनेके उद्देश्यसे दास्य-भक्ति की जाती है।

केवल इस दास्य-भक्तिसे भी मनुष्यको सहज ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

गोस्वामी तुलसीदासजी तो कहते हैं कि दास्यभावके विना भवसागरसे उद्धार ही नहीं हो सकता—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

श्रीलक्ष्मण, हनुमान्, अङ्गद आदि इस दास्य-भक्तिके आदर्श उदाहरण हैं। भगवान् श्रीरामके वन जाते समय लक्ष्मणजीकी दशा-का वर्णन करते हुए गोसाईंजी कहते हैं—

उतरु न आवत प्रेम बस गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ॥

माता सुमित्राने लक्ष्मणको रामके साथ जाकर उनकी सेवा करनेका कैसा सुन्दर उपदेश दिया है—

रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥
जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥

श्रीहनुमान्‌जीका तो सारा जीवन ही दास्य-भक्तिसे ओतप्रोत है। प्रथम ही ऋष्यमूक पर्वतपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको पहचान-कर हनुमान्‌जी कहते हैं—

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥

जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें। सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें॥
नाथ जीव तव मायाँ मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा॥
सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

भगवान् भी अपनी सेवक-वत्सलताका परिचय देते हुए हनुमान्‌को उठाकर हृदयसे लगा लेते हैं और प्रेमाश्रुओंसे उनके अङ्गोंका सिञ्चन करते हुए कहते हैं—

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥
समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥

दास्य-भक्तिका भक्त अपने स्वामीकी कृपाका कितना विश्वासी होता है, इसके सम्बन्धमें हनुमान्‌जीने विभीषणसे जो कुछ कहा है वह स्मरण रखनेयोग्य है—

सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥
कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥

अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥

अंगदजीको जब भगवान् श्रीराम अयोध्यासे लौट जानेको कहते हैं तब अंगदजी भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं—

मोरें तुम्ह प्रभु गुर पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता॥
तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा। प्रभु तजि भवन काज मम काहा॥

बालक ग्यान बुद्धि बल हीना। राखहु सरन नाथ जन दीना ॥
नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ। पद पंकज बिलोकि भव तरिहउँ॥

ऐसे अनेकों उदाहरण हैं, अतएव सबको चाहिये कि भगवान्‌के प्रेम-विह्वल होकर तन-मन-धन सब कुछ अर्पण करके भगवान्‌की दास्य-भक्ति करें ।

सख्य

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३२)

'उन नन्दगोपके व्रजमें रहनेवाले लोगोंका भाग्य धन्य है ! धन्य है ! जिनका मित्र परमानन्द परिपूर्ण सनातन ब्रह्म है ।'

भगवान्‌के प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और महिमाको समझकर परम विश्वासपूर्वक मित्रभावसे उनकी रुचिके अनुसार बन जाना, उनमें अनन्य प्रेम करना और उनके गुण, रूप और लीलापर मुग्ध होकर नित्य-निरन्तर प्रसन्न रहना सख्य-भक्ति है ।

अपने आवश्यक-से-आवश्यक कामको छोड़कर प्यारे प्रेमीके कामको आदरपूर्वक करना, प्यारे प्रेमीके कामके सामने अपने कामको तुच्छ समझकर उससे लापरवाह हो जाना, प्यारे प्रेमीके लिये महान् परिश्रम करनेपर भी उसे अल्प ही समझना, प्यारा जिस बातसे प्रसन्न होता हो उसी बातको लक्ष्यमें रखकर हर समय उसीके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करना, वह जो कुछ भी करे

उसीमें सदा सन्तुष्ट रहना, अपनी कोई भी वस्तु किसी भी प्रकार-से प्रेमीके काम आ जाय तो परम प्रसन्न होना, अपने शरीरपर और अपनी वस्तुपर जैसी अपनी आत्मीयता और अधिकार है वैसा ही अपने प्यारे प्रेमीका समझे और इसी प्रकार उसकी वस्तु और शरीरपर अपना अधिकार और आत्मीयता माने, अपने धन, जीवन और देहादि प्यारे प्रेमीके काममें लग सकें तो उनको सफल समझना, उसके साथ रहनेकी निरन्तर इच्छा रखना, उसके दर्शन, भाषण, चिन्तन और स्पर्शसे प्रेममें निमग्न हो जाना, उसके नाम, रूप, गुण और चरित्रोंको सुनकर, कहकर, पढ़कर और यादकर अत्यन्त प्रसन्न होना, किसीके द्वारा मित्रका सन्देश पाकर परम प्रसन्न होना और उसके वियोगमें व्याकुल होना तथा प्रतिक्षण उससे मिलनेकी आशा और प्रतीक्षा करते रहना आदि सखाभावके प्रकार हैं।

प्यारे प्रेमीको परम सुख हो, उसमें अपना सख्य-प्रेम पूर्ण-रूपसे बढ़ जाय और उससे अपना कभी वियोग न हो इसी उद्देश्यसे सख्य-भक्ति की जाती है।

सख्य-भक्तिकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌के प्रेमी सखाओंका सङ्ग, सेवन, उनके जीवनचरित्रोंका अध्ययन और उनके तथा भगवान्‌के गुण, लीला और प्रभावका उनके प्रेमी भक्तोंद्वारा श्रवण करना चाहिये।

इस प्रकारकी केवल सख्य-भक्तिसे भी मनुष्यके दुःख और दोषोंका अत्यन्त अभाव होकर भगवान्‌की प्राप्ति और भगवान्‌में

परम प्रेम हो जाता है। यहाँतक कि भगवान् उस प्रेमी भक्तके अधीन हो जाते हैं और फिर उसके आनन्द और शान्तिका पार नहीं रहता।

मित्रका मित्रके प्रति क्या कर्तव्य होना चाहिये, इस विषयपर भगवान् श्रीराम सखा सुग्रीवसे कहते हैं--

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना
जिन्ह कें असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

इस सख्य-भक्तिके उदाहरण श्रीविभीषण, सुग्रीव, उद्धव, अर्जुन, सुदामा, श्रीदामादि व्रजसखा आदि हैं।

लंकाविजयके बाद विभीषण चाहते हैं--भगवान् एक बार मेरे घर पधारकर मुझे कृतार्थ करें, और भगवान्से इसके लिये प्रार्थना करते हैं। सखाकी बात सुनकर भगवान् प्रेमविभोर हो जाते हैं, उनके नेत्रोंमें प्रेमाश्रु आ जाते हैं—और कहते हैं—भाई! तुम्हारा सब कुछ मेरा है, परन्तु इस समय भरतकी दशाका स्मरण करके मैं ठहर नहीं सकता।

तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥

सुग्रीवके साथ सख्य स्थापित करके भगवान् अपनी प्राणप्रिया सीताको भूल जाते हैं और पहले सुग्रीवकी चिन्तामें लग जाते हैं।

तिय-बिरही सुग्रीव सखा लखि, प्रानप्रिया बिसराई।

और सुग्रीवसे आप कहते हैं—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

उद्धवके साथ भगवान् इतना प्रेम करते थे कि एक बार उनसे बोले—'भैया उद्धव! तुम-जैसे प्रेमी मुझको जितने प्यारे हैं, उतने प्यारे मुझे ब्रह्मा, शङ्कर, संकर्षण, लक्ष्मी और अपनी आत्मा भी नहीं है।'

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १५)

उद्धवजीका भगवान् श्रीकृष्णसे बहुत गहरा सख्यप्रेम था। इसीसे भगवान् उनके सामने मनकी कोई बात छिपाते नहीं थे। अपनी परम प्रेमिका गोपियोंको सन्देश भेजनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवको ही सर्वोत्तम पात्र चुनते हैं। उस समयके वर्णनमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः॥
तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित्।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः॥

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय॥

(श्रीमद्भा० १० । ४६ । १-३)

'यदुवंशियोंके श्रेष्ठ मन्त्री, बृहस्पतिके साक्षात् शिष्य एवं अत्यन्त बुद्धिमान् उद्धव भगवान् श्रीकृष्णके परम प्रिय सखा थे। शरणागतका दुःख दूर करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने एक दिन उस अनन्य एवं अत्यन्त प्रिय भक्त उद्धवका हाथसे हाथ पकड़कर कहा—'प्यारे उद्धव ! तुम व्रजमें जाकर मेरी माता एवं पिताको प्रसन्न करो तथा मेरे सन्देशोंके द्वारा गोपियोंको वियोगके रोगसे मुक्त करो।'

अर्जुनके सख्यभावकी तो भगवान् स्वयं घोषणा करते हैं—

'भक्तोऽसि मे सखा चेति'—तुम मेरे भक्त और सखा हो (गीता ४ । ३); 'इष्टोऽसि मे दृढमिति'—तुम मेरे परम प्यारे हो (गीता १८ । ६४)।

अश्वत्थामाके द्वारा उत्तराके गर्भस्थ बालक परीक्षितके मारे जानेपर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—यदि यह सत्य है कि मैंने अपनी जानमें अर्जुनसे कभी भी मित्रतामें कोई बाधा नहीं आने दी है तो यह मरा हुआ बालक जी उठे।

यथाहं नाभिजानामि विजयेन कदाचन।
विरोधं तेन सत्येन मृतो जीवत्वयं शिशुः॥

(महाभारत-अश्वमेध० ६९ । २१)

मित्र सुदामाको देखकर भगवान् कैसे प्रेमविह्वल हो जाते

हैं और किस प्रकार सुदामाका आदर करते हैं, इस प्रसङ्गमें श्रीशुकदेवजी लिखते हैं—

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः ।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून् नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ॥
अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयं सख्युः समर्हणम् ।
उपहृत्यावनिज्यास्य पादौ पादावनेजनीः ॥
अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवाँल्लोकपावनः ।
व्यलिम्पद् दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कुमैः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ८० । १९–२१)

'कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा ब्रह्मर्षि सुदामाके अङ्गस्पर्शसे अत्यन्त हर्षित हुए एवं उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे। इसके बाद उन्हें शय्यापर बैठाकर स्वयं भगवान्ने अपने हाथों उनके चरण धोये और उनकी पूजा की। लोकपावन भगवान्ने उनका चरणोदक अपने सिरपर रक्खा और उनके शरीरपर दिव्य गन्ध, चन्दन, अगुरु और कुङ्कुम आदि लगाया।'

इन भगवान्के परम प्यारे सखाओंकी तो बात ही क्या है, भीलोंका राजा गुह भी भगवान्से सख्य करके संसार-सागरसे तर गया।

अतएव भगवान्को ही अपना एकमात्र परम प्रियतम समझकर, अपना सर्वस्व उनको मानकर परम प्रेमभावसे सख्यभक्ति करनी चाहिये।

आत्मनिवेदन

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥

(वि० स० १३०)

'जिस मनुष्यने भगवान् वासुदेवका आश्रय लिया है और जो उन्हींके परायण है उसका अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो जाता है एवं वह सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

परमात्माके तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और महिमाको समझकर, ममता और अहंकाररहित होकर अपने तन-मन-धन-जनसहित अपने आपको और सम्पूर्ण कर्मोंको श्रद्धा और परम प्रेमपूर्वक परमात्माको समर्पण कर देना आत्मनिवेदन भक्ति है।

हानि-लाभ, जय-पराजय, यश-अपयश, मान-अपमान, सुख-दुःख आदिकी प्राप्तिमें, उन्हें भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर प्रसन्न रहना; तन-धन, स्त्री-पुत्र आदि सभीमें ममता और अहंकारका अभाव हो जाना; भगवान् यन्त्री हैं और मैं उनके हाथका यन्त्र हूँ ऐसा निश्चय करके कठपुतलीकी भाँति भगवान्‌के इच्छानुकूल ही सब कुछ करना; भगवान्‌के रहस्य और प्रभावको जाननेके लिये उनके नाम, रूप, गुण, लीलाके श्रवण, मनन, कथन, अध्ययन और चिन्तनादिमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तन-मन आदिको लगा देना; इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभीपर एकमात्र भगवान्‌का ही अधिकार समझना; भगवान्‌की ही वस्तु भगवान्‌के अर्पण की गयी है ऐसा भाव होना;

जिस किसी भी प्रकारसे भगवान्‌की सेवा बनती रहे इसीमें आनन्द मानना; सब कुछ प्रभुके अर्पण करके स्वाद, शौक, विलास, आराम, भोग आदिकी इच्छाका सर्वथा अभाव हो जाना; सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा एक भगवान्‌का ही अनुभव करना, भगवान्‌की इच्छाके अतिरिक्त स्वतन्त्र कोई इच्छा न करना, भगवान्‌के भरोसेपर सदा निर्भय निश्चिन्त और प्रसन्न रहना; और भगवान्‌की भक्तिको छोड़कर मुक्तिकी भी इच्छा न होना, आदि सभी इस आत्मनिवेदन भक्तिके प्रकार हैं।

भगवान्‌में अनन्य परम प्रेम और भगवान्‌की प्राप्तिके लिये यह आत्मनिवेदनभक्ति की जाती है।

भगवान्‌के शरणागत प्रेमी भक्तोंका संग-सेवन करनेसे और उनके द्वारा भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व, महिमा आदिका श्रवण और मनन करनेसे यह भक्ति प्राप्त होती है।

भगवान्‌ने स्वयं इस आत्मनिवेदनरूपा शरणभक्तिका महत्त्व प्रकट करते हुए इसके परम फलकी गीतामें बड़ी प्रशंसा की है। आप कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(७। १४)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(९। ३२)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(९।३४)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(१८।६२)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८।६६)

'क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, यानी मेरी शरण आते हैं वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य और शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

'केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य-निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही श्रद्धाप्रेमसहित निष्काम भावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझ

सर्वशक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक, भक्तिसहित साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर इस प्रकार मेरे शरण हुआ तू आत्माको मेरेमें एकीभाव करके मेरेको ही प्राप्त होवेगा ।'

'हे भारत ! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा । उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम-धामको प्राप्त होगा ।'

'सर्वधर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको मुझमें त्याग कर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर ।'

इस प्रकार जो पुरुष भगवान्‌के प्रति आत्मनिवेदन कर देता है उसके सम्पूर्ण अवगुण, पाप और दुःखोंका अत्यन्त नाश हो जाता है और उसमें श्रवण-कीर्तनादि सभी भक्तियोंका विकास हो जाता है । उसके आनन्द और शान्तिका पार नहीं रहता । भगवान् उससे फिर कभी अलग नहीं हो सकते । भगवान्‌का सर्वस्व उसका हो जाता है । वह परम पवित्र हो जाता है; उसके दर्शन, भाषण और चिन्तनसे भी पापात्मालोग पवित्र हो जाते हैं । वह तीर्थोंके लिये तीर्थरूप बन जाता है । महाराज परीक्षित श्रीशुकदेवजीसे कहते हैं—

सान्निध्यात्ते महायोगिन् पातकानि महान्त्यपि ।
सद्यो नश्यन्ति वै पुंसां विष्णोरिव सुरेतराः ॥

(श्रीमद्भा० १ । १९ । ३४)

'जैसे भगवान् विष्णुके सान्निध्यमात्रसे तुरन्त दैत्योंका नाश हो जाता है वैसे ही हे महायोगिन् शुकदेव ! आपके सान्निध्यमात्रसे बड़े-से-बड़े पापसमूह नष्ट हो जाते हैं ।'

धर्मराज युधिष्ठिर श्रीविदुरजीसे कहते हैं—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं प्रभो ।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥

(श्रीमद्भा० १ । १३ । १०)

'भगवन् ! आप-जैसे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थस्वरूप हैं, वे अपने हृदयमें स्थित भगवान्‌के द्वारा तीर्थोंको तीर्थ बनाते हैं ।' प्रचेतागण भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहते हैं—

तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया ।
भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः ॥

'जो तुम्हारे भक्त तीर्थोंको पावन बनानेके लिये भूतलपर विचरते रहते हैं, भला, संसारसे भयभीत हुए किस मनुष्यको उनका समागम न रुचेगा ।'

श्रीशुकदेवजी महाराज भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहते हैं—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥

(श्रीमद्भा० २ । ४ । १८)

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, भील, कसाई, आभीर, कंक, यवन, खस आदि तथा अन्य बड़े-से-बड़े पापी भी शुद्ध हो जाते हैं उन भगवान्‌के चरणोंमें नमस्कार है।'

भगवान्‌के प्रेमका मूर्तिमान् विग्रह बने हुए ऐसे भक्तको सारा संसार परम प्रेममय और परम आनन्दमय प्रतीत होने लगता है। वह जिस मार्गसे जाता है उसी मार्गमें श्रद्धा, प्रेम, भक्ति, आनन्द, समता और शान्तिका प्रवाह बहने लगता है। ऐसे भक्तको अपने ऊपर धारणकर धरणी धन्य और सनाथ होती है, पितरगण प्रमुदित हो जाते हैं और देवता नाचने लगते हैं।

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ॥
(नारदसूत्र ७१)

श्रीगोपियाँ, महाराजा बलि आदि इस आत्मनिवेदन-भक्तिके परम भक्त हुए हैं।

इसलिये मनुष्यमात्रको मन, वाणी, शरीरसे, सब प्रकारसे श्रीभगवान्‌के शरण होनेके लिये कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये।

उपसंहार

भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये कर्म, योग, ज्ञान, सभी मार्ग उत्तम हैं, परन्तु भक्तिकी तो शास्त्रोंमें बड़ी ही प्रशंसा की गयी है। नवधा भक्तिमेंसे जिनमें एक भी भक्ति होती है वह संसारसागरसे अनायास तरकर भगवान्‌को पा जाता है, फिर प्रह्लादकी भाँति जिनमें नवों भक्तियोंका विकास है उनका तो कहना ही क्या है। ऊपर

नवों भक्तियोंके वर्णनमें जिन-जिन भक्तोंके नाम उदाहरणमें दिये गये हैं उनमें केवल एक ही भक्तिका विकास था ऐसी बात नहीं है। जिनमें जिस भावकी प्रधानता थी उनका उसीमें नाम लिखा गया है। दुबारा नाम न आनेका भी खयाल रक्खा गया है। वस्तुतः वे लोग धन्य हैं जो भगवान्‌की भक्तिमें अपना मन लगाते हैं और वह कुल धन्य है जिनमें भगवान्‌के भक्त उत्पन्न होते हैं। भगवान् श्रीशिवजी पार्वतीसे कहते हैं—

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥

श्रीमद्भागवतमें श्रवणादि भक्तिकी महिमामें कहा है—

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥
(१।८।३६)

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥
(२।४।१५)

'जो लोग बारंबार तुम्हारे चरित्रोंका श्रवण, गायन, वर्णन एवं स्मरण करते हैं और आनन्दमग्न होते रहते हैं वे ही शीघ्राति-

शीघ्र संसारके प्रवाहको शान्त कर देनेवाले आपके चरणकमलोंका दर्शन पाते हैं।'

'जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण एवं पूजन लोगोंके समस्त पापोंको तुरन्त धो डालता है उन कल्याणमयी कीर्तिवाले भगवान्‌को बारंबार नमस्कार है।'

देवराज इन्द्र कहते हैं—

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः॥

(श्रीमद्भा० ६।१२।२२)

'परम कल्याणके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णमें जिनका प्रेम है वे तो अमृतके समुद्रमें क्रीड़ा कर रहे हैं, उन्हें तुच्छ विषयरूप गड्ढेके जलोंसे क्या प्रयोजन है?'

भगवान् स्वयं अपनी तरन-तारिनी भक्तिकी प्रशंसा करते हुए उद्धवजीसे कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥
वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।

विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २०—२२, २४)

'हे उद्धव ! मैं जिस प्रकार अनन्य भक्तिसे प्रसन्न होता हूँ उस प्रकार योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तपस्या, त्याग आदिसे प्रसन्न नहीं होता। संतोंका परमप्रिय आत्मारूप मैं एकमात्र श्रद्धा-भक्तिसे ही प्रसन्न होता हूँ। मेरी भक्ति जन्मत: चाण्डालोंको भी पवित्र कर देती है। मेरी भक्तिसे रहित जीवको सत्य और दया आदिसे युक्त धर्म तथा तपस्यायुक्त विद्या भी पूर्णत: पवित्र नहीं कर सकती।'

'जिसकी वाणी मेरे नाम, गुण और लीलाका वर्णन करती-करती गद्गद हो जाती है, जिसका चित्त मेरे रूप, गुण, प्रभाव और लीलाओंको याद करते-करते द्रवित हो जाता है, जो बारंबार रोता रहता है और कभी-कभी हँसने लग जाता है एवं जो लज्जा छोड़कर प्रेममें मग्न हुआ पागलकी भाँति ऊँचे स्वरसे गायन करता है और नाचने लग जाता है ऐसा मेरा भक्त संसारको पवित्र कर देता है।'

भगवान् गीताजीमें अर्जुनसे कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥
(११ । ५३-५४)

'जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है–इस प्रकार चतुर्भुजरूप-वाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ। परन्तु हे परन्तप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

भक्त श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं—

राम भगति चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर॥
परम प्रकासरूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥
प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं॥
गरल सुधासम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥
ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी॥
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥

अतएव सब लोगोंको उपर्युक्त सब प्रकारसे भगवान्‌की भक्तिका आश्रय ग्रहण करके जीवन और जन्मको सफल करना चाहिये।



अर्थ और प्रभावसहित नाम-जपका महत्त्व



प्रात:-सायं जो हम नित्य-कर्म करते हैं वही हमारे जीवनकी एक मुख्य लाभकी बात है। उसकी ओर हमें अधिक-से-अधिक ध्यान देना चाहिये। प्राय: लोग नित्य-कर्मको बेगारकी तरह करते हैं और उसमें चित्त नहीं लगाते। यही कारण है कि उससे जो लाभ होना चाहिये वह नहीं होता। चौबीस घंटेके भीतर जितना समय इस नित्य-कर्ममें लगता है वही परम उत्तम और परम पुण्यकाल है। दोनों काल रात और दिनकी सन्धिमें जो हम सन्ध्योपासन करते हैं वही ईश्वरोपासना है। प्राणायाम, ध्यान, जप, गीतापाठ, स्तोत्रपाठ, स्तुति आदि सब उपासना ही हैं। यह उपासना ही ईश्वरकी पूजा है।

सन्ध्योपासनादि नित्य-कर्ममें जितना ध्यान देना चाहिये उतना ध्यान हम देते नहीं। हमारे नित्यके जीवनसे उसका घना

गहरा सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। प्रायः लोगोंको मन धोखा देता है। शीघ्र कर लेनेकी इच्छा होती है। किसी तरह कर डालें जिसमें भार उतर जाय ऐसा भाव बहुधा हमें सन्ध्योपासन आदिका आनन्द लेने नहीं देता और हम वास्तविक उपासनासे बहुत दूर रहते हैं। यह मनका पाजीपन है। बुरी आदत है। यह आदत प्रायः सभीमें पायी जाती है। इस नित्य-कर्मको यदि आदर और प्रेमके भावसे किया जाय तो बहुत शीघ्र लाभ हो सकता है। उपासनामें प्रेम और आदर ही मुख्य है। प्रेममें मुग्ध होकर जो कुछ भी किया जाता है उसका प्रभाव अमिट होता है, स्थायी होता है और वह बहुत शीघ्र लाभ देनेवाला होता है। आदर और प्रेमके विना वर्षोंतक की हुई उपासनाका विशेष लाभ नहीं दीखेगा, परन्तु एक दिन, एक वेला ही प्रेम और आदरसे पूर्ण हृदयके साथ जो उपासना होगी उसका परम महान् फल बहुत शीघ्र दिखलायी पड़ेगा और हृदयमें एक अपूर्व आनन्द और शान्ति मिलेगी।

उपासनामें हृदयका पूर्ण योग होना चाहिये। ध्यान, जप, प्राणायाममें सम्पूर्ण मनोयोग रहे—इसपर खूब ध्यान देना चाहिये। नाम-जपके समान सरल और साथ-ही-साथ महान् साधन दूसरा है ही नहीं। जपमें अधिक फल देनेवाला जप गुप्त जप ही है। जप अत्यन्त गुप्त होना चाहिये। कोई जान न जाय। किया हुआ गुप्त जप यदि किसीपर प्रकट कर दिया जाता है तो उसका महत्त्व घट जाता है। किसी प्रकार, संकेतसे भी उसे प्रकाशित

नहीं करना चाहिये। स्मरण रहे, जप जितना ही गुप्त होगा उतना ही लाभदायक होगा। गुप्त जपका फल अद्भुत होता है। गुप्त पाप और गुप्त पुण्य–दोनोंका ही फल अधिक होता है। गुप्त साधनसे ईश्वरमें प्रेम बढ़ता है और चित्तमें शान्ति और प्रसन्नता होती है।

जप करते समय उसके अर्थका खयाल अवश्य करना चाहिये। अर्थपर जितनी अधिक दृष्टि जायगी जपमें उतना ही अधिक रस आयेगा और उसके द्वारा अधिकाधिक आनन्द उमड़ेगा— उदाहरणार्थ इस मन्त्रके अर्थपर ध्यान दीजिये—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस मन्त्रमें हरि, राम और कृष्ण ये तीन नाम आगे-पीछे सोलह बार आये हैं। इस मन्त्रका जाप करते समय भगवान् राम, कृष्ण और हरिके रूपका स्मरण करना चाहिये। ये नाम साकार-निराकार दोनोंके बोधक हैं। वास्तवमें ये नाम एक प्रभुके हैं इसलिये इसे जाप करते समय जिसका जो इष्टदेव हो वह उसीका ध्यान करे। भगवान् राम, कृष्ण और विष्णु तीनों एक ही हैं। सृष्टिके आदिमें भगवान् विष्णु हुए, त्रेतामें भगवान् राम और द्वापरमें भगवान् कृष्णका आविर्भाव हुआ। यह इनका सगुण साकार दिव्यरूप है। इनका ध्यान करना चाहिये। जप करते समय अपने जो इष्टदेव हों उनकी मूर्त्ति मनके सामने स्पष्ट आ जानी चाहिये। दूसरा अर्थ निराकार-परक इस प्रकार है—रामका अर्थ है सर्वत्र रमनेवाला सच्चिदानन्द-

घन परमात्मा जो कण-कणमें व्याप्त है या योगीगण जिसमें रमते हैं *। 'कृष्ण' में 'कृष्' का अर्थ है सत् और 'ण' का अर्थ है 'आनन्द'। जिस आनन्दका कभी अभाव नहीं होता, जो आनन्द नित्य है, अविनाशी है वही 'कृष्ण' है †। 'हरि' का अर्थ है जो सब पापोंको हर लेता है, जिसके उच्चारणसे ही सब पाप भस्म हो जाते हैं वही 'हरि' है। 'हरि' नाम लेते ही सब पाप मिट जाते हैं ‡। जप करते समय इन अर्थोंपर विशेष ध्यान देना

---

* रमन्ते योगिनो यस्मिन् नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनैतत्परं ब्रह्माभिधीयते॥ (पद्मपुराण)

जिस नित्यानन्दमय बोधस्वरूप परमात्मामें योगी लोग रमण करते हैं, वह 'राम' हैं—इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'राम' पदसे इस 'परब्रह्म'का ही बोध होता है।

† कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति शाश्वतः॥
(महा० उद्योगपर्व ७०। ५)

'कृष्' शब्द सत्ताका वाचक है और 'ण' यह अक्षर आनन्दका वाचक है, इन दोनों भावोंसे युक्त होनेसे सनातन भगवान् विष्णु सच्चिदानन्दमय श्रीकृष्ण कहे जाते हैं।

‡ हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥
(बृ० ना० १। ११। १००)

जिनका चित्त अनेकों प्रकारके दोषोंसे दूषित है, ऐसे पुरुष भी यदि 'हरि' ऐसा कहकर भगवान्का स्मरण करें तो भगवान् हरि उनके समस्त पापोंको हर लेते हैं। क्योंकि विना इच्छाके भी यदि आगका स्पर्श कर लिया जाय तो भी वह जला ही देती है। [अर्थात् जैसे छू जानेपर

चाहिये । विश्वास रखना चाहिये कि सर्वव्यापी परमात्मा ही इस रूपमें हमारे सामने आये हैं । इससे अद्भुत शान्ति मिलती है अथवा जप करते समय निरन्तर अपने इष्टकी मूर्तिका ध्यान रखना चाहिये । उस समय चित्त ध्यानमें ही डूबा रहे ।

किसी प्रकारकी कामना नहीं रखनी चाहिये । प्रह्लादजी कहते हैं कि वरदानकी इच्छासे जो भक्ति करता है वह तो वणिक् है । भगवान्‌ने जब वर माँगनेके लिये बहुत अधिक आग्रह किया तो प्रह्लादने यही वरदान माँगा कि मेरे मनमें माँगनेकी इच्छा ही न हो । मूर्ति और अर्थका खयाल रखते हुए इस प्रकार निष्कामभावसे जप करना चाहिये । जप निरन्तर हर समय, उठते-बैठते, सोते-जागते करना चाहिये । प्रियके स्मरणसे ही हृदय प्रफुल्लित हो जाता है । प्रेममें मुग्ध होकर भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान करना चाहिये । प्रेम और श्रद्धासहित निष्कामभाव और गुप्तरूपसे ध्यानसहित जो जप है वह महान् फल देनेवाला होता है ।

प्रेम और आदरके साथ नाम-जपमें निम्नलिखित तीन बातें आवश्यक हैं जिनका वर्णन ऊपर किया गया है ।

(१) गुप्त होना चाहिये ।

(२) अर्थसहित होना चाहिये ।

(३) निष्कामभावसे होना चाहिये ।

जलाना आगका स्वभाव है, उसी प्रकार उच्चारण करनेपर पापोंको भस्म कर डालना भगवन्नामोंका स्वभाव ही है]

ध्यानके समय भगवान्‌की लीला, गुण, रहस्य और प्रभावकी ओर ध्यान जाय तो ध्यानमें एक विचित्र मधुरता मालूम होगी। प्रभु अवतार लेकर जो प्रेमकी लीलाएँ करते हैं वे सभी आनन्दमयी और दिव्य हैं। वह लीला, जिससे रोम-रोममें प्रेम छा रहा हो, ध्यानके समय चित्तमें उतर जाय तो फिर उस ध्यानको छोड़नेकी ही इच्छा न होगी, उस लीलामें मन-चित्त-प्राण इतने लीन हो जायँगे कि वहाँसे हटना ही नहीं चाहेंगे। यही ध्यान वास्तविक ध्यान है और उसमें श्रम नहीं करना पड़ता, न वहाँसे हटनेकी ही इच्छा होती है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव और रहस्यके जाननेसे ही असली ध्यान होता है।

भगवान्‌के गुणोंकी महिमा कैसे गायी जाय। वे सभी गुणोंके समुद्र हैं। प्रभु प्रेममय हैं, प्रेमकी मूर्ति हैं। प्रेम ही उनका स्वभाव है। प्रभु दयामय हैं, दयाकी मूर्ति हैं, दया ही उनका स्वभाव है। उनके एक-एक गुणकी ओर ध्यान जाता है तो ऐसा दीखता है कि मानो वे उस गुणकी मूर्ति ही हैं। सारे गुण प्रभुमें अतिशय हैं। इसी प्रकार उनका प्रभाव भी अमित है। संसारमें जो कुछ भी किसीका प्रभाव देखनेमें आता है वह सब प्रभुका ही है। अग्निमें जो दाहिका शक्ति है, सूर्यमें जो प्रकाश है, चन्द्रमामें जो शीतलता तथा पोषणशक्ति है वह सभी यदि इकट्ठी कर लें तो प्रभुके प्रभावके एक अंशके समान भी शायद ही हो। भगवान्‌ने गीताके दशवें अध्यायमें अपनी विभूतिका वर्णन करते हुए अन्तमें कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥
(१० । ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान ।'

प्रभुके सङ्कल्पसे संसार होता है और उस सङ्कल्पके न रहनेसे यह ढह जाता है । प्रभुके सङ्कल्पमात्रसे असंख्य जन्मोंके महापापीके भी सारे पाप एक क्षणमें भस्म हो जाते हैं । प्रभुके सङ्कल्पसे क्षणभरमें सारे संसारका उद्धार हो सकता है । सङ्कल्प क्या, प्रभुके संकेतमात्रसे, एक इशारेसे ब्रह्माण्डका उद्धार हो सकता है ।

उनके दर्शन और ध्यानकी कौन कहे, प्रभुके स्मरणमात्रसे एक क्षणमें मनुष्य पवित्र हो सकते हैं; इतना ही क्यों ? प्रभुकी दयाके प्रतापसे उनके नामके उच्चारणमात्रसे मनुष्यका उद्धार हो सकता है । यही शास्त्रोंकी वाणी और संतोंका अनुभव है ।

इसपर एक प्रश्न होता है कि आज लोग इतना नाम लेते हैं और उद्धार नहीं होता । तो क्या शास्त्र और संत झूठे हैं ? शास्त्र और संत असत्य नहीं कहते । हमारा उद्धार इसीलिये नहीं हो रहा है कि जिस प्रकार नाम लेना चाहिये वैसे नहीं लेते, केवल बला टालनेके लिये, संख्या पूरी करनेके लिये करते हैं । नामके

प्रति हमारे हृदयमें यथार्थ श्रद्धा नहीं है, हृदयका आकर्षण और प्रेम नहीं है, निष्कामभाव नहीं है, आदरबुद्धि नहीं है।

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि शास्त्रोंने तो यहाँतक कहा है कि चाहे नाम जिस प्रकार भी लिया जाय जैसे आगकी एक चिनगारी ईंधनको जला देती है ठीक उसी प्रकार एक नाम असंख्य पापोंको भस्म कर देता है। नामकी महिमा इतनी अधिक है कि गायी नहीं जा सकती। साधारण जपका भी महान् फल है तो फिर हममें कमी क्या है?

कमी इतनी ही है कि हमें ऐसा विश्वास नहीं है, श्रद्धा नहीं है। नाम रटते हुए भी हम नामके प्रभाव और रहस्यको नहीं समझते इसीलिये हम उसकी महिमाको समझ नहीं रहे हैं। हम समझते हैं कि वे बातें शास्त्रोंमें अर्थवाद हैं, प्रत्यक्ष अनुभवकी नहीं। इसी अविश्वास और अश्रद्धाके कारण हमें पूरा फल नहीं मिलता। यह अविश्वास ही हमारा अपराध है। जिसे पूरा विश्वास है उसे पूरा फल मिलता है। परमेश्वरके प्रभाव और तत्त्वको समझते ही अत्यन्त श्रद्धा होती है। उसके साथ ही अतुल प्रेम हो जाता है। जो विश्वासपूर्वक श्रद्धाके साथ भगवान्का प्रेमभरे हृदयसे नाम लेते हैं उन्हें प्रत्यक्ष शान्ति और आनन्द मिलता है।

इस प्रकार नामके स्मरणसे ही सारे पाप भस्म हो जाते हैं और सारे फल स्पष्ट होने लगते हैं। प्रभुकी अपार दया है पर हम मानते नहीं। विश्वास किये विना पूरा फल भी नहीं मिल सकता। रहस्य खुलनेमें देर नहीं लगती, प्रभु दयाकर एक क्षणमें आँखें खोल

देते हैं और तब अपने अविश्वास और काल्पनिक दरिद्रतापर महान् सन्ताप होता है कि इतने काल इस महिमासे हम अपरिचित रहे।

एक दरिद्र था। उसके घर एक साधु आये। 'नारायण हरि' की आवाज लगायी। दरिद्र घरसे बाहर आकर देखता है तो एक साधु भिक्षाकी प्रतीक्षामें द्वारपर खड़े हैं। वह बेचारा रोकर, गिड़-गिड़ाकर कहने लगा—'महात्मन्! मेरा यह सौभाग्य है कि आप दयाकर पधारे हैं। पर घरमें अन्नका एक दाना भी नहीं है, पड़ोसवाले मुझे कुछ देंगे भी नहीं, बाजारसे कोई चीज उधार मिल नहीं सकती इसलिये लाचार हूँ और चाहते हुए भी आपकी सेवा नहीं कर सकता। मेरे समान संसारमें दुःखी कौन है?' साधुने कहा—'तुम्हारे समान संसारमें कोई भाग्यवान् नहीं।' दरिद्र व्यक्तिको साधुके वचनपर कैसे विश्वास होता? साधु महाराज भीतर गये और सिलवटपर रखे हुए लोढ़ेको उठाकर पूछने लगे—'यह क्या वस्तु है?' उस गरीब आदमीने कहा—'महाराज! यह पत्थर-का एक टुकड़ा है। इससे चटनी पीसा करता हूँ।' साधुने कहा—'नहीं, यह पत्थर नहीं है, यह तो पारस है।' बेचारा गरीब सामने देख ही रहा था कि यह प्रत्यक्ष ठोस पत्थर है। उसे साधुकी बात समझमें कैसे आती? साधुने कहा—'अच्छा, इसकी परख कर लो और घरमें लोहेके जितने बर्तन हों उन्हें ले आओ।' उस गरीबके घर तो लोहेके ही कुछ बरतन बच गये थे—तवा, करछी, सँड़सी, चिमटा, चाकू आदि उठा लाया। उस 'लोढ़े' से स्पर्श कराते ही वे सभी सोना बन गये। साधुने कहा—'अरे, तुम तो संसारमें

सबसे बड़ा भाग्यशाली हो, तुमसे बढ़कर भाग्यवान् कौन है। तुम चाहो तो संसारभरके लोहेको सोना बना दो। अपने अज्ञानसे इस पारससे तुम चटनी पीसा करते थे और इसे पत्थर मान बैठे थे। तुम्हारी अकलपर ही पत्थर पड़ गया था। तुम तो सारे संसारकी दरिद्रताको मिटा सकते हो। सारा संसार इसको पत्थर बतावे पर मेरी दृष्टिमें तो यह पारस ही है।' अब क्या था, एक क्षणमें ही उस गरीबकी सारी दरिद्रता मिट गयी, आँखें खुल गयीं !

ठीक ऐसी ही हमारी मूर्खता है। पारससे चटनी पीसते हैं। जब आँखें खुलती हैं तो एक ही क्षणमें उस पारसके मूल्यको समझ जाते हैं। फिर तो प्राण भले ही छूटें पर वह पारस न छूटे। यह समझनेमें देर ही क्या लगती है ? प्रभुकी कृपासे हमारी आँखें भी जब खुलती हैं तो बस, अपने घरमें पड़ा हुआ और इतने दिनतक तिरस्कृत पारसको पाकर हमें अपनी मूर्खता और तज्जन्य दरिद्रतापर बड़ा अफ़सोस होता है। प्रभुका रहस्य खुलते एक क्षण भी नहीं लगता। यही रहस्य है। अज्ञानवश पारसको वह पत्थर मान रहा था। अज्ञान मिटते ही पारसका रहस्य खुल पड़ा। प्रभु बाहरसे नहीं आते। वह तो पहलेहीसे भीतर विराजमान हैं, अज्ञानवश हम उन्हें देखते नहीं, खोये बैठे हैं। प्रभुका मिलन भी पारसकी प्राप्तिकी भाँति है--वह तो हमारे घरमें है, अज्ञानवश हम उसे पहचानते नहीं। अज्ञान हटा और अंदरकी आँखें खुलीं कि बस, फिर नारायण हमारे सामने हैं।

प्रभुका रहस्य खुलते ही हम प्रभुके तत्त्वको जान जाते हैं।

लोहेको सोना बना देना उसका प्रभाव है। तत्त्व जानना भी यही है कि पत्थर नहीं पारस है। पारसको पारस समझ जाना ही तत्त्व समझना है। फिर तो सहज ही उसपर अगाध ममता, असीम प्रेम हो जाता है।

पारस तो केवल लोहेको सोना बना देता है; वह मुक्ति नहीं दे सकता। प्रभुका नाम तो हमें संसार-सागरसे ही तार देता है। उनके गुणोंका तो खयाल आते ही ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी थाह ही नहीं, कोई पार ही नहीं, कोई सीमा ही नहीं। फिर तो एक क्षणके लिये भी प्रभुको छोड़ा नहीं जा सकता। दीन-दरिद्रको जब पारस मिल जाता है तो उसे वह प्राणोंसे बढ़कर अपना लेता है। प्रभु तो अनन्त गुणोंके सागर हैं—वे मिलें तो उस दशाका क्या अन्दाज़ा लगाया जाय ? उस प्रेमको कौन कहे, उस आनन्द और शान्तिकी क्या व्याख्या हो ?

जप करते समय इस प्रकार प्रभुके गुण, प्रभाव और रहस्यको समझकर जप करना चाहिये। गुप्तरूपसे, निष्कामभावसे और प्रेममें विमुग्ध होकर ध्यान करते हुए हरिका इस प्रकार स्मरण करे। ऐसा जप एक क्षणका भी बहुत लाभदायक और परम फलका देनेवाला है।



श्रीविष्णु



सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम् ।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियं नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम् ॥

ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप



साधक एकान्त और पवित्र स्थानमें कुश या ऊनके आसनपर स्वस्तिक, सिद्ध या पद्मासन आदि किसी आसनसे स्थिर, सीधा और सुखपूर्वक बैठे और इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर सम्पूर्ण सांसारिक कामनाओंका त्याग करके स्फुरणासे रहित हो जाय। पश्चात् आलस्यरहित और वैराग्ययुक्त पवित्र चित्तसे अपने इष्टदेव भगवान्‌का आह्वान करे। यह खयाल रखना चाहिये कि जब ध्यानावस्थामें भगवान् आते हैं तब चित्तमें बड़ी प्रसन्नता, शान्ति, ज्ञानकी दीप्ति एवं सारे भूमण्डलमें महाप्रकाश नेत्रोंको बंद करने-पर प्रत्यक्ष-सा प्रतीत होता है। जहाँ शान्ति है वहाँ विक्षेप नहीं होता और जहाँ ज्ञानकी दीप्ति होती है वहाँ निद्रा-आलस्य नहीं आते। और यह विश्वास रखना चाहिये कि भगवान्‌से स्तुति और प्रार्थना करनेपर ध्यानावस्थामें भगवान् आते हैं। अपने इष्टदेवके साकाररूपका ध्यान करनेमें कोई कठिनाई भी नहीं है। यदि कहो कि देखी हुई चीजका ध्यान होना सहज है, विना देखी हुई चीजका ध्यान कैसे हो सकता है ? सो ठीक है; किन्तु शास्त्र और महात्माओंके वचनोंके आधारपर तथा अपने इष्टदेवके रुचिकर

चित्रके आधारपर भी ध्यान हो सकता है । इसलिये साधकको उचित है कि नेत्रोंको मूँदकर अपने इष्टदेव परमेश्वरका आह्वान करे और साधारण आह्वान करनेसे न आनेपर उनके नाम और गुणोंका कीर्तन एवं दिव्य स्तोत्र और पदोंके द्वारा स्तुति और प्रार्थना करते हुए श्रद्धा और प्रेमपूर्वक करुणाभावसे गद्‌गद होकर भगवान्‌का पुनः-पुनः आह्वान करे और भगवान्‌के आनेकी आशा और प्रतीक्षा रखते हुए इस चौपाईका उच्चारण करे—

एक बात मैं पूछहु तोही । कारन कवन बिसारेहु मोही ॥

फिर यह विश्वास करना चाहिये कि हमारे इष्टदेव भगवान् आकाशमें हमारे सम्मुख करीब दो फीटकी दूरीपर प्रत्यक्ष ही खड़े हैं । तत्पश्चात् चरणोंसे लेकर मस्तकतक उस दिव्य मूर्तिका अवलोकन करते हुए यह चौपाई पढ़नी चाहिये—

नाथ सकल साधन कर हीना । कीन्ही कृपा जानि जन दीना ॥

हे नाथ ! मैं तो सम्पूर्ण साधनोंसे हीन हूँ, आपने मुझे दीन जानकर दया की है अर्थात् मैंने तो कोई भी ऐसा साधन नहीं किया कि जिसके बलपर ध्यानमें भी आपके दर्शन हो सके । किन्तु आपने मुझे दीन जानकर ही ध्यानमें दर्शन दिये हैं । इस प्रकार भगवान्‌के आ जानेपर साधक ध्यानावस्थामें भगवान्‌से वार्तालाप करना आरम्भ करता है ।

साधक—प्रभो ! आप ध्यानावस्थामें भी प्रकट होनेमें इतना विलम्ब क्यों करते हैं ? पुकारनेके साथ ही आप क्यों नहीं आ जाते । इतना तरसाते क्यों हैं ?

भगवान्–तरसानेमें ही तुम्हारा परमहित है।

सा०–तरसानेमें क्या हित है मैं नहीं समझता। मैं तो आपके पधारनेमें ही हित समझता हूँ।

भ०–विलम्बसे आनेमें विशेष लाभ होता है। विरहव्याकुलता होती है, उत्कट इच्छा होती है। उस समय आनेमें विशेष आनन्द होता है। जैसे विशेष क्षुधा लगनेपर अन्न अमृतके समान लगता है।

सा०–ठीक है, किन्तु विशेष विलम्बसे आनेपर निराश होकर साधक ध्यान छोड़ भी तो सकता है।

भ०–यदि मुझपर इतना ही विश्वास नहीं है और मेरे आनेमें विलम्ब होनेके कारण जो साधक उकताकर ध्यान छोड़ सकता है, उसको दर्शन देकर ही क्या होगा।

सा०–ठीक है किन्तु आपके आनेसे आपमें रुचि तो बढ़ेगी ही और उससे साधन भी तेज होगा, इसलिये आपको पुकारनेके साथ ही पधारना उचित है।

भ०–उचित तो वही है जो मैं समझता हूँ, और मैं वही करता हूँ, जो उचित होता है।

सा०–प्रभो! मुझे वैसा ही मानना चाहिये जैसा आप कहते हैं किन्तु मन बड़ा पाजी है। वह मानने नहीं देता। आप कहते हैं वही बात सही है फिर भी मुझे तो यही प्रिय लगता है कि मैं बुलाऊँ और तुरंत आप आ जायँ। यह

बतलाइये वह कौन-सी पुकार है जिस एक ही पुकारके साथ आप आ सकते हैं ?

भ०—गोपियोंकी भाँति जब साधक मेरे ही लिये विरहसे तड़पता है तब वैसे आ सकता हूँ या मुझमें प्रेम और विश्वास करके द्रौपदी और गजेन्द्रकी भाँति जब आतुरतासे व्याकुल होकर पुकारता है तब आ सकता हूँ । अथवा प्रह्लादके सदृश निष्कामभावसे भजनेवालेके लिये विना बुलाये भी आ सकता हूँ ।

सा०—विरहसे व्याकुल करके आते हैं यह आपकी कैसी आदत है। आप विरहकी वेदना देकर क्यों तड़पाते हैं ?

भ०—विरहजनित व्याकुलताकी तो बड़ी ऊँचे दर्जेकी स्थिति है। विरहव्याकुलतासे प्रेमकी वृद्धि होती है। फिर भक्त क्षण-भरका भी वियोग सहन नहीं कर सकता। उसको सदाके लिये मेरी प्राप्ति हो जाती है । एक दफा मिलनेके बाद फिर कभी छोड़ता ही नहीं। जैसे भरत चौदह सालतक विरहसे व्याकुल रहा, फिर मेरा साथ उसने कभी नहीं छोड़ा।

सा०—आपको कभी कार्य होता तो आप प्रायः लक्ष्मण और शत्रुघ्नको ही सुपुर्द करते, भरतको नहीं । इसका क्या कारण था ?

भ०—प्रेमकी अधिकताके कारण भरत मेरा वियोग सहन नहीं कर सकता था ।

सा०—फिर उन्होंने चौदह सालतक वियोग कैसे सहन किया ?

भ०–मेरी आज्ञासे बाध्य होकर उसको वियोग सहन करना पड़ा और उसी विरहसे प्रेमकी इतनी वृद्धि हुई कि फिर उसका मुझसे कभी वियोग नहीं हुआ ।

सा०–पर उस विरहमें आपने भरतका क्या हित सोचा ?

भ०–चौदह सालका विरह सहन करनेसे वह विरह और मिलन-के तत्त्वको जान गया । फिर एक क्षणभरका वियोग भी उसको एक युगके समान प्रतीत होने लगा । यदि ऐसा नहीं होता तो मेरी ओर इतना आकर्षण कैसे होता ?

सा०–विरहकी व्याकुलतासे निराशा भी तो हो सकती है ?

भ०–कह ही चुका हूँ कि ऐसे पुरुषोंके लिये फिर दर्शन देनेकी आवश्यकता ही क्या है ?

सा०–फिर ऐसे पुरुषोंको आपके दर्शनके लिये क्या करना चाहिये ?

भ०–जिस किस प्रकारसे मुझमें श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि हो ऐसी कोशिश करनी चाहिये ।

सा०–क्या विना श्रद्धा और प्रेमके दर्शन हो ही नहीं सकते ?

भ०–हाँ ! नहीं हो सकते, यही नीति है ।

सा०–क्या आप रियायत नहीं कर सकते ?

भ०–किसीपर रियायत की जाय और किसीपर नहीं की जाय तो विषमताका दोष आता है । सबपर रियायत हो नहीं सकती ।

सा०–क्या ऐसी रियायत कभी हो भी सकती है ?

भ०–हाँ, अन्तकालके लिये ऐसी रियायत है। उस समय विना श्रद्धा और प्रेमके भी केवल मेरा स्मरण करनेसे ही मेरी प्राप्ति हो जाती है।

सा०–फिर उसके लिये भी यह विशेष रियायत क्यों रक्खी गयी ?

भ०–उसका जीवन समाप्त हो रहा है। सदाके वास्ते वह इस मनुष्यशरीरको त्यागकर जा रहा है। इसलिये उसके वास्ते यह खास रियायत रक्खी गयी है।

सा०–यह तो उचित ही है कि अन्तकालके लिये यह विशेष रियायत रक्खी गयी है। किन्तु अन्तसमयमें मन-बुद्धि और इन्द्रियाँ अपने काबूमें नहीं रहते; अतएव उस समय आपका स्मरण करना भी वशकी बात नहीं है।

भ०–इसके लिये सर्वदा मेरा स्मरण रखनेका अभ्यास करना चाहिये। जो ऐसा अभ्यास करेगा उसको मेरी स्मृति अवश्य होगी।

सा०–आपकी स्मृति मुझे सदा बनी रहे इसके लिये मैं इच्छा रखता हूँ और कोशिश करता हूँ, किन्तु चञ्चल और उद्दण्ड मनके आगे मेरी कोशिश चलती नहीं। इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये ?

भ०–जहाँ-जहाँ तुम्हारा मन जाय, वहाँ-वहाँसे उसको लौटाकर प्रेमसे समझाकर मुझमें पुनः-पुनः लगाना चाहिये अथवा मुझको सब जगह समझकर जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ ही मेरा चिन्तन करना चाहिये।

सा०—यह बात मैंने सुनी है, पढ़ी है और मैं समझता भी हूँ। किन्तु उस समय यह युक्ति मुझे याद नहीं रहती इस कारण आपका स्मरण नहीं कर सकता ?

भ०—आसक्तिके कारण यह तुम्हारी बुरी आदत पड़ी हुई है, तथा आसक्तिका नाश और आदत सुधारनेके लिये महापुरुषोंका संग तथा नामजपका अभ्यास करना चाहिये।

सा०—यह तो यत्किञ्चित् किया भी जाता है और उससे लाभ भी होता है किन्तु मेरे दुर्भाग्यसे यह भी तो हर समय नहीं होता।

भ०—इसमें दुर्भाग्यकी कौन बात है ? इसमें तो तुम्हारी ही कोशिशकी कमी है।

सा०—प्रभो ! क्या भजन और सत्संग कोशिशसे होता है। सुना है कि सत्संग पूर्वपुण्य इकट्ठे होनेपर ही होता है।

भ०—मेरा और सत्पुरुषोंका आश्रय लेकर भजनकी जो कोशिश होती है वह अवश्य सफल होती है। उसमें कुसंग, आसक्ति और सञ्चित बाधा तो डालते हैं, किन्तु इसके तीव्र अभ्याससे सब बाधाओंका नाश हो जाता है और उत्तरोत्तर साधनकी उन्नति होकर श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि होती है और फिर विघ्नबाधाएँ नजदीक भी नहीं आ सकतीं। प्रारब्ध केवल पूर्वजन्मके किये हुए कर्मोंके अनुसार भोग प्राप्त कराता है, वह नवीन शुभ कर्मोंके होनेमें बाधा नहीं डाल सकता। जो बाधा प्राप्त होती है वह साधककी कमजोरीसे होती है। पूर्वसञ्चित पुण्योंके सिवा श्रद्धा और

प्रेमपूर्वक कोशिश करनेपर भी मेरी कृपासे सत्संग मिल सकता है ।

सा०-प्रभो ! बहुत-से लोग सत्संग करनेकी कोशिश करते हैं पर जब सत्संग नहीं मिलता तो भाग्यकी निन्दा करने लग जाते हैं ! क्या यह ठीक है ?

भ०-ठीक है किन्तु उसमें धोखा हो सकता है । साधनमें ढीलापन आ जाता है । जितना प्रयत्न करना चाहिये उतना करनेपर यदि सत्संग न हो तो ऐसा माना जा सकता है परन्तु इस विषयमें प्रारब्धकी निन्दा न करके अपनेमें श्रद्धा और प्रेमकी जो कमी है उसीकी निन्दा करनी चाहिये, क्योंकि श्रद्धा और प्रेमसे नया प्रारब्ध बनकर भी परम कल्याणकारक सत्संग मिल सकता है ।

सा०-प्रभो ! आप सत्संगकी इतनी महिमा क्यों करते हैं ?

भ०-विना सत्संगके न तो भजन, ध्यान, सेवादिका साधन ही होता है और न मुझमें अनन्य प्रेम ही हो सकता है । इसके विना मेरी प्राप्ति होनी कठिन है । इसीसे मैं सत्संग-की इतनी महिमा करता हूँ ।

सा०-प्रभो ! बतलाइये, सत्संगके लिये क्या उपाय किया जाय ?

भ०-पहले मैं इसका उपाय बतला ही चुका हूँ कि श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सत्संगके लिये कोशिश करनेपर मेरी कृपासे सत्संग मिल सकता है ।

सा०-अब मैं सत्संगके लिये और भी विशेष कोशिश करूँगा ।

आपसे भी मैं निष्काम प्रेमभावसे भजन-ध्यान निरन्तर होनेके लिये मदद माँगता हूँ ।

भ०—तुम अपनी बुद्धिके अनुसार ठीक माँग रहे हो, किन्तु वह तुम्हारे मनको उतना अच्छा नहीं लगता जितने कि विषयभोग लगते हैं ।

सा०—हाँ ! बुद्धिसे तो मैं चाहता हूँ, पर मन बड़ा ही पाजी है, इससे रुचि कम होनेके कारण उसको भजन-ध्यान अच्छा न लगे तो उसके आगे मैं लाचार हूँ । इसलिये ही आपको विशेष मदद करनी चाहिये ।

भ०—मनकी भजन-ध्यानकी ओर कम रुचि हो तो भी यही कोशिश करते रहो कि वह भजन-ध्यानमें लगा रहे । धीरे-धीरे उसमें रुचि होकर भजन-ध्यान ठीक हो सकता है ।

सा०—मैं शक्तिके अनुसार कोशिश करता रहा हूँ किन्तु अभीतक सन्तोषजनक काम नहीं बना । इसीसे उत्साह भङ्ग-सा होता है । यही विश्वास है कि आपकी दयासे ही यह काम हो सकता है अतएव आपको विशेष दया करनी चाहिये ।

भ०—उत्साहहीन नहीं होना चाहिये । मेरे ऊपर भार डालनेसे सब कुछ हो सकता है । यह तो ठीक है, किन्तु मेरी आज्ञाके अनुसार कटिबद्ध होकर चलनेकी भी तो तुम्हें कोशिश करनी ही चाहिये । ऐसा मत मानो कि हमने सब कोशिश कर ली है, अभी कोशिश करनेमें बहुत कमी

है । तुम्हारी शक्तिके अनुसार अभी कोशिश नहीं हुई है । इसलिये खूब तत्परतासे कोशिश करनी चाहिये ।

सा०—आपका आश्रय लेकर और कोशिश करनेकी चेष्टा करूँगा किन्तु काम तो आपकी दयासे ही होगा ।

भ०—यह तो तुम्हारे प्रेमकी बात है कि तुम मुझपर विश्वास रखते हो । किन्तु सावधान रहना कि भूलसे कहीं हरामी-पन न आ जाय । मैं कहता हूँ कि तुम्हें उत्साह बढ़ाना चाहिये । जब मेरा यह कहना है तो तुम्हारे उत्साहमें कमी होनेका कोई भी कारण नहीं है । केवल मन ही तुम्हें धोखा दे रहा है । उत्साहभङ्गकी बात मनमें आने ही मत दो, हमेशा उत्साह रक्खो ।

सा०—शान्ति और प्रसन्नता न मिलनेपर मेरा उत्साह ढीला पड़ जाता है ।

भ०—जब तुम मुझपर भरोसा रखते हो तो फिर कार्यकी सफलता-की ओर क्यों ध्यान देते हो ? वह भी तो कामना ही है ।

सा०—कामना तो है किन्तु वह है तो केवल भजन-ध्यानकी वृद्धिके लिये ही ।

भ०—जब तुम हमारी शरण आ गये हो तो भजन-ध्यानकी वृद्धिके लिये शान्ति और प्रसन्नताकी तुम्हें चिन्ता क्यों है ? तुझे तो मेरे आज्ञापालनपर ही विशेष ध्यान रखना चाहिये । कार्यके फलपर नहीं ।

सा०—कार्य सफल न होनेसे उत्साहभङ्ग होगा और उत्साहभङ्ग होनेसे भजन-ध्यान नहीं बनेगा ।

भ०-यह तो ठीक है, किन्तु सफलताकी कमी देखकर भी उत्साहमें कमी नहीं होनी चाहिये । मुझपर विश्वास करके उत्तरोत्तर मेरी आज्ञासे उत्साह बढ़ाना चाहिये ।

सा०-यह बात तो ठीक और युक्तिसंगत है किन्तु फिर भी शान्ति और प्रसन्नता न मिलनेपर उत्साहमें कमी आ ही जाती है ।

भ०-ऐसा होता है तो तुमने फिर मेरी बातपर कहाँ ध्यान दिया ? इसमें तो केवल तुम्हारे मनका धोखा ही है ।

सा०-भगवन् ! क्या इसमें मेरे सञ्चित पाप कारण नहीं हैं ? क्या वे मेरे उत्साहमें बाधा नहीं डाल रहे हैं ?

भ०-मेरी शरण हो जानेपर पाप रहते ही नहीं ।

सा०-यह मैं जानता हूँ किन्तु मैं वास्तवमें आपकी पूर्णतया शरण कहाँ हुआ हूँ ? अभीतक तो केवल वचनमात्रसे ही मैं आपकी शरण हूँ ।

भ०-वचनमात्रसे भी जो एक बार मेरी शरण आ जाता है उसका भी मैं परित्याग नहीं करता । किन्तु तुम्हें तो तुम्हारा जैसा भाव है उसके अनुसार मेरे शरण होनेके लिये खूब कोशिश करनी चाहिये ।

सा०-कोशिश तो खूब करता हूँ, किन्तु मनके आगे मेरी कुछ चलती नहीं ।

भ०-खूब कोशिश करता हूँ यह मानना गलत है । कोशिश थोड़ी करते हो और उसको मान बहुत लेते हो ।

सा०—इसके सुधारके लिये मैं विशेष कोशिश करूँगा; किन्तु शरीरमें और सांसारिक विषयोंमें आसक्ति रहने तथा मन चञ्चल होनेके कारण आपकी दया बिना पूर्णतया शरण होना बहुत कठिन प्रतीत होता है ।

भ०—कठिन मानते हो इसीलिये कठिन प्रतीत हो रहा है। वास्तवमें कठिन नहीं है ।

सा०—कठिन कैसे नहीं मानूँ ? मुझे तो ऐसा प्रत्यक्ष मालूम होता है ।

भ०—ठीक मालूम हो तो होता रहे किन्तु तुम्हें हमारी बातकी ओर ही ध्यान देना चाहिये ।

सा०—आजसे मैं आपकी दयापर भरोसा रखकर कोशिश करूँगा जिससे वह मुझे कठिन भी मालूम न पड़े । किन्तु सुना है कि आपके थोड़े-से भी नाम-जप तथा ध्यानसे सब पापोंका नाश हो जाता है । शास्त्र और आप भी ऐसा ही कहते हैं फिर वृत्तियाँ मलिन होनेका क्या कारण है ? थोड़ा-सा भजन-ध्यान तो मेरेद्वारा भी होता ही होगा ।

भ०—भजन-ध्यानसे सब पापोंका नाश होता है यह सत्य है किन्तु इसमें कोई विश्वास करे तब न । तुम्हारा भी तो इसमें पूरा विश्वास नहीं है, क्योंकि तुम मान रहे हो कि पापोंका नाश नहीं हुआ । वे अभी वैसे ही पड़े हैं ।

सा०—विश्वास न होनेमें क्या कारण है ?

भ०—नीच* और नास्तिकोंका† संग, सञ्चित पाप और दुर्गुण।

सा०—पाप और दुर्गुण क्या अलग-अलग वस्तु हैं ?

भ०—चोरी, जारी, झूठ, हिंसा और दम्भ-पाखण्ड आदि पाप हैं तथा राग, द्वेष, काम, क्रोध, दर्प और अहङ्कार आदि दुर्गुण हैं।

सा०—इन सबका नाश कैसे हो ?

भ०—इनके नाशके लिये निष्काम भावसे भजन, ध्यान, सेवा और सत्संग आदि करना ही सबसे बढ़कर उपाय है।

सा०—सुना है कि वैराग्य होनेसे भी राग-द्वेषादि दोषोंका नाश हो जाता है और उससे भजन-ध्यानका साधन भी अच्छा होता है।

भ०—ठीक है, वैराग्यसे भजन-ध्यानका साधन बढ़ता है! किन्तु अन्तःकरण शुद्ध हुए बिना दृढ़ वैराग्य भी तो नहीं होता। यदि कहो कि शरीर और सांसारिक भोगोंमें दुःख और दोषबुद्धि करनेसे भी वैराग्य हो सकता है, सो ठीक है। पर यह वृत्ति भी उपर्युक्त साधनोंसे ही होती है। अतएव भजन, ध्यान, सेवा और सत्संग आदि करनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

* * * * *

सा०—भगवन्! अब यह बतलाइये कि आप प्रत्यक्ष दर्शन कब देंगे ?

---

* झूठ, कपट, चोरी, जारी, हिंसा आदि शास्त्रविपरीत कर्म करनेवालेको नीच कहते हैं।

† ईश्वरको तथा श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रको न माननेवालेको नास्तिक कहते हैं।

भ०—इसके लिये तुम चिन्ता क्यों करते हो ? जब हम ठीक समझेंगे उसी वक्त दे देंगे। वैद्य जब ठीक समझता है तब आप ही सोचकर रोगीको अन्न देता है। रोगीको तो वैद्यपर ही निर्भर रहना चाहिये।

सा०—आपका कथन ठीक है। किन्तु रोगीको भूख लगती है तो वह 'मुझे अन्न कब मिलेगा' ऐसा कहता ही है। जो अन्नके वास्ते आतुर होता है वह तो पूछता ही रहता है।

भ०—वैद्य जानता है कि रोगीकी भूख सच्ची है या झूठी। भूख देखकर भी यदि वैद्य रोगीको अन्न नहीं देता तो उस न देनेमें भी उसका हित ही है।

सा०—ठीक है, किन्तु आपके दर्शन न देनेमें क्या हित है यह मैं नहीं समझता। मुझे तो दर्शन देनेमें ही हित दीखता है। रोटीसे तो नुकसान भी हो सकता है किन्तु आपके दर्शनसे कभी नुकसान नहीं हो सकता बल्कि परम लाभ होता है इसलिये आपका मिलना रोटी मिलनेके सदृश नहीं है।

भ०—वैद्यको जब जिस चीजके देनेसे सुधार होना मालूम पड़ता है उसीको उचित समयपर वह रोगीको देता है। इसमें तो रोगीको वैद्यपर ही निर्भर रहना चाहिये। वैद्य सच्ची भूख समझकर रोगीको रोटी देता है और उससे नुकसान भी नहीं होता। यद्यपि मेरा मिलना परम लाभदायक है किन्तु मुझमें पूर्ण प्रेम और श्रद्धारूप सच्ची भूखके विना मेरा दर्शन हो नहीं सकता।

सा०–श्रद्धा और प्रेमकी तो मुझमें बहुत ही कमी है और मुझे उसकी पूर्ति होनी भी बहुत कठिन प्रतीत होती है। अतएव मेरे लिये तो आपके दर्शन असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य जरूर ही हैं।

भ०–ऐसा मानना तुम्हारी बड़ी भूल है, ऐसा माननेसे ही तो दर्शन होनेमें विलम्ब होता है।

सा०–नहीं मानूँ तो क्या करूँ ? कैसे न मानूँ। पूर्ण श्रद्धा और प्रेमके विना तो दर्शन हो नहीं सकते और उनकी मुझमें बहुत ही कमी है।

भ०–क्या कमीकी पूर्ति नहीं हो सकती ?

सा०–हो सकती है, किन्तु जिस तरहसे होती आयी है यदि उसी तरहसे होती रही तो इस जन्ममें तो इस कमीकी पूर्ति होनी सम्भव नहीं।

भ०–ऐसा सोचकर तुम स्वयं ही अपने मार्गमें क्यों रुकावट डालते हो ? क्या सौ बरसका कार्य एक मिनिटमें नहीं हो सकता ?

सा०–हाँ, आपकी कृपासे सब कुछ हो सकता है।

भ०–फिर यह हिसाब क्यों लगा लिया कि इस जन्ममें अब सम्भव नहीं।

सा०–यह मेरी मूर्खता है पर अब आप ऐसी कृपा कीजिये जिससे आपमें शीघ्र ही पूर्ण श्रद्धा और अनन्य प्रेम हो जाय।

भ०–क्या मुझमें तुम्हारी पूर्ण श्रद्धा और प्रेम होना मैं नहीं चाहता ? क्या मैं इसमें बाधा डालता हूँ ?

सा०–इसमें बाधा डालनेकी तो बात ही क्या है ? आप तो मदद ही करते हैं। किन्तु श्रद्धा और प्रेमकी पूर्तिमें विलम्ब हो रहा है इसलिये प्रार्थना की जाती है।

भ०–ठीक है। किन्तु पूर्ण प्रेम और श्रद्धाकी जो कमी है उसकी पूर्ति करनेके लिये मेरा आश्रय लेकर खूब प्रयत्न करना चाहिये।

सा०–भगवन् ! मैंने सुना है कि रोनेसे भी उसकी पूर्ति होती है। क्या यह ठीक है ?

भ०–वह रोना दूसरा है।

सा०–दूसरा कौन-सा और कैसा ?

भ०–वह रोना हृदयसे होता है; जैसे कि कोई आर्त दुखी आदमी दुःखनिवृत्तिके लिये सच्चे हृदयसे रोता है।

सा०–ठीक है। चाहता तो वैसा ही हूँ, किन्तु सब समय वैसा रोना आता नहीं।

भ०–इससे यह निश्चित होता है कि बुद्धिके विचारद्वारा तो तुम रोना चाहते हो, किन्तु तुम्हारा मन नहीं चाहता।

सा०–भगवन् ! यदि मन ही चाहने लगे तो फिर आपसे प्रार्थना ही क्यों करूँ ? मन नहीं चाहता इसीलिये तो आपकी मदद चाहता हूँ।

भ०–मेरी आज्ञाओंके पालन करनेमें तत्पर रहनेसे ही मेरी पूरी

मदद मिलती है। यह विश्वास रक्खो कि इसमें तत्पर होनेसे कठिन-से-कठिन भी काम सहजमें हो सकता है।

सा०—भगवन् ! आप जैसा कहते हैं वैसा ही करूँगा, किन्तु होगा सब आपकी कृपासे ही। मैं तो निमित्तमात्र हूँ। इसलिये आपकी यह आज्ञा मानकर अब विशेषरूपसे कोशिश करूँगा, मुझे निमित्त बनाकर जो कुछ करा लेना है, सो करा लीजिये।

भ०—ऐसा मान लेनेसे तुम्हारेमें कहीं हरामीपन न आ जाय !

सा०—भगवन् ! क्या आपसे मदद माँगना भी हरामीपन है।

भ०—मदद तो माँगता रहे, किन्तु काम करनेसे जी चुराता रहे और आज्ञापालन करे नहीं, इसीका नाम हरामीपन है। जो कुछ मैंने बतलाया है मुझमें चित्त लगाकर वैसा ही करते रहो। आगे-पीछेका कुछ भी चिन्तन मत करो। जो कुछ हो प्रसन्नतापूर्वक देखते रहो। इसीका नाम शरणागति है। विश्वास रक्खो कि इस प्रकार शरण होनेसे सब कार्योंकी सिद्धि हो सकती है।

सा०—विश्वास तो करता हूँ किन्तु आतुरताके कारण भूल हो जाती है और परमशान्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिकी ओर लक्ष्य चला ही जाता है।

भ०—जैसे कार्यके फलकी ओर देखते हो वैसे कार्यकी तरफ क्यों नहीं देखते ? मेरी आज्ञाके अनुसार कार्य करनेसे ही मेरेमें श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि होकर मेरी प्राप्ति होती है।

सा०–किन्तु प्रभो ! आपमें श्रद्धा और प्रेमके हुए बिना आज्ञाका पालन भी तो नहीं हो सकता ।

भ०–जितनी श्रद्धा और प्रेमसे मेरी आज्ञाका पालन हो सके उतनी श्रद्धा और प्रेम तो तुममें है ही ।

सा०–फिर आपकी आज्ञाका अक्षरशः पालन न होनेमें क्या कारण है ?

भ०–सञ्चित पाप एवं राग, द्वेष, काम, क्रोधादि दुर्गुण ही बाधा डालनेमें हेतु हैं ।

सा०–इनका नाश कैसे हो ?

भ०–यह तो पहले ही बतला चुका हूँ, भजन, ध्यान, सेवा, सत्संग आदि साधनोंसे होगा ।

सा०–इसके लिये अब और भी विशेषरूपसे कोशिश करनेकी चेष्टा करूँगा । किन्तु यह भी तो आपकी मददसे ही होगा ।

भ०–मदद तो मुझसे चाहो जितनी ही मिल सकती है ।

* * * *

सा०–प्रभो ! कोई-कोई कहते हैं कि प्रभुके प्रत्यक्ष दर्शन ज्ञानचक्षुसे ही होते हैं, चर्मचक्षुसे नहीं—सो क्या बात है ?

भ०–उनका कहना ठीक नहीं है । भक्त जिस प्रकार मेरा दर्शन चाहता है उसको मैं उसी प्रकार दर्शन दे सकता हूँ ।

सा०–आपका विग्रह तो दिव्य है फिर चर्मचक्षुसे उसके दर्शन कैसे हो सकते हैं ?

भ०—मेरे अनुग्रहसे। मैं उसको ऐसी शक्ति प्रदान कर देता हूँ जिसके आश्रयसे वह चर्मचक्षुके द्वारा भी मेरे दिव्य स्वरूपका दर्शन कर सकता है।

सा०—जहाँ आप दिव्य साकारस्वरूपसे प्रकट होते हैं वहाँ जितने मनुष्य रहते हैं उन सबको आपके दर्शन होते हैं या उनमेंसे किसी एक-दोको ?

भ०—मैं जैसा चाहता हूँ वैसा ही हो सकता है।

सा०—चर्मदृष्टि तो सबकी ही समान है फिर किसीको दर्शन होते हैं और किसीको नहीं, यह कैसे ?

भ०—इसमें कोई आश्चर्य नहीं। एक योगी भी अपनी योगशक्तिसे ऐसा काम कर सकता है कि बहुतोंके सामने प्रकट होकर भी किसीके दृष्टिगोचर हो और किसीके नहीं।

सा०—जब आप सबके दृष्टिगोचर होते हैं तब सबको एक ही प्रकारसे दीखते हैं या भिन्न-भिन्न प्रकारसे ?

भ०—एक प्रकारसे भी दीख सकता हूँ और भिन्न-भिन्न प्रकारसे भी। जो जैसा पात्र होता है अर्थात् मुझमें जिसकी जैसी भावना, प्रीति और श्रद्धा होती है उसको मैं उसी प्रकार दिखायी देता हूँ।

सा०—आपके प्रत्यक्ष प्रकट होनेपर भी दर्शकोंमें श्रद्धाकी कमी क्यों रह जाती है ? उदाहरण देकर समझाइये।

भ०—मैं श्रद्धाकी कमी और अभाव होते हुए भी सबके सामने प्रकट हो सकता हूँ और प्रकट होनेपर भी श्रद्धाकी कमी-वेशी रह सकती है; जैसे दुर्योधनकी सभामें मैं विराट्स्वरूपसे

प्रकट हुआ और अपनी-अपनी भावनाओंके अनुसार दीख पड़ा और बहुत लोग मुझे देख भी नहीं सके।

सा०—जब आप प्रत्यक्ष अवतार लेते हैं तब तो सबको समान भावसे दीखते होंगे ?

भ०—अवतारके समय भी जिसकी जैसी भावना रहती है उसी प्रकार उसको दीखता हूँ।*

सा०—बहुत-से लोग कहते हैं कि सच्चिदानन्दघन परमात्मा साकाररूपसे भक्तके सामने प्रकट नहीं हो सकते। लोगोंको अपनी भावना ही अपने-अपने इष्टदेवके साकाररूपमें दीखने लगती है।

भ०—वे सब भूलसे कहते हैं। वे मेरे सगुणस्वरूपके रहस्यको नहीं जानते। मैं स्वयं सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही अपनी योगशक्तिसे दिव्य सगुण साकाररूपमें भक्तोंके लिये प्रकट होता हूँ। हाँ, साधनकालमें किसी-किसीको भावनासे ही मेरे दर्शनोंकी प्रतीति भी हो जाती है, किन्तु वास्तवमें वे मेरे दर्शन नहीं समझे जाते।

सा०—साधक कैसे समझे कि दर्शन प्रत्यक्ष हुए, या मनकी भावना ही है।

भ०—प्रत्यक्ष और भावनामें तो रात-दिनका-सा अन्तर है। जब मेरा प्रत्यक्ष दर्शन होता है तो उसमें भक्तोंके सब लक्षण

---

* जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

घटने लग जाते हैं और उस समयकी सारी घटनाएँ भी प्रमाणित होती हैं, जैसे ध्रुवको मेरे प्रत्यक्ष दर्शन हुए और शङ्ख छुआनेसे विना पढ़े ही उसे सब शास्त्रोंका ज्ञान हो गया, प्रह्लादके लिये मैं प्रत्यक्ष प्रकट हुआ और हिरण्यकशिपुका नाश कर डाला। ऐसी घटनाएँ भावनामात्र नहीं समझी जा सकतीं। किन्तु जो भावनासे मेरे स्वरूपकी प्रतीति होती है उसकी घटनाएँ इस प्रकार प्रमाणित नहीं होतीं।

सा०—कितने ही कहते हैं कि भगवान् तो सर्वव्यापी हैं फिर वे एक देशमें कैसे प्रकट हो सकते हैं? ऐसा होनेपर क्या आपके सर्वव्यापीपनमें दोष नहीं आता?

भ०—नहीं, जैसे अग्नि सर्वव्यापी है। कोई अग्निके इच्छुक अग्निको साधनद्वारा किसी एक देशमें या एक साथ अनेक देशोंमें प्रज्वलित करते हैं वे अग्निदेव सब देशोंमें मौजूद रहते हुए ही अपनी सर्वशक्तिको लेकर एक देशमें या अनेक देशोंमें प्रकट होते हैं। और मैं तो अग्निसे भी बढ़कर व्याप्त और अपरिमित शक्तिशाली हूँ, फिर मुझ सर्वव्यापीके लिये सब जगह स्थित रहते हुए ही एक साथ एक या अनेक जगह सर्वशक्तिसे प्रकट होनेमें क्या आश्चर्य है।

सा०—आप निर्गुण निराकार होते हुए दिव्य सगुण साकाररूपसे कैसे प्रकट होते हैं?

भ०—निर्मल आकाशमें भी परमाणुरूपमें जल रहता है वही जल

बूँदोंके रूपमें आकर बरसता है और फिर वही उससे भी स्थूल बर्फ और ओलेके रूपमें भी आ जाता है। वैसे ही मैं सत् और असत्से परे होनेपर भी दिव्य ज्ञानके रूपमें शुद्ध सूक्ष्म हुई बुद्धिके द्वारा जाननेमें आता हूँ। तदनन्तर मैं नित्य विज्ञानानन्द हुआ ही अपनी योगशक्तिसे जब दिव्य प्रकाशके रूपमें प्रकट होता हूँ तब ज्योतिर्मयरूपसे योगियोंको हृदयमें दर्शन देता हूँ और फिर दिव्य प्रकाशरूप हुआ ही मैं दिव्य सगुण साकाररूपमें प्रकट होकर भक्तको प्रत्यक्ष दीखता हूँ। जैसे सूर्य प्रकट होकर सबके नेत्रोंको अपना प्रकाश देकर अपना दर्शन देता है।

सा०—कोई-कोई कहते हैं कि जल तो जड है, उसमें इस प्रकारका विकार हो सकता है; किन्तु निर्विकार चेतनमें यह सम्भव नहीं।

भ०—मुझ निर्विकार चेतनमें यह विकार नहीं है। यह तो मेरी शक्तिका प्रभाव है। मैं तो असम्भवको भी सम्भव कर सकता हूँ। मेरे लिये कुछ भी अशक्य नहीं है।

सा०—अच्छा, यह बतलाइये कि आपके साक्षात् दर्शन होनेके लिये सबसे बढ़कर क्या उपाय है?

भ०—मुझमें अनन्य भक्ति अर्थात् मेरी अनन्य शरणागति।

सा०—अनन्य भक्तिद्वारा किन-किन लक्षणोंसे युक्त होनेपर आप मिलते हैं?

भ०—दैवी सम्पत्तिके लक्षणोंसे युक्त होनेपर (गीता १६। १ से ३ तक)।

सा०-दैवी सम्पत्तिके सब लक्षण आनेपर ही आप मिलते हैं या पहले भी ?

भ०-यह कोई खास नियम नहीं है कि दैवी सम्पत्तिके सब गुण होने ही चाहिये; किन्तु अनन्य भक्ति अवश्य होनी चाहिये ।

सा०-दैवी सम्पत्तिके गुण कम होनेपर भी आप केवल अनन्य भक्तिसे मिलते हैं। तो फिर मिलनेके बाद दैवी सम्पत्तिके सब लक्षण आ जाते होंगे ?

भ०-दैवी सम्पत्तिके लक्षण ही क्या और भी विशेष गुण आ जाते हैं।

सा०-वे विशेष गुण कौन-कौन-से हैं ?

भ०-समता आदि (गीता १२ । १३ से २० तक)।

सा०-वे लक्षण आपकी प्राप्ति होनेके पीछे ही आते हैं या पहले भी ?

भ०-पहले भी कुछ आ जाते हैं किन्तु मेरी प्राप्ति होनेके बाद तो आ ही जाते हैं।

सा०-आपकी प्राप्तिके लिये भक्तका क्या कर्तव्य है ?

भ०-यह तो बतला ही चुका कि केवल मेरी सब प्रकारसे शरण होना ।

सा०-शरणमें भी आप स्वयं क्यों नहीं ले लेते ?

भ०-किसीको जबरदस्ती शरणमें ले लेना मेरा कर्त्तव्य नहीं है, शरण होना तो भक्तका कर्त्तव्य है ।

सा०—इस विषयमें विवेकविचारसे जो शरण होना चाहता है उसको आप मदद देते हैं या नहीं ?

भ०—जो सरल चित्तसे मदद माँगता है, उसको अवश्य देता हूँ।

सा०—जो आपकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे आपकी शरण होना चाहता है उसके साधनमें ऋद्धि, सिद्धि, देवता आदि विघ्न डाल सकते हैं या नहीं ?

भ०—कोई भी विघ्न नहीं डाल सकते।

सा०—देखनेमें तो आता है कि आपकी भक्ति करनेवाले पुरुषोंको अनेक विघ्नोंका सामना करना पड़ता है और उससे साधनमें रुकावटें भी पड़ जाती हैं।

भ०—वे सब प्रकारसे मेरी शरण नहीं हैं।

सा०—आपको प्राप्त होनेके बाद अणिमादि सिद्धियाँ भी उसमें आ जाती हैं क्या ?

भ०—भक्तको इनकी आवश्यकता ही नहीं है।

सा०—यदि भक्त इच्छा करे तो भी ये प्राप्त हो सकती हैं या नहीं ?

भ०—मेरा भक्त इन सबकी इच्छा करता ही नहीं और करे तो वह मेरा अनन्य भक्त ही नहीं।

सा०—आपकी प्राप्ति होनेके बाद आपके भक्तका क्या अधिकार होता है ?

भ०—वह अपना कुछ भी अधिकार नहीं मानता है और न चाहता ही है।

सा०—उसके न चाहनेपर भी आप तो दे सकते हैं ?

भ०—हाँ, मुझे आवश्यकता होती है तो दे देता हूँ ।

सा०—आपको भी आवश्यकता ?

भ०—हाँ, संसारमें जीवोंके कल्याणके लिये, जो धर्म और भक्तिके प्रचार करनेकी आवश्यकता है वही मेरी आवश्यकता है ।

सा०—उस समय आप उसको कितना अधिकार देते हैं ?

भ०—जितना मुझको उससे कार्य लेना होता है ।

सा०—यह अधिकार क्या आप सभी भक्तोंको दे सकते हैं या किसी-किसीको ?

भ०—उदासीनको छोड़कर जो प्रसन्नताके साथ लेना चाहता है उन सभीको यह अधिकार दे सकता हूँ ।

सा०—धर्म, सदाचार और भक्तिके प्रचारार्थ पूर्ण अधिकार देनेके योग्य आप किसको समझते हैं ? कैसे स्वभाववाले भक्तको आप पूरा अधिकार दे सकते हैं ?

भ०—जिसका दूसरोंके हितके लिये अनायास ही सर्वस्वत्याग करनेका स्वभाव है, जिसमें सबका कल्याण हो, ऐसी स्वाभाविक वृत्ति सदासे चली आ रही है, और जो दूसरोंकी प्रसन्नतापर ही सदा प्रसन्न रहता है, ऐसे उदार स्वभाववाले परम दयालु प्रेमी भक्तको मैं अपना पूर्ण अधिकार दे सकता हूँ ।

सा०—क्या आपकी प्राप्तिके बाद भी सबके स्वभाव एक-से नहीं होते ?

भ०—नहीं, क्योंकि साधनकालमें जिसका जैसा स्वभाव होता है

प्राय: वैसा ही सिद्धावस्थामें भी होता है। किन्तु हर्ष, शोक, राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि विकारोंका अत्यन्ताभाव सभीमें हो जाता है। एवं समता, शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति भी सबको समानभावसे ही होती है तथा शास्त्राज्ञाके प्रतिकूल कर्म तो किसीके भी नहीं होते। किन्तु सारे कर्म (शास्त्रानुकूल क्रियाएँ) मेरी आज्ञाके अनुसार होते हुए भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

सा०—फिर उनकी बाहरी क्रियाओंमें अन्तर होनेमें क्या हेतु है?

भ०—किसीका एकान्तमें बैठकर साधन करनेका स्वभाव होता है और किसीका सेवा करनेका। स्वभाव, प्रारब्ध और बुद्धि भिन्न-भिन्न होनेके कारण तथा देश-काल और परिस्थितिके कारण भी बाहरकी क्रियाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं।

सा०—ऐसी अवस्थामें सबसे उत्तम तो वही है जिसको आप पूरा अधिकार दे सकते हों।

भ०—इसमें उत्तम-मध्यम कोई नहीं है। सभी उत्तम हैं। जिसके स्वभावमें स्वाभाविक ही काम करनेका उत्साह विशेष होता है उसके ऊपर कामका भार विशेष दिया जाता है।

सा०—आपके बतलाये हुए काममें तो सबको उत्साह होना चाहिये।

भ०—मेरे बतलाये हुए काममें उत्साह तो सभीको होता है किन्तु मैं उनके स्वभावके अनुसार ही कामका भार देता हूँ, किसीका स्वभाव मेरे पास रहनेका होता है तो मैं उसको

बाहर नहीं भेजता। जिसका लोकसेवा करनेका स्वभाव होता है उसके जिम्मे लोकसेवाका काम लगाता हूँ। जिसमें विशेष उपरामता देखता हूँ उसके जिम्मे काम नहीं लगाता। जिसका जैसा स्वभाव और जैसी योग्यता देखता हूँ उसके अनुसार ही उसके जिम्मे काम लगाता हूँ।

सा०—किन्तु भक्तको तो ऐसा ही स्वभाव बनाना चाहिये जिससे आप निःसङ्कोच होकर उसके जिम्मे विशेष काम लगा सकें। अतः इस प्रकारका स्वभाव बनानेके लिये सबसे बढ़कर उपाय क्या है?

भ०—केवल एकमात्र मेरी अनन्य शरण ही।

सा०—अनन्य शरण किसे कहते हैं, कृपया बतलाइये?

भ०—गुण और प्रभावके सहित मेरे नाम और रूपका अनन्य भावसे निरन्तर चिन्तन करना, मेरा चिन्तन रखते हुए ही केवल मेरी प्रीत्यर्थ मेरी आज्ञाका पालन करना तथा मेरे किये हुए विधानमें हर समय प्रसन्न रहना।

सा०—प्रभो! आपका ध्यान (चिन्तन) करना मुझे भी अच्छा मालूम पड़ता है। किन्तु मन स्थिर नहीं होता। जल्दीसे इधर-उधर भाग जाता है। इसका क्या कारण है?

भ०—आसक्तिके कारण मनको संसारके विषय-भोग प्रिय लगते हैं। तथा अनेक जन्मोंके जो संस्कार इकट्ठे हो रहे हैं वे मनको स्थिर नहीं होने देते।

सा०—जिनसे न तो मेरे किसी प्रयोजनकी सिद्धि होती है और

न जिनमें मेरी आसक्ति ही है ऐसे व्यर्थ पदार्थोंका चिन्तन क्यों होता है ?

भ०—मन स्वाभाविक ही चञ्चल है इसलिये उसे व्यर्थ पदार्थोंके चिन्तन करनेकी आदत पड़ी हुई है और उसे उनका चिन्तन रुचिकर भी है, यह भी एक प्रकारकी आसक्ति ही है, इसीलिये वह उनका चिन्तन करता है ।

सा०—इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये ?

भ०—मनकी सँभाल रखनी चाहिये कि वह मेरे रूपका ध्यान छोड़कर दूसरे किसी भी पदार्थोंका चिन्तन न करने पावे । इसपर भी यदि दूसरे पदार्थोंका चिन्तन करने लगे तो तुरंत इसे समझाकर या बलपूर्वक वहाँसे हटाकर मेरे ध्यानमें लगानेकी पुनः-पुनः तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये ।

सा०—मनको दूसरे पदार्थोंसे कैसे हटाया जाय ?

भ०—जैसे कोई बच्चा हाथमें चाकू या कैंची ले लेता है तो माता उसको समझाकर छुड़ा लेती है । यदि मूर्खताके कारण बच्चा नहीं छोड़ना चाहता तो माता उसके रोनेकी परवा न रखकर बलात्कारसे भी छुड़ा लेती है । वैसे ही इस मनको समझाकर दूसरे पदार्थोंका चिन्तन छुड़ाना चाहिये क्योंकि यह मन भी बालककी भाँति चञ्चल है । परिणाममें होनेवाली हानिपर विचार नहीं करता ।

सा०—यह तो माल्रम ही नहीं पड़ता कि मन धोखा देकर

कहाँ और कब किस चीजको चुपचाप जाकर पकड़ लेता है; इसके लिये क्या किया जाय ?

भ०—जैसे माता बच्चेका बराबर ध्यान रखती है वैसे ही मनकी निगरानी रखनी चाहिये ।

सा०—मन बहुत ही चञ्चल, बलवान् और उद्दण्ड है, इसलिये इसका रोकना बहुत ही कठिन प्रतीत होता है ?

भ०—कठिन तो है, पर जितना तुम मानते हो उतना नहीं है, क्योंकि यह प्रयत्न करनेसे रुक सकता है । अतएव इसको कठिन मानकर निराश नहीं होना चाहिये । माता बच्चेकी रक्षा करनेमें कभी कठिनता नहीं समझती यदि समझे तो उसका पालन ही कैसे हो ?

सा०—क्या मन सर्वथा बच्चेके ही समान है ?

भ०—नहीं, बच्चेसे भी बलवान् और उद्दण्ड अधिक है ।

सा०—तब फिर इसका निग्रह कैसे किया जाय ?

भ०—निग्रह तो किया जा सकता है क्योंकि मनसे बुद्धि बलवान् है और बुद्धिसे भी तू अत्यन्त बलवान् है इसलिये जैसे माता अपनी समझदार लड़कीके द्वारा अपने छोटे बच्चेको समझाकर या लोभ देकर यदि वह नहीं मानता तो भय दिखलाकर भी अनिष्टसे बचाकर इष्टमें लगा देती है वैसे ही मनको बुद्धिके द्वारा भोगोंमें भय दिखाकर उसे इन नाशवान् और क्षणभङ्गुर सांसारिक पदार्थोंसे हटाकर पुनः-पुनः मुझमें लगाना चाहिये ।

सा०—इस प्रकार चेष्टा करनेपर भी मैं अपनी विजय नहीं देख रहा हूँ ।

भ०—यदि विजय न हो तो भी डटे रहो, घबराओ मत । जब मेरी मदद है तो निराश होनेका कोई कारण ही नहीं है । विश्वास रक्खो कि लड़ते-लड़ते आखिरमें तुम्हारी विजय निश्चित है ।

सा०—प्रभो ! अब यह बतलाइये कि जब मैं आपका ध्यान करनेके लिये एकान्तमें बैठता हूँ तो निद्रा, आलस्य सताने लगते हैं इसके लिये क्या करना चाहिये ?

भ०—हल्का (लघु) और सात्त्विक तो भोजन करना चाहिये । शरीरको स्थिर और सीधा रखते हुए एवं नेत्रोंकी दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखकर पद्मासन या स्वस्तिकादि किसी आसनसे सुखपूर्वक बैठना चाहिये तथा दिव्य स्तोत्रोंके द्वारा मेरी स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये, एवं मेरे नाम, रूप, गुण, लीला और प्रभावादि जो तुमने महापुरुषोंसे सुने हैं या शास्त्रोंमें पढ़े हैं, उनका बारंबार कीर्तन और मनन करना चाहिये । ऐसा करनेसे सात्त्विक भाव होकर बुद्धिमें जागृति हो जाती है फिर तमोगुणके कार्य निद्रा और आलस्य नहीं आ सकते ।

सा०—भगवन् ! आपने गीतामें कहा है कि मेरा सर्वदा निरन्तर चिन्तन करनेसे मेरी प्राप्ति सुलभ है, क्योंकि मैं किये हुए साधनकी रक्षा और कमीकी पूर्ति करके बहुत ही शीघ्र

संसार-सागरसे उद्धार कर देता हूँ ? किन्तु आप अपनी प्राप्ति जितनी सुलभ और शीघ्रतासे होनेवाली बतलाते हैं वैसी मुझे प्रतीत नहीं होती ?

भ०—मेरा नित्य निरन्तर चिन्तन नहीं होता है, इसीसे मेरी प्राप्ति तुझे कठिन प्रतीत होती है।

सा०—आपका कहना यथार्थ है। आपका निरन्तर चिन्तन करनेसे अवश्य आपकी प्राप्ति शीघ्र और सुगमतासे हो सकती है। किन्तु निरन्तर आपका चिन्तन होना ही तो कठिन है। उसके लिये क्या करना चाहिये ?

भ०—मेरे गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण ही निरन्तर मेरा चिन्तन करना कठिन प्रतीत होता है। वास्तवमें वह कठिन नहीं है।

सा०—आपका गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्य क्या है ? बतलाइये।

भ०—अतिशय समता, शान्ति, दया, प्रेम, क्षमा, माधुर्य, वात्सल्य, गम्भीरता, उदारता, सुहृदतादि मेरे गुण हैं। सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति, सामर्थ्य और असम्भवको भी सम्भव कर देना आदि मेरा प्रभाव है। जैसे परमाणु, भाप, बादल, बूँदें और ओले आदि सब जल ही हैं, वैसे ही सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार, व्यक्त, अव्यक्त, जड, चेतन, स्थावर, जंगम, सत्, असत् आदि जो कुछ भी है तथा जो इससे भी परे है वह सब मैं ही हूँ। यह मेरा तत्त्व है। मेरे दर्शन, भाषण, स्पर्श,

चिन्तन, कीर्तन, अर्चन, वन्दन, स्तवन आदिसे पापी भी परम पवित्र हो जाता है, यह विश्वास करना तथा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वत्र समभावसे स्थित मुझ मनुष्यादि शरीरोंमें प्रकट होनेवाले और अवतार लेनेवाले परमात्माको पहचानना यह रहस्य है।

सा०—इन सबको कैसे जाना जाय ?

भ०—जैसे छोटा बच्चा आरम्भमें विद्या पढ़नेसे जी चुराता है किन्तु जब विद्या पढ़ते-पढ़ते उसके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको ज़ान लेता है तो फिर बड़े प्रेम और उत्साहके साथ विद्याभ्यास करने लगता है तथा दूसरोंके छुड़ानेपर भी नहीं छोड़ना चाहता, वैसे ही सत्संगके द्वारा मेरे भजन, ध्यान आदिका साधन करते-करते मनुष्य मेरे गुण, प्रभाव, रहस्यको जान सकता है फिर उसे ऐसा आनन्द और शान्ति मिलती है कि वह छुड़ानेपर भी नहीं छोड़ सकता।

सा०—प्रभो! क्या आपका निरन्तर चिन्तन रखते हुए आपकी आज्ञाके अनुसार शरीर और इन्द्रियोंके द्वारा व्यापार भी हो सकता है ?

भ०—दृढ़ अभ्याससे हो सकता है। जैसे कछुएका अपने अण्डोंमें, गौका अपने छोटे बच्चेमें, कामीका स्त्रीमें, लोभीका धनमें, मोटर-ड्राइवरका सड़कमें, नटनीका अपने पैरोंमें ध्यान रहते हुए उनके शरीर और इन्द्रियोंके द्वारा सब चेष्टाएँ

भी होती हैं इसी प्रकार मेरा निरन्तर चिन्तन करते हुए मेरी आज्ञाके अनुसार शरीर और इन्द्रियोंके द्वारा सब काम हो सकते हैं।

सा०—आपकी आज्ञा क्या है ?

भ०—सत् शास्त्र, महापुरुषोंके वचन, हृदयकी सात्त्विक स्फुरणाएँ—ये तीनों मेरी आज्ञाएँ हैं। इन तीनोंमें मतभेद प्रतीत होनेपर जहाँ दोकी एकता हो उसीको मेरी आज्ञा समझकर काममें लाना चाहिये।

सा०—जहाँ तीनोंका भिन्न-भिन्न मत प्रतीत हो वहाँ क्या किया जाय ?

भ०—वहाँ महापुरुषोंकी आज्ञाका पालन करना चाहिये।

सा०—क्या इसमें शास्त्रोंकी अवहेलना नहीं होगी ?

भ०—नहीं, क्योंकि महापुरुष शास्त्रोंके विपरीत नहीं कह सकते। सर्वसाधारणके लिये शास्त्रोंका निर्णय करना कठिन है तथा इसका यथार्थ तात्पर्य देश और कालके अनुसार महात्मालोग ही जान सकते हैं। इसीलिये महापुरुष जो मार्ग बतलावें वही ठीक है।

सा०—केवल हृदयकी सात्त्विक स्फुरणाको ही भगवत्-आज्ञा मान लें तो क्या आपत्ति है ?

भ०—मान सकते हो। किन्तु वह स्फुरणा शास्त्र या महापुरुषोंके वचनोंके अनुकूल होनी चाहिये। क्योंकि साधकको शासककी आवश्यकता है, नहीं तो अज्ञानवश कहीं

राजसी, तामसी स्फुरणाको सात्त्विक माननेसे साधकमें उच्छृङ्खलता आकर उसका पतन हो सकता है ।

सा०—यहाँ शास्त्रसे आपका क्या अभिप्राय है ?

भ०—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि जो आर्ष ग्रन्थ हैं, वे सभी शास्त्र हैं । किन्तु यहाँपर भी मतभेद प्रतीत होनेपर श्रुतिको ही बलवान् समझना चाहिये । क्योंकि स्मृति, इतिहास, पुराणादिका आधार श्रुति ही है ।

सा०—श्रुति, स्मृति आदि सारे शास्त्रोंका ज्ञान होना साधारण मनुष्योंके लिये कठिन है, ऐसी अवस्थामें उनके लिये क्या आधार है ?

भ०—उन पुरुषोंको शास्त्रोंके ज्ञाता महापुरुषोंका आश्रय लेना चाहिये ।

सा०—महापुरुष किसे माना जाय ?

भ०—जिसको तुम अपने हृदयसे सबसे श्रेष्ठ मानते हो वे ही तुम्हारे लिये महापुरुष हैं ।

सा०—प्रभो ! मेरी मान्यतामें भूल एवं उसके कारण मुझे धोखा भी तो हो सकता है ।

भ०—उसके लिये कोई चिन्ता नहीं । मेरे आश्रित जनकी मैं स्वयं सब प्रकारसे रक्षा करता हूँ ।

सा०—प्रभो ! मैं महापुरुषकी जाँच किस आधारपर करूँ ? महापुरुषोंके लक्षण क्या हैं ?

भ०-गीताके दूसरे अध्यायमें श्लोक ५५ से ७१ तक स्थितप्रज्ञके नामसे अथवा छठे अध्यायमें श्लोक ७ से ९ तक योगीके नामसे या अध्याय १२ श्लोक १३ से १९ तक भक्तिमान्के नामसे अथवा अध्याय १४ श्लोक २२ से २५ तक गुणातीतके नामसे बतलाये हुए लक्षण जिस पुरुषमें हों वही महापुरुष है।

सा०-ऐसे महापुरुषोंका मिलना कठिन है। ऐसी परिस्थितिमें क्या करना चाहिये?

भ०-ऐसी अवस्थामें सबके लिये समझनेमें सरल और सुगम सर्वशास्त्रमयी गीता ही आधार है जो कि अर्जुनके प्रति मेरे-द्वारा कही गयी है।

सा०-प्रधानतासे गीतामें बतलाये हुए किन-किन श्लोकोंको लक्ष्यमें रखकर साधक अपना गुण और आचरण बनावे?

भ०-इसके लिये गीतामें बहुत-से श्लोक हैं; उनमेंसे मुख्यतया ज्ञानके नामसे बतलाये हुए अध्याय १३ के श्लोक ७ से ११ तक या दैवी सम्पत्तिके नामसे बतलाये हुए अध्याय १६ के श्लोक १ से ३ तक अथवा तपके नामसे बतलाये हुए अध्याय १७ के श्लोक १४ से १७ तकके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

सा०-प्रभो! अब यह बतलाइये आपने कहा कि मेरे किये हुए विधानमें हर समय प्रसन्न रहना चाहिये। इसका क्या अभिप्राय है?

भ०-सुख-दुःख, लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय आदिकी प्राप्तिरूप

मेरे किये हुए विधानको मेरा भेजा हुआ पुरस्कार मानकर सदा ही सन्तुष्ट रहना ।

सा०—इन सबके प्राप्त होनेपर सदा प्रसन्नता नहीं होती । इसका क्या कारण है ?

भ०—मेरे प्रत्येक विधानमें दया भरी हुई है, इसके तत्त्व और रहस्यको लोग नहीं जानते ।

सा०—स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि जो सांसारिक सुखदायक पदार्थ हैं वे सब मोह और आसक्तिके द्वारा मनुष्यको बाँधनेवाले हैं । इन सबको आप किस लिये देते हैं ? और इस विधानमें आपकी दयाके रहस्यको जानना क्या है ?

भ०—जैसे कोई राजा अपने प्रेमीको अपने पास शीघ्र बुलानेके लिये मोटर आदि सवारी भेजता है वैसे ही मैं पूर्वकृत पुण्योंके फलस्वरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि सांसारिक पदार्थोंको दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये एवं सदाचार, सद्गुण और मुझमें प्रेम बढ़ाकर मेरे पास शीघ्र आनेके लिये देता हूँ । इस प्रकार समझना ही मेरी दयाके रहस्यको जानना है ।

सा०—स्त्री, पुत्र, धनादि सांसारिक पदार्थोंके विनाशमें आपकी दयाका तत्त्व और रहस्य क्या है ?

भ०—जैसे पतङ्ग आदि जन्तु रोशनीको देखकर मोह और आसक्तिके कारण उसमें गिरकर भस्म हो जाते हैं । और उनकी ऐसी दुर्दशा देखकर दयालु मनुष्य उस रोशनीको बुझा

देता है, ऐसा करनेमें यद्यपि वे जीव नहीं जानते तो भी उसकी उनके ऊपर महान् दया ही होती है। इसी प्रकार मनुष्यको भोग और आसक्तिके द्वारा बाँधकर नरकमें डालने-वाले इन पदार्थोंका नाश करनेमें भी मेरी महान् दया ही समझनी चाहिये।

सा०–आप मनुष्यको आरोग्यता, बल और बुद्धि आदि किस लिये देते हैं?

भ०–सत्संग, सेवा और निरन्तर भजन-ध्यानके अभ्यासद्वारा मेरे गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझनेके लिये।

सा०–व्याधि और संकट आदिकी प्राप्तिमें आपकी दयाका दर्शन कैसे करें?

भ०–व्याधि और संकट आदिके भोगद्वारा पूर्वकृत किये हुए पापरूप ऋणसे मुक्ति तथा दुःखका अनुभव होनेके कारण भविष्यमें पाप करनेमें रुकावट होती है। मृत्युका भय बना रहनेसे शरीरमें वैराग्य होकर मेरी स्मृति होती है। इसके अतिरिक्त यदि व्याधिको परम तप समझकर सेवन किया जाय तो मेरी प्राप्ति भी हो सकती है। ऐसा समझना मेरी दयाका दर्शन करना है।

सा०–महापुरुषोंके संगमें आपकी दया प्रत्यक्ष है, किन्तु उनके वियोगमें आपकी दया कैसे समझी जाय?

भ०–प्रकाशके हटानेसे ही मनुष्य प्रकाशके महत्त्वको समझता है। इसलिये महापुरुषोंसे पुनः मिलनेकी उत्कट इच्छा उत्पन्न

करने और उनमें प्रेम बढ़ानेके लिये एवं उनकी प्राप्ति दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण है इस बातको जाननेके लिये ही मैं उनका वियोग देता हूँ ऐसा समझना चाहिये ।

सा०—कुसंगके दोषोंसे बचानेके लिये आप दुष्ट दुराचारी पुरुषोंका वियोग देते हैं इसमें तो आपकी दया प्रत्यक्ष है, किन्तु विना इच्छा आप उनका संग क्यों देते हैं ?

भ०—दुराचारसे होनेवाली हानियोंका दिग्दर्शन कराकर दुर्गुण और दुराचारोंसे वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये मैं ऐसे मनुष्योंका संग देता हूँ । किन्तु स्मरण रखना चाहिये, जो जान-बूझकर कुसंग करता है वह मेरा दिया हुआ नहीं है ।

सा०—सर्वसाधारण मनुष्योंके संयोग और वियोगमें आपकी दया कैसे देखें ?

भ०—उनमें दया और प्रेम करके उनकी सेवा करनेके लिये तो संयोग एवं उनमें वैराग्य करके एकान्तमें रहकर निरन्तर भजन-ध्यानका साधन करनेके लिये वियोग देता हूँ, ऐसा समझना ही मेरी दयाका देखना है ।

सा०—नीतिधर्म और भजन-ध्यानमें बाधा पहुँचानेवाले मामले-मुकद्दमे आदि झंझटोंमें आपकी दयाका अनुभव कैसे करें ?

भ०—नीति-धर्म, भजन-ध्यान आदिमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय तथा कमजोरीके कारण ही बाधा आती है । जो मनुष्य न्याय-से प्राप्त हुए मुकद्दमे आदि झंझटोंको मेरा भेजा हुआ पुरस्कार मानकर नीति और धर्म आदिसे विचलित नहीं होता है उसमें

आत्मबलको बढ़ानेवाले धीरता, वीरता, गम्भीरता आदि गुणोंकी वृद्धि होती है यह समझना ही मेरी दयाका अनुभव करना है।

सा०—भक्तकी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठादिको आप क्यों हर लेते हैं, इसमें क्या रहस्य है ?

भ०—अज्ञानरूपी निद्रासे जगाने एवं साधनकी रुकावटको दूर करने तथा दम्भको हटाकर सच्ची भक्ति बढ़ानेके लिये ही मैं मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिको हर लेता हूँ। यही रहस्य है।

सा०—आपकी विशेष दया क्या है ?

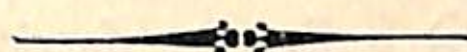
भ०—मेरे भजन, ध्यान, सेवा, सत्संग, सद्गुण और सदाचार आदिकी जो स्मृति, इच्छा और प्राप्ति होती है—यह विशेष दया है।

सा०—जब ऐसा है तब कर्मोंके अनुसार आपके किये हुए इन सब विधानोंको आपका भेजा हुआ पुरस्कार मानकर क्षण-क्षणमें मुग्ध होना चाहिये।

भ०—बात तो ऐसी ही है किन्तु लोग समझते कहाँ हैं।

सा०—इसके समझनेके लिये क्या करना चाहिये ?

भ०—गुण और प्रभावके सहित मेरे नाम-रूपका अनन्यभावसे निरन्तर चिन्तन तथा मेरा चिन्तन रखते हुए ही मेरी आज्ञाके अनुसार निष्कामभावसे कर्मोंका आचरण और मेरी दयाके रहस्यको जाननेवाले सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये।



भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा

बहुत-से लोग कहा करते हैं कि यथाशक्ति चेष्टा करनेपर भी भगवान् हमें दर्शन नहीं देते। वे लोग भगवान्‌को 'निष्ठुर, कठोर' आदि शब्दोंसे सम्बोधित किया करते हैं तथा ऐसा मान बैठे हैं कि उनका हृदय वज्रका-सा है और वे कभी पिघलते ही नहीं। उन्हें क्या पड़ी है कि वे हमारी सुध लें, हमें दर्शन दें और हमें अपनावें—ऐसी ही शिकायत बहुत-से लोगोंकी रहती है।

परन्तु बात है बिल्कुल उलटी। हमारे ऊपर प्रभुकी अपार दया है। वे देखते रहते हैं कि जरा भी गुंजाइश हो तो मैं प्रकट

होऊँ, थोड़ा भी मौका मिले तो भक्तको दर्शन दूँ। साधनाके पथमें वे पद-पदपर हमारी सहायता करते रहते हैं। लोकमें भी यह देखा जाता है कि जहाँ विशेष टान होती है, जिस पुरुषका हमारे प्रति विशेष आकर्षण होता है उसके पास और सब काम छोड़कर भी हमें जाना पड़ता है। जहाँ नहीं जाना होता वहाँ प्रायः यही मानना चाहिये कि प्रेमकी कमी है। जब हम साधारण मनुष्योंकी भी यह हालत है, तब भगवान्, जो प्रेम और दयाके अथाह सागर हैं, यदि थोड़ा प्रेम होनेपर भी हमें दर्शन देनेके लिये तैयार रहें इसमें आश्चर्य ही क्या है?

भगवान्‌के प्रकट होनेमें जो विलम्ब हो रहा है उसमें मुख्य कारण हमारी टानकी कमी ही है। प्रभु तो प्रेम और दयाकी मूर्ति ही हैं। फिर वे आनेमें विलम्ब क्यों करते हैं? कारण स्पष्ट है। हम उनके दर्शनके लायक नहीं हैं। हममें अभी श्रद्धा और प्रेमकी बहुत कमी है। यदि हम उसके लायक होते तो भगवान् स्वयं आकर हमें दर्शन देते क्योंकि भगवान् परमदयालु, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सर्वान्तर्यामी हैं। किन्तु हमारे अंदर उनके प्रति श्रद्धा और प्रेमकी बहुत ही कमी है। अतएव श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धिके लिये हमें उनके तत्त्व, रहस्य, गुण और प्रभावको जाननेके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम हो जानेपर वे न मिलें, ऐसा कभी हो नहीं सकता। बाध्य होकर भगवान् अपने श्रद्धालु भक्तकी श्रद्धाको फलीभूत करते ही हैं। जबतक उनकी कृपापर पूरा विश्वास नहीं होता तबतक प्रभुका प्रसाद हमें कैसे प्राप्त हो सकता है? यदि हमारा यह विश्वास हो

जाय कि भगवान्‌के दर्शन होते हैं और अमुक व्यक्तिने भगवान्‌के दर्शन किये हैं, तो उसके साथ हमारा व्यवहार कैसा होगा, इसका भी हमलोग अनुमान नहीं कर सकते। फिर स्वयं भगवान्‌के मिलनेसे जो दशा होती है, उसका तो अंदाजा लगाना ही असम्भव है।

रासलीलाके समय भगवान्‌के अन्तर्धान हो जानेपर गोपियोंकी कैसी दशा हुई? एक क्षणके लिये भी उन्हें भगवान्‌का वियोग असह्य हो गया, अतएव बाध्य होकर भगवान्‌को प्रकट होना पड़ा। दुर्वासाके दस हजार शिष्योंसहित भोजनके लिये असमयमें उपस्थित होनेपर, उन्हें भोजन करानेका कोई उपाय न दीखनेपर, द्रौपदी व्याकुल होकर भगवान्‌का स्मरण करने लगी और उसके पुकारते ही भगवान् इस प्रकार प्रकट हो गये जैसे मानो वहीं खड़े हों। विश्वास होनेसे प्रायः यही अवस्था सभी भक्तोंकी होती है। नरसीको दृढ़ विश्वास था कि उसकी लड़कीका भात भरनेके लिये हरि आवेंगे ही और वे मगन होकर गाने लगे 'बाई आसी आसी आसी, हरि घणे भरोसे आसी।' हरिके आनेमें उन्हें तनिक भी शंका नहीं थी। अतएव भगवान्‌को समयपर आना ही पड़ा।

भगवान्‌के दर्शनमें जो विलम्ब हो रहा है उसका एकमात्र कारण दृढ़ विश्वासका अभाव ही है। चाहे जिस प्रकार निश्चय हो जाय, निश्चय हो जानेपर भगवान् न आवें ऐसा हो नहीं सकता। वे अपने भक्तको निराश नहीं करते, यही उनका बाना है। यह दूसरी बात है कि बीच-बीचमें हमारे मार्गमें ऐसे विघ्न आ खड़े हों जिनके कारण हमारा मन विचलित-सा हो जाय। परन्तु यदि

साधक उस समय सम्हलकर प्रभुको दृढ़तापूर्वक पकड़े रहे और विघ्नोंसे प्रह्लादकी भाँति न घबरावे तो उसका काम अवश्य ही बन जाता है। प्रभु तो हमारी श्रद्धाको पक्की करनेके लिये ही कभी निष्ठुर और कभी कोमल व्यवहार और व्यवस्था किया करते हैं।

वास्तविक श्रद्धा इतनी बलवती होती है कि भगवान्‌को बाध्य होकर उस श्रद्धाको फलीभूत करनेके लिये प्रकट होना पड़ता है। पारस यदि पारस है और लोहा यदि लोहा है तो स्पर्श होनेपर सोना होगा ही। उसी प्रकार श्रद्धावान्‌को भगवान्‌की प्राप्ति होती है। श्रद्धालु भक्तकी कमीकी पूर्ति करके भगवान् उसके कार्यको सिद्ध कर देते हैं। श्रद्धा होनेपर सारी कमीकी पूर्ति भगवान्‌की कृपासे अपने आप हो जाती है। हमलोगोंमें श्रद्धा-प्रेमकी कमी मालूम होती है, इसीलिये भगवान् प्रकट नहीं होते। अन्यथा उनके दयालु और प्रेमपूर्ण स्वभावको देखते हुए तो वे दर्शन दिये विना रह सकें ऐसा हो नहीं सकता। रावणके द्वारा सीताके हरे जानेपर उसके लिये श्रीराम ऐसे व्याकुल होते हैं जैसे कोई कामी पुरुष अपनी प्रेयसीके लिये होता है। इसका कारण क्या था? कारण यही था कि सीता एक क्षणके लिये भी रामके विना नहीं रह सकती थी। भगवान् कहते हैं जो मुझको जैसे भजते हैं उनको मैं भी वैसे ही भजता हूँ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

भगवान् तो प्रकट होनेके लिये तैयार हैं। वे मानो चाहते हैं

कि लोग मुझसे प्रेम करें और मैं प्रकट होऊँ । सीताका जैसा उत्कट प्रेम भगवान् रामचन्द्रमें था वैसा ही प्रेम यदि हमलोगोंका प्रभुमें हो जाय तो प्रभु हमारे लिये भी तैयार हैं । जो हरिके लिये लालायित है उसके लिये हरि भी वैसे ही लालायित रहते हैं ।

प्रभुमें श्रद्धा-प्रेम बढ़े, उनका चिन्तन बना रहे—एक पलके लिये भी उनका विस्मरण न हो, ऐसा ही लक्ष्य हमारा सदा बना रहना चाहिये । हमें वे चाहे जैसे रक्खें और चाहे जहाँ रक्खें उनकी स्मृति अटल बनी रहनी चाहिये । उनकी राजीमें ही अपनी राजी, उनके सुखमें ही अपना सुख मानना चाहिये । प्रभु यदि हमें नरकमें रखना चाहें, तो हमें वैकुण्ठकी ओर भी नहीं ताकना चाहिये और नरकमें वास करनेमें ही परम आनन्द मानना चाहिये । सब प्रकारसे प्रभुकी शरण हो जानेपर फिर उनसे इच्छा या याचना करना नहीं बन सकता । जब प्रभु हमारे और हम प्रभुके हो गये तो फिर बाकी क्या रहा ? हम तो प्रभुके बालक हैं । माँ बालकके दोषोंपर ध्यान नहीं देती । उसके हृदयमें बालकके लिये अपार प्यार रहता है । प्रभु यदि हमारे दोषोंका ख्याल करें तो हमारा कहीं पता ही न लगे । प्रभु तो इस बातके लिये सदा उत्सुक रहते हैं कि कोई रास्ता मिले तो मैं प्रकट होऊँ । किन्तु हमी लोग उनके प्रकट होनेमें बाधक हो रहे हैं । देखनेमें तो ऐसी बात नहीं मालूम होती, ऊपरसे हम उनके दर्शनके लिये लालायित-से दीखते हैं; परन्तु भीतरसे उसे पानेकी लालसा कहाँ है ? मुँहसे हम भले ही न कहें कि अभी ठहरो, परन्तु हमारी क्रियासे यही सिद्ध

होता है। प्रभुके प्रकट होनेमें विलम्ब सहन करना ही उन्हें ठहराना है। प्रभुसे हमारा बिछोह इसीलिये हो रहा है कि उनके वियोगमें (बिछोहमें) हमें व्याकुलता नहीं होती। जब हम ही उनका वियोग सहनेके लिये तैयार हैं और कभी उनके वियोगमें हमारे मनमें व्याकुलता या दुःख नहीं होता, तो प्रभुको ही क्यों परवा होने लगी ? यदि हमारे भीतर तड़पन होती और इसपर भी वे न आते तो हमें कहनेके लिये गुंजाइश थी। खुशीसे हम उनके विना जी रहे हैं। इस हालतमें वे यदि न आवें तो इसमें उनका क्या दोष है ? प्रकट होनेके लिये तो वे तैयार हैं, पर जबतक हमारे अंदर उत्सुकता नहीं होती तबतक वे आवें भी कैसे ? उनका दर्शन प्राप्त करनेके लिये आवश्यकता है प्रबल चाहकी। वह चाह कैसी होनी चाहिये, इस बातको प्रभु ही पहचानते हैं। जिस चाहसे वे प्रकट हो जाते हैं वही चाह असली चाह समझनी चाहिये। अतः जबतक वे न आवें चाह बढ़ाता ही रहे। घड़ा भर जानेपर पानी अपने-आप ऊपरसे बह चलेगा।

भगवत्प्रेमकी अवस्था ही अनोखी होती है। भगवान्‌का प्रसंग चल रहा है, उसकी मधुर चर्चा चल रही है, उस समय यदि स्वयं भगवान् भी आ जायँ तो प्रसंग चलाता रहे, भंग न होने दे। प्रियतमकी चर्चामें एक अद्भुत मिठास होती है जिसकी चाट लग जानेपर और कुछ सुहाता ही नहीं। प्रीतिकी रीति अनोखी है। प्रभुकी प्रीतिका रस जिसने पा लिया उसे और पाना ही क्या रहा ? प्रभु तो केवल प्रेम देखते हैं। स्वयं प्रभुसे बढ़कर प्रभुका प्रेम है। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रभुके गुण, प्रभाव, तत्त्व तथा रहस्यसहित ध्यानमें

तन्मय होकर प्रभुके प्रेमामृतका पान करना ही प्रभुकी प्रीतिका आस्वादन करना है या हरिके रसमें डूबना है।

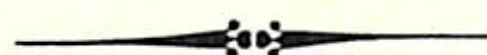
दो प्रेमियोंमें यदि न बोलनेकी शर्त लग जाय तो अधिक प्रेमवाला ही हारेगा। पति-पत्नीमें यदि न बोलनेका हठ हो जाय तो वही हारेगा जिसमें अधिक स्नेह होगा। इसी प्रकार जब भक्त और भगवान्‌में होड़ होती है तो भगवान्‌को ही हारना पड़ता है, क्योंकि प्रभुसे बढ़कर प्रेमी कोई नहीं है। उसे इतना व्याकुल कर देना चाहिये कि हमारे विना वह एक क्षण भी न रह सके। फिर उसे हार माननी ही पड़ेगी—आनेके लिये बाध्य होना ही पड़ेगा। हमें व्यवस्था ही ऐसी कर देनी चाहिये, प्रेमसे उन्हें मोहित कर देना चाहिये। फिर तो धक्का देनेपर भी वे नहीं हटेंगे।

प्रभुके साथ हमारा व्यवहार वैसा ही होना चाहिये जैसा स्त्रीका अपने पतिके साथ। जैसे स्त्री अपने प्रेम और हाव-भावसे पतिको मोहित कर लेती है वैसे ही हमें भगवान्‌को अपने प्रेम और आचरणसे मोहित कर लेना चाहिये। उसे अपनेमें आसक्त भी कर ले और खुशामद भी न करे। फिर तो वह एक पलके लिये भी हमारे द्वारपरसे हटनेका नहीं। वह प्रेमका भिखारी प्रेमका बन्दी बना बैठा है, जायगा कहाँ? पति पत्नीके प्यारको ठुकरा ही कैसे सकता है? इसी प्रकार प्रभु भी अपने भक्तके प्यारका तिरस्कार कैसे कर सकते हैं? ऐसा हो जानेपर उनसे हमारे विना रहा ही कैसे जायगा? वे तो सदा प्रेमके अधीन रहते हैं। एक बार प्रभुको अपने प्रेम-पाशमें बाँध ले, फिर तो वे सदाके लिये बँध जाते हैं।

प्रभुको वशीभूत करनेका ढंग स्त्रीसे सीखना चाहिये । इसी प्रकारका सम्बन्ध उनसे जोड़ना चाहिये । यही माधुर्यभाव है । बाहरका वेष न बदले, भीतर प्रेमकी प्रगाढ़तामें उसीका बन जाय । यही उन्हें प्राप्त करनेका सर्वोत्तम उपाय है ।

प्रभु बड़े दयालु और उदारचित्त हैं । इसलिये थोड़े प्रेमसे भी वे प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु हमलोगोंको उपर्युक्त प्रेमको लक्ष्य बनाकर ही चलना चाहिये । क्योंकि उच्च लक्ष्य बनाकर चलनेसे ही प्रेमकी प्राप्ति होती है । यदि लक्ष्यके अनुसार पूर्ण प्रेम हो जाय तब तो अत्यन्त सौभाग्यकी बात है; ऐसे पुरुष तो आदर्श एवं दर्शनीय समझे जाते हैं, उनके कृपाकटाक्षसे दूसरे भी कृतकृत्य हो जाते हैं; फिर उनकी तो बात ही क्या ?

परमात्माके ज्ञानसे परम शान्ति



परमात्मा समस्त भूतोंकी आत्मा हैं, सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी हैं; इसलिये सबकी सेवा भगवान्‌की ही सेवा है, इस बातके समझ लेनेपर मनुष्य परमात्माको यथार्थरूपसे जानकर परमात्माको प्राप्त हो सकता है परन्तु ध्यान रखना चाहिये कि जो इस प्रकार परमात्माको जानता है वह पुरुष किसी भी सेवा करने-योग्य पुरुषकी सेवा करता हुआ, पूजनेयोग्यकी पूजा करता हुआ उस सेवा-पूजाको भगवान्‌की ही सेवा-पूजा समझता है और उसे उसी आनन्द और शान्तिका अनुभव होता रहता है जो भगवान्‌की सेवा-पूजासे हुआ करता है। राजा रन्तिदेवकी भाँति वह इस

बातको अच्छी तरह समझता है कि एक भगवान् ही अनेक रूपोंमें प्रकट होकर अपने प्यारे प्रेमीके प्रेमपूर्वक किये हुए दान, यज्ञ, सेवा और पूजन आदिको ग्रहण करते हैं।

महाराज रन्तिदेव राजा नरके पौत्र और राजा संकृतिके पुत्र थे। इनकी महिमा स्वर्ग और पृथ्वी दोनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। एक बार सारी सम्पत्तिका सम्पूर्णतया दान करके राजा रन्तिदेव निर्धन होकर सपरिवार भूखके मारे कृश हो गये। उन्हें लगातार अड़तालीस दिनतक अन्नकी तो बात ही क्या, जलतक पीनेको न मिला। सारा परिवार आहारके अभावमें कष्ट पाने लगा। धर्मात्मा राजाका कृश शरीर भूख-प्यासके मारे काँपने लगा। उन्चासवें दिन उन्हें घीसहित खीर, हलुआ और जल प्राप्त हुआ। राजा परिवारसमेत भोजन करना ही चाहते थे कि उसी समय एक अतिथि ब्राह्मण आ गये। सबमें हरिके दर्शन करनेवाले राजाने श्रद्धा और सत्कारपूर्वक ब्राह्मणदेवताको भोजन दे दिया। ब्राह्मण भोजन करके चले गये। राजा बचे हुए अन्नको अपने परिवारमें बाँटकर भोजन करनेका विचार कर रहे थे कि इतनेमें एक शूद्र अतिथि आ पहुँचा। रन्तिदेवने भगवान् हरिका स्मरण करके बचे हुए अन्नमेंसे उस अतिथिको भी भोजन करा दिया। भोजन करके शूद्र अतिथि गया ही था कि एक और अतिथि अपने कुत्तोंसहित आया और बोला—'राजन्! मैं और मेरे ये कुत्ते भूखे हैं। हमलोगोंको भोजन दीजिये।' राजाने उसका भी सम्मान किया और आदरपूर्वक बचा हुआ अन्न उसको और उसके कुत्तोंको खिला

दिया। अब केवल एक मनुष्यकी प्यास बुझ सके इतना जल ही बच रहा था। राजा उसे पीना ही चाहते थे कि अकस्मात् एक चाण्डाल आया और दीनस्वरसे पुकारने लगा—'महाराज! मैं बहुत ही थका हुआ हूँ, मुझ नीचको पीनेके लिये थोड़ा जल दीजिये।' उसके करुणाभरे शब्द सुनकर और उसे थका हुआ देखकर राजाको बड़ी दया आयी और स्वयं प्यासके मारे मृतप्राय रहते हुए ही उन्होंने वह जल उसको दे दिया। ब्रह्मा, विष्णु और महादेव ही राजा रन्तिदेवके धर्मकी परीक्षा लेनेके लिये मायाके द्वारा ब्राह्मणादिका वेश बनाकर आये थे। राजाका धैर्य और उदारता देखकर तीनों बहुत ही सन्तुष्ट हुए और उन्होंने अपने निज स्वरूपसे राजाको दर्शन दिये। महाराज रन्तिदेवने साक्षात् परमात्मस्वरूप उन तीनोंको प्रणाम किया। और उनके इतने अधिक सन्तुष्ट होनेपर भी उनसे राजाने कोई वरदान नहीं माँगा। राजाने आसक्ति और स्पृहाका त्याग करके मनको केवल भगवान् वासुदेवमें लगा दिया। इस प्रकार भगवान्‌में तन्मय हो जानेके कारण त्रिगुण (सत्त्व, रज, तम) मयी माया उनके निकट स्वप्नके समान अन्तर्हित हो गयी। रन्तिदेवके सङ्गके प्रभावसे उनके परिवारके सब लोग नारायणपरायण होकर योगियोंकी परम गतिको प्राप्त हो गये।

भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ एवं क्षर और अक्षर दोनोंसे अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर हैं और अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके स्वामी हैं। उनसे बढ़कर संसारमें कोई भी नहीं है।

जब इस प्रकारसे मनुष्य समझ जाता है तो फिर वह भगवान्‌को ही भजता है, क्योंकि भगवान् स्वयं कहते हैं---

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
(गीता १५ । १९)

'हे भारत ! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ।'

यह बात लोकमें भी प्रसिद्ध है कि मनुष्य अपनी बुद्धिमें जिस वस्तुको सबसे बढ़कर समझता है उसीको ग्रहण करता है। मान लीजिये, कोई एक राजाधिराज अपने मनके अनुकूल चलनेवाले एक अत्यन्त प्रेमी गरीब सेवकको उसके कार्यसे प्रसन्न होकर कुछ देना चाहता है । उसके यहाँ एक ओर कोयले, कंकड़, पत्थर आदिके ढेर लगे हैं; दूसरी ओर ताँबा, लोहा, पीतल आदि धातुओंके ढेर हैं; कहीं चाँदी और रुपयोंकी राशि है, कहीं सोना और सोनेकी मोहरें जमा हैं और कहीं बहुत-से हीरे, पन्ने, नीलम, माणिक आदि बहुमूल्य रत्न रक्खे हैं । वह राजा कहता है कि इनमेंसे जो भी चीज़ तुम्हें पसंद हो, अभी सबेरेसे लेकर शामतक जितनी ले जा सको, ढोकर ले जा सकते हो । आप विचारकर बताइये कि जरा भी समझदार आदमी क्या हीरे-माणिक आदि रत्नोंको छोड़कर कंकड़, पत्थर ढोनेमें अपने समयका एक क्षण भी बितावेगा ? कभी नहीं ! फिर भला, भगवान्‌के तत्त्व, रहस्य,

प्रभाव और गुणोंको जाननेवाला भगवान्‌का भक्त, भजन-ध्यानादि बहुमूल्य रत्नोंको छोड़कर संसारके विषयरूप कंकड़-पत्थरोंमें अपना एक क्षण भी क्यों नष्ट करेगा ? यदि वह आनन्दमय परमात्माको छोड़कर संसारके नाशवान् विषयभोगोंके सेवनमें अपने जीवनका अमूल्य समय लगाता है तो समझना चाहिये कि उसने सर्व-शक्तिमान् सर्वेश्वर परमात्माके महान् प्रभाव और रहस्यको समझा ही नहीं।

दीनबन्धु, पतितपावन, सर्वज्ञ परमात्मा समस्त गुणोंके सागर हैं। कृपा और प्रेमकी तो वे साक्षात् मूर्ति ही हैं। इस प्रकार परमात्माके गुणोंके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष निर्भय हो जाता है। उसके आनन्द और शान्तिका पार नहीं रहता। इसपर यदि कोई कहे कि जब ऐसी बात है कि भगवान् प्रेम और कृपाकी मूर्ति हैं तो उनकी अपार और अपरिमित कृपा सभीके ऊपर होनी चाहिये और यदि है तो फिर हमको सुख और शान्ति क्यों नहीं मिलती ? इसका उत्तर यह है कि प्रभु निश्चय ही अपार और असीम कृपाके सागर हैं और उनकी वह कृपा सभीपर है, परन्तु सच्ची बात तो यह है कि हमलोग ऐसा विश्वास ही नहीं करते ! प्रभुकी समस्त जीवोंपर इतनी दया है कि जिसका हम अनुमान भी नहीं कर सकते। हमलोग जितनी दयाका अनुमान करते हैं, उससे अत्यन्त ही अधिक और अपार दया सभी जीवोंपर है किन्तु उस अनन्त दयाके तत्त्व और प्रभावको न जाननेके कारण हम इस बातपर विश्वास नहीं करते और इसी कारण उस नित्य और अपार दयाके फलस्वरूप सुख और शान्तिसे वञ्चित रह जाते हैं।

यद्यपि भगवान्‌की दया सामान्यभावसे सभी जीवोंपर है परन्तु मुक्तिका खास अधिकारी होनेके कारण मनुष्य उस दयाका विशेष पात्र है। मनुष्योंमें भी वही विशेष अधिकारी है जो उस दयाके रहस्य और प्रभावको जाननेवाला है। जैसे सूर्यका प्रकाश समभावसे सर्वत्र होनेपर भी उज्ज्वल होनेके कारण काँच उसका विशेष पात्र है, क्योंकि वह सूर्यका प्रतिबिम्ब भी ग्रहण कर लेता है और काँचोंमें भी सूर्यमुखी काँच तो सूर्यकी शक्तिको लेकर वस्त्रादि पदार्थोंको जला भी डालता है। इसी प्रकार सब जीवोंपर प्रभुकी दया समानभावसे रहते हुए भी जो मनुष्य उस दयाके तत्त्व और प्रभावको विशेषरूपसे जानते हैं वे तो उस दयाके द्वारा समस्त पाप-तापोंको सहज ही भस्म कर डालते हैं। ज्यों-ही-ज्यों प्रभुकी दयाके तत्त्व और प्रभावको मनुष्य अधिक-से-अधिक जानता चला जाता है, त्यों-ही-त्यों उसके दुःख, दुर्गुण और पापोंका नाश होता चला जाता है और फलतः वह निर्भय और निश्चिन्त होकर परम शान्ति और परमानन्दको प्राप्त हो जाता है।

मान लीजिये एक धर्मात्मा और ज्ञानी राजा थे। अपनी प्रजापर उनकी स्वाभाविक ही बड़ी भारी दया थी; किन्तु सब लोग इस बातको नहीं जानते थे। वे अपने मन्त्रिमण्डल और गुप्तचरोंद्वारा अपनी असहाय और दीन-दुखी प्रजाकी हर समय खबर रक्खा करते थे और सबको यथायोग्य सहायता पहुँचाया करते थे। उनकी राजधानीमें एक क्षत्रिय बालक रहता था, जो बहुत ही सुशील, सदाचारी, बुद्धिमान् और चतुर था

तथा राजामें उसकी भक्ति थी। उसके माता-पिता उसे छोटी अवस्थामें ही छोड़कर चल बसे थे। उस बालकने अपने माता-पितासे सुनकर पहलेसे ही यह समझ रक्खा था कि हमारे राजा बड़े ही दयालु और अनाथरक्षक हैं इसलिये जब माता-पिता मरे तब उसे जितनी चिन्ता होनी चाहिये थी, उतनी नहीं हुई। वह समझता था कि दयालु राजा आप ही मेरी व्यवस्था कर देंगे। वह बालक स्कूलमें पढ़ता था। उसके सहपाठियोंने उसे अनाथ होनेपर भी निश्चिन्त देखकर पूछा कि 'तुम्हारे माता-पिता तो मर गये अब तुम्हारा निर्वाह कैसे होगा ?' लड़केने उत्तर दिया कि 'हमारे राजा बड़े दयालु हैं, वे स्वयं ही सारी व्यवस्था कर देंगे।' यह बात गुप्तचरोंके द्वारा राजाके कानतक पहुँची। राजाने मन्त्रियोंके द्वारा उसका पता लगाया ! मन्त्रियोंने कहा कि 'वह बालक बड़ा ही सुन्दर, सुशील, सदाचारी, धर्मात्मा, बुद्धिमान् और राजभक्त है। उसके माता-पिता मर गये हैं, इसलिये इस समय वह सर्वथा अनाथ हो गया है। अब उसे केवल आपका ही एकमात्र भरोसा है।' राजाने पूछा कि 'उसके लिये क्या प्रबन्ध किया जाय ?' मन्त्रियोंने कहा— 'जो सरकारकी इच्छा।' राजाने उसके खान-पान और विद्याध्ययनके लिये प्रबन्ध करनेकी और रहनेके लिये मकान बनवा देनेकी आज्ञा दे दी। राजाकी इस उदारतासे मन्त्रीलोग बहुत प्रसन्न हुए। यह बात जब उस बालकके कानोंतक पहुँची तो उसके आनन्दका पार ही नहीं रहा। उसकी भक्ति राजामें और भी बढ़ गयी; साथ ही विश्वास भी दूना-चौगुना हो गया।

एक दिन जब वह लड़का स्कूलमें पढ़ता था तो उसके किसी

प्रेमी सहपाठीने आकर दुखी मनसे कहा कि 'भैया! तुमसे ऐसा क्या अपराध हो गया है जो राजाके सिपाही तुम्हारी झोंपड़ी तुड़वा रहे हैं?' बालकने बहुत प्रसन्नतासे उत्तर दिया कि 'भाई! राजाकी मुझपर बड़ी भारी दया है। सम्भव है वे झोंपड़ीको तुड़वाकर मेरे लिये अच्छा मकान बनवा दें।' यह बात भी गुप्तचरोंद्वारा राजातक पहुँची। राजाका प्रेम लड़केके प्रति और भी बढ़ गया। एक दिन राजाने अपने मन्त्रियोंसे पूछा कि 'आपलोग जानते हैं, मैं अब वृद्ध हो चला हूँ। मेरे कोई पुत्र नहीं है, इसलिये अब युवराजपद किसे दिया जाय?' मन्त्रियोंने कहा 'जिसे सरकार योग्य समझें।' राजाने कहा कि 'मैंने तो उस अनाथ क्षत्रिय-बालकको, जिसकी आपलोग सदा प्रशंसा करते रहे हैं, इस पदके योग्य समझा है। आपलोगोंकी क्या सम्मति है?' बस, इतना कहनेकी देर थी, तमाम मन्त्रियोंने एक स्वरसे कहा—'हाँ, सरकार, बड़ी अच्छी बात है। वह कुमार बहुत ही सुन्दर, सुशील, सच्चरित्र, बुद्धिमान्, राजभक्त और धर्मात्मा है। वह सब प्रकारसे युवराजपदके योग्य है। हमलोगोंने भी उसीको इस पदके योग्य समझा है।' सबकी बात सुनकर राजाने उसे युवराज बनाना निश्चित कर लिया। यह बात राज्यके उच्च पदाधिकारियोंको भी विदित हो गयी। एक दिन कुछ बड़े-बड़े अफसर उस बालकके घर गये। बालकने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। अफसर बोले, 'आपपर महाराजा साहबकी बहुत भारी कृपा है।' क्षत्रियकुमारने कहा—'मैं इस बातको भलीभाँति जानता हूँ कि सरकारकी मुझपर बड़ी भारी कृपा है, तभी तो उन्होंने मेरे भोजन, वस्त्र, पठन-पाठन और जमीन-मकानका सब प्रबन्ध कर दिया है।'

अफसर बोले—'इतना ही नहीं, आपपर महाराजा साहबकी बहुत भारी कृपा है, इतनी कृपा है कि जिसे आप कल्पनामें भी नहीं ला सकते।' लड़का कहने लगा—'क्या महाराजा साहबने मेरे विवाहका खर्च देना भी मंजूर कर लिया?' अफसरोंने कहा—'विवाह तो मामूली बात है, महाराजा साहबकी तो आपपर बहुत भारी दया है।' बालकने कहा—'क्या महाराजा साहब मुझे दो-चार गाँव देना चाहते हैं?' अफसर बोल उठे—'यह भी कुछ नहीं।' बालकने पूछा—'बतलाइये न, क्या महाराजा साहबने दस-बीस गाँवोंकी जागीर देनेका निश्चय किया है?' अफसर बोले—'सरकारकी आपपर इससे भी बहुत अधिक दया है।' बालकने कहा—'मैं तो इसके आगे कुछ नहीं जानता, आप ही बताइये कि क्या बात है?' अफसरोंने कहा—'क्या कहें, हम सभी लोग सदा अपने ऊपर आपकी कृपा चाहते हैं।' बालकने कहा—'ऐसा न कहिये, मैं तो आप सबका सेवक हूँ, आपलोगोंकी कृपासे ही महाराजकी मुझपर कृपा हुई है; महाराजा साहबकी विशेष दयाकी बात बतलाइये।' अफसरोंने कहा कि 'हमने तो आपको बता दिया कि हमलोग सदा आपकी कृपा चाहते हैं। क्या आप हमारे कथनका अर्थ नहीं समझे?' कुमारने कहा—'कृपा करके स्पष्ट बतलाइये।'

वह बेचारा अनाथ बालक यह कल्पना भी कैसे करता कि महाराजा साहब मुझे अपने राज्यका उत्तराधिकारी बनाकर युवराजपदतक दे सकते हैं।

अफसर बोल उठे—'श्रीमान्‌ने आपको युवराज बनाया है।'

सुनते ही बालक आश्चर्यमें भरकर बोल उठा—'युवराज बनाया है ?' अफसरोंने कहा—'जी हाँ ! युवराज बनाया है ।' अब बालकके आनन्दका पार नहीं रहा । वह आनन्दमुग्ध हो गया ।

यह तो दृष्टान्त है । इसे दार्ष्टान्तमें इस प्रकार घटाना चाहिये । यहाँ भगवान् राजा हैं, साधक क्षत्रियबालक है, भगवद्भक्ति ही राजभक्ति है, साधकका 'योगक्षेम' ही खान-पान-मकान आदि व्यवस्था है । भगवत्प्राप्त पुरुष ही मन्त्री हैं । दैवीसम्पदाप्राप्त मुमुक्षु पुरुष ऊँचे अफसर हैं और भक्तशिरोमणि कारक-पुरुषोंका सर्वोच्च पद ही युवराजपद है ।

इस प्रकार जो साधक परमपिता परमात्माकी असीम दयाका अनुभव कर उसके प्रत्येक विधानमें पद-पदपर आह्लादित होता रहता है, वह इस अविनाशी युवराजपदका अधिकारी बन जाता है ।

इसलिये हमलोगोंको उचित है कि परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्तिके लिये उन सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, परम दयालु और सबके सुहृद् परमेश्वरको उनके स्वरूप, प्रभाव और गुणोंके सहित जाननेकी चेष्टा करें । भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥
(५ । २९)

'मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात्

स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है ।'

प्रश्न—'यज्ञ' और 'तप'से क्या समझना चाहिये, भगवान् उनके भोक्ता कैसे हैं और उनको भोक्ता जाननेसे मनुष्यको शान्ति कैसे मिलती है ?

उत्तर—अहिंसा, सत्य आदि धर्मों (यम-नियमों) का पालन, देवता, ब्राह्मण, माता-पिता आदि गुरुजनोंका सेवन-पूजन, दीन-दुखी, गरीब और पीड़ित जीवोंकी स्नेह और आदरयुक्त सेवा और उनके दुःखनाशके लिये किये जानेवाले उपयुक्त साधन एवं यज्ञ, दान आदि जितने भी शुभ कर्म हैं, सभीका समावेश 'यज्ञ' और 'तप' शब्दोंमें समझना चाहिये । भगवान् सबके आत्मा हैं (१० । २०); अतएव देवता, ब्राह्मण, दीन-दुखी आदिके रूपमें स्थित होकर भगवान् ही समस्त सेवा-पूजादि ग्रहण कर रहे हैं । इसलिये वस्तुतः वे ही समस्त यज्ञ और तपोंके भोक्ता हैं (९ । २४) । भगवान्‌के तत्त्व और प्रभाव-को न जाननेके कारण ही मनुष्य जिनकी सेवा-पूजा करते हैं, उन देव-मनुष्यादिको ही यज्ञ और सेवा आदिके भोक्ता समझते हैं, इसीसे वे अल्प और अविनाशी फलके भागी होते हैं (७ । २३) और उनको यथार्थ शान्ति नहीं मिलती । परन्तु जो पुरुष भगवान्‌के तत्त्व और प्रभावको जानता है, वह सबके अंदर आत्मरूपसे विराजित भगवान्‌को ही देखता है। इस प्रकार प्राणिमात्रमें भगवद्बुद्धि हो जानेके कारण जब वह उनकी सेवा करता है, तब उसे यही अनुभव होता है कि मैं देव-ब्राह्मण या दीन-दुखी आदिके रूपमें अपने परम

पूजनीय, परम प्रेमास्पद सर्वव्यापी श्रीभगवान्‌की ही सेवा कर रहा हूँ। मनुष्य जिसको कुछ भी श्रेष्ठ या सम्मान्य समझता है, जिसमें थोड़ी भी श्रद्धा-भक्ति होती है, जिसके प्रति कुछ भी आन्तरिक सच्चा प्रेम होता है, उसकी सेवामें उसको बड़ा भारी आनन्द और विलक्षण शान्ति मिलती है। क्या पितृभक्त पुत्र, स्नेहमयी माता और प्रेमप्रतिमा पत्नी अपने पिता, पुत्र और पतिकी सेवा करनेमें कभी थकते हैं? क्या सच्चे शिष्य या अनुयायी मनुष्य अपने श्रद्धेय गुरु या पथदर्शक महात्माकी सेवासे किसी भी कारणसे हटना चाहते हैं? जो पुरुष या स्त्री जिनके लिये गौरव, प्रभाव या प्रेमके पात्र होते हैं, उनकी सेवाके लिये उनके अंदर क्षण-क्षणमें नयी-नयी उत्साह-लहरी उत्पन्न होती है; ऐसा मन होता है कि इनकी जितनी सेवा की जाय उतनी ही थोड़ी है। वे इस सेवासे यह नहीं समझते कि हम इनका उपकार कर रहे हैं; उनके मनमें इस सेवासे अभिमान नहीं उत्पन्न होता, वरं ऐसी सेवाका अवसर पाकर वे अपना सौभाग्य समझते हैं और जितनी ही सेवा बनती है, उनमें उतनी ही विनयशीलता और सच्ची नम्रता बढ़ती है। वे अहसान तो क्या करें, उन्हें पद-पदपर यह डर रहता है कि कहीं हम इस सौभाग्यसे वञ्चित न हो जायँ। वे ऐसा इसीलिये करते हैं कि इससे उन्हें अपने चित्तमें अपूर्व शान्तिका अनुभव होता है; परन्तु यह शान्ति उन्हें सेवासे हटा नहीं देती, क्योंकि उनका चित्त निरन्तर आनन्दातिरेकसे छलकता रहता है और वे इस आनन्दसे न अघाकर उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक सेवा ही करना चाहते हैं। जब सांसारिक गौरव, प्रभाव और प्रेममें सेवा इतनी सच्ची, इतनी लगनभरी और

इतनी शान्तिप्रद होती है, तब भगवान्‌का जो भक्त सबके रूपमें अखिल जगत्‌के परमपूज्य, देवाधिदेव, सर्वशक्तिमान्, परम गौरव तथा अचिन्त्य प्रभावके नित्य धाम अपने परम प्रियतम भगवान्‌को पहचानकर अपनी विशुद्ध सेवावृत्तिको हृदयके सच्चे विश्वास और अविरल प्रेमकी निरन्तर उन्हींकी ओर बहनेवाली पवित्र और सुधामयी मधुर धारामें पूर्णतया डुबा-डुबाकर उनकी पूजा करता है, तब उसे कितना और कैसा अलौकिक आनन्द तथा कितनी और कैसी अपूर्व दिव्य शान्ति मिलती होगी—इस बातको कोई नहीं बतला सकता। जिनको भगवत्कृपासे ऐसा सौभाग्य प्राप्त होता है, वे ही वस्तुतः इसका अनुभव कर सकते हैं।

प्रश्न—भगवान्‌को 'सर्वलोकमहेश्वर' समझना क्या है और ऐसा समझनेवालेको कैसे शान्ति मिलती है?

उत्तर—इन्द्र, वरुण, कुबेर, यमराज आदि जितने भी लोकपाल हैं तथा विभिन्न ब्रह्माण्डोंमें अपने-अपने ब्रह्माण्डका नियन्त्रण करनेवाले जितने भी ईश्वर हैं, भगवान् उन सभीके स्वामी और महान् ईश्वर हैं। इसीसे श्रुतिमें कहा है—'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' 'उन ईश्वरोंके भी परम महेश्वरको' (श्वे० उ० ६ । ७) । अपनी अनिर्वचनीय मायाशक्तिद्वारा भगवान् अपनी लीलासे ही सम्पूर्ण अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हुए सबको यथायोग्य नियन्त्रणमें रखते हैं और ऐसा करते हुए भी वे सबसे ऊपर ही रहते हैं। इस प्रकार भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वाध्यक्ष और सर्वेश्वरेश्वर समझना ही उन्हें 'सर्वलोकमहेश्वर' समझना

है। इस प्रकार समझनेवाला भक्त भगवान्‌के महान् प्रभाव और रहस्यसे अभिज्ञ होनेके कारण क्षणभर भी उन्हें नहीं भूल सकता। वह सर्वथा निर्भय और निश्चिन्त होकर उनका अनन्य चिन्तन करता है। शान्तिमें विघ्न डालनेवाले काम-क्रोधादि शत्रु उसके पास भी नहीं फटकते। उसकी दृष्टिमें भगवान्‌से बढ़कर कोई भी नहीं होता। इसलिये वह उनके चिन्तनमें संलग्न होकर नित्य-निरन्तर परम शान्ति और आनन्दके महान् समुद्र भगवान्‌के ध्यानमें ही डूबा रहता है।

प्रश्न—भगवान् सब प्राणियोंके सुहृद् किस प्रकार हैं और उनको सुहृद् जाननेसे शान्ति कैसे मिलती है?

उत्तर—सम्पूर्ण जगत्‌में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो भगवान्‌को न प्राप्त हो और जिसके लिये भगवान्‌का कहीं किसीसे कुछ भी स्वार्थका सम्बन्ध हो। भगवान् तो सदा-सर्वदा सभी प्रकारसे पूर्णकाम हैं (३ । २२); तथापि दयामयस्वरूप होनेके कारण वे स्वाभाविक ही सबपर अनुग्रह करके सबके हितकी व्यवस्था करते हैं और बार-बार अवतीर्ण होकर नाना प्रकारके ऐसे विचित्र चरित्र करते हैं, जिन्हें गा-गाकर ही लोग तर जाते हैं। उनकी प्रत्येक क्रियामें जगत्‌का हित भरा रहता है। भगवान् जिनको मारते या दण्ड देते हैं उनपर भी दया ही करते हैं, उनका कोई भी विधान दया और प्रेमसे रहित नहीं होता। इसीलिये भगवान् सब भूतोंके सुहृद् हैं। लोग इस रहस्यको नहीं समझते, इसीसे वे लौकिक दृष्टिसे इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें सुखी-दुखी होते रहते हैं और इसीसे उन्हें शान्ति नहीं मिलती। जो पुरुष इस बातको जान लेता है और विश्वास

कर लेता है कि 'भगवान् मेरे अहैतुक प्रेमी हैं, वे जो कुछ भी करते हैं, मेरे मंगलके लिये ही करते हैं।' वह प्रत्येक अवस्थामें जो कुछ भी होता है, उसको दयामय परमेश्वरका प्रेम और दयासे ओतप्रोत मंगलविधान समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है। इसलिये उसे अटल शान्ति मिल जाती है। उसकी शान्तिमें किसी प्रकारकी भी बाधा उपस्थित होनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता। संसारमें यदि किसी साधारण मनुष्यके प्रति, किसी शक्तिशाली उच्चपदस्थ अधिकारी या राजा-महाराजाका सुहृद्भाव हो जाता है और वह मनुष्य यदि इस बातको जान लेता है कि अमुक श्रेष्ठ शक्तिसम्पन्न पुरुष मेरा यथार्थ हित चाहते हैं और मेरी रक्षा करनेको प्रस्तुत हैं तो—यद्यपि उच्चपदस्थ अधिकारी या राजा-महाराजा सर्वथा स्वार्थरहित भी नहीं होते, सर्वशक्तिमान् भी नहीं होते और सबके स्वामी भी नहीं होते तथापि—वह अपनेको बहुत भाग्यवान् समझकर एक प्रकारसे निर्भय और निश्चिन्त होकर आनन्दमें मग्न हो जाता है, फिर यदि सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, सर्व-नियन्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वदर्शी, अनन्त अचिन्त्य गुणोंके समुद्र, परमप्रेमी परमेश्वर अपनेको हमारा सुहृद् बतलावें और हम इस बातपर विश्वास करके उन्हें सुहृद् मान लें तो हमें कितना अलौकिक आनन्द और कैसी अपूर्व शान्ति मिलेगी ? इसका अनुमान लगाना भी कठिन है।

प्रश्न—इस प्रकार जो भगवान्‌को यज्ञ-तपोंके भोक्ता, समस्त लोकोंके महेश्वर और समस्त प्राणियोंके सुहृद्—इन तीनों लक्षणोंसे

युक्त जानता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है या इनमेंसे किसी एकसे युक्त समझनेवालेको भी शान्ति मिल जाती है ?

उत्तर—भगवान्‌को इनमेंसे किसी एक लक्षणसे युक्त समझनेवाले-को भी शान्ति मिल जाती है, फिर तीनों लक्षणोंसे युक्त समझनेवाले-की तो बात ही क्या है ? क्योंकि जो किसी एक लक्षणको भी भलीभाँति समझ लेता है, वह अनन्यभावसे भजन किये बिना रह ही नहीं सकता। भजनके प्रभावसे उसपर भगवत्कृपा बरसने लगती है और भगवत्कृपासे वह अत्यन्त ही शीघ्र भगवान्‌के स्वरूप, प्रभाव, तत्त्व तथा गुणोंको समझकर पूर्ण शान्तिको प्राप्त हो जाता है। अहा ! उस समय कितना आनन्द और कैसी शान्ति प्राप्त होती होगी, जब मनुष्य यह जानता होगा कि 'सम्पूर्ण देवताओं और महर्षियोंसे पूजित भगवान्, जो समस्त यज्ञ-तपोंके एकमात्र भोक्ता हैं और सम्पूर्ण ईश्वरोंके तथा अखिल ब्रह्माण्डोंके परम महेश्वर हैं, मेरे परम-प्रेमी मित्र हैं ! कहाँ क्षुद्रतम और नगण्य मैं और कहाँ अपनी अनन्त अचिन्त्य महिमामें नित्यस्थित महान् महेश्वर भगवान् ! अहा ! मुझसे अधिक सौभाग्यवान् और कौन होगा ?' और उस समय वह हृदयकी किस अपूर्व कृतज्ञताको लेकर, किस पवित्र भाव-धारासे सिक्त होकर, किस आनन्दार्णवमें डूबकर भगवान्‌के पावन चरणोंमें सदाके लिये लोट पड़ता होगा !

प्रश्न—भगवान् सब यज्ञ और तपोंके भोक्ता, सब लोकोंके महेश्वर और सब प्राणियोंके परम सुहृद् हैं—इस बातको समझनेका क्या उपाय है ? किस साधनसे मनुष्य इस प्रकार भगवान्‌के स्वरूप,

प्रभाव, तत्त्व और गुणोंको भलीभाँति समझकर उनका अनन्य भक्त हो सकता है ?

उत्तर—श्रद्धा और प्रेमके साथ महापुरुषोंका संग, सत्-शास्त्रोंका श्रवण-मनन और भगवान्‌की शरण होकर अत्यन्त उत्सुकताके साथ उनसे प्रार्थना करनेपर उनकी दयासे मनुष्य भगवान्‌के इन प्रभाव और गुणोंको समझकर उनका अनन्य भक्त हो सकता है ।

प्रश्न—यहाँ 'माम्' पदसे भगवान्‌ने अपने किस स्वरूपका लक्ष्य कराया है ?

उत्तर—जो परमेश्वर अज, अविनाशी और सम्पूर्ण प्राणियोंके महान् ईश्वर होते हुए भी समय-समयपर अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके लीला करनेके लिये योगमायासे संसारमें अवतीर्ण होते हैं और जो श्रीकृष्णरूपमें अवतीर्ण होकर अर्जुनको उपदेश दे रहे हैं, उन्हीं निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार और अव्यक्त-व्यक्तस्वरूप, सर्वरूप, परब्रह्म परमात्मा, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वाधार और सर्वलोकमहेश्वर समग्र परमेश्वरको लक्ष्य करके 'माम्' पदका प्रयोग किया गया है ।

उपर्युक्त श्लोकमें 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्' यह विशेषण परमात्मा ही सबके आत्मा हैं इस भावका वाचक होनेसे उनके सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामीस्वरूपका निर्देश करता है । 'सर्वलोकमहेश्वरम्' यह विशेषण परमात्मा ही सबके स्वामी हैं इस भावका द्योतक होनेसे उनकी सर्वशक्तिमत्ता, सर्वैश्वर्य और अपरिमित प्रभावको बतलाता है और 'सुहृदं सर्वभूतानाम्' यह विशेषण परमात्मा विना ही कारण

सब भूतोंके परम हितैषी हैं, इस भावका बोधक होनेके कारण उनकी अपार और अपरिमित दया, प्रेम आदि श्रेष्ठ गुणोंका प्रकाशक है।

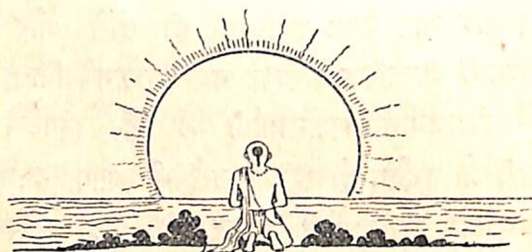
ऐसे दयासिन्धु भगवान्‌की शरण होकर उनके गुण, प्रभाव और रहस्यको तत्त्वसे जानने एवं उन्हें प्राप्त करनेके लिये उनसे इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये।

'हे नाथ! आप दयासागर, सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ हैं, आपकी किञ्चित् दयासे ही सम्पूर्ण संसारका एक क्षणमें उद्धार हो सकता है, फिर हम-जैसे तुच्छ जीवोंकी तो बात ही क्या है? इसलिये हम आपको साष्टाङ्ग प्रणाम करके सविनय प्रार्थना करते हैं कि हे दयासिन्धो! हमपर दयाकी दृष्टि कीजिये जिससे हमलोग आपको यथार्थरूपसे जान सकें। यद्यपि आपकी सबपर अपार दया है किन्तु उसका रहस्य न जाननेके कारण हम सब उस दयासे वञ्चित हो रहे हैं, अतएव ऐसी कृपा कीजिये जिससे हमलोग आपकी दयाके रहस्यको समझ सकें। यदि आप केवल दयासागर ही होते और अन्तर्यामी न होते तो हमारी आन्तरिक पीड़ाको नहीं पहचानते किन्तु आप तो सबके हृदयमें विराजमान सर्वान्तर्यामी भी हैं, इसलिये आपके वियोगमें हमारी जो दुर्दशा हो रही है उसे भी आप जानते हैं। आप दयासागर और सर्वान्तर्यामी होकर भी यदि सर्वेश्वर और सर्वसामर्थ्यवान् नहीं होते तो हम आपसे अपने कल्याणके लिये प्रार्थना नहीं करते परन्तु आप तो सर्वलोकमहेश्वर और सर्वशक्तिमान्

हैं इसलिये हमारे-जैसे तुच्छ जीवोंका इस मृत्युरूप संसार-सागरसे उद्धार करना आपके लिये अत्यन्त साधारण बात है ।

हम तो आपसे यही चाहते हैं कि आपमें ही हमारा अनन्य प्रेम हो, हमारे हृदयमें निरन्तर आपका ही चिन्तन बना रहे और आपसे कभी वियोग न हो । आप ऐसे सुहृद् हैं कि केवल भक्तोंका ही नहीं परन्तु पतित और मूर्खोंका भी उद्धार करते हैं । आपके पतितपावन, पातकीतारण आदि नाम प्रसिद्ध ही हैं इसलिये ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और सदाचारसे हीन हम-जैसे मूढ़ और पतितोंका उद्धार करना आपका परम कर्तव्य है ।'

एकान्तमें बैठकर इस प्रकार सच्चे हृदयसे करुणाभावसे गद्गद होकर उपर्युक्त भावोंके अनुसार किसी भी भाषामें प्रभुसे प्रार्थना करनेपर भगवत्कृपासे गुण, प्रभाव और तत्त्वसहित भगवान्को जानकर मनुष्य परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।



भगवत्कृपा

(पद-पदपर दर्शन करनेका प्रकार)

किसी भाईका प्रश्न है कि भगवत्कृपा सहैतुक होती है या निर्हैतुक ? मनुष्यको सभी अवस्थाओंमें भगवान्‌की दयाका दर्शन किस प्रकार करना चाहिये ?

इसके उत्तरमें मेरा निवेदन है कि भगवत्कृपाके महत्त्वको वाणीद्वारा पूर्णरूपसे वर्णन करना असम्भव है । क्योंकि भगवान्‌की दयाका महत्त्व अपार है और वाणीद्वारा जो कुछ कहा जाता है वह स्वल्प ही है; भगवान्‌की कृपाके रहस्यको जो कोई महापुरुष यत्किञ्चित् भी समझते हैं, वे भी जितना समझते हैं उतना वाणीद्वारा बता नहीं सकते । भगवान्‌की कृपा सब जीवोंपर सदा-सर्वदा अपार है । लोगों-का इस विषयमें जितना अनुमान है उससे भी भगवान्‌की कृपा बहुत अधिक है, इस विषयमें 'भगवान्‌की दया' शीर्षक एक लेख कल्याणमें

पहले छप चुका है* । विषय एक होनेके कारण कुछ पुनरुक्तियाँ आ सकती हैं, तथापि दोनों लेखोंको मिलाकर पढ़नेसे भगवान्‌की दयाका महत्त्व समझनेमें अधिक सहायता मिल सकती है ।

वास्तवमें भगवान्‌की दया सभी प्राणियोंपर बिना किसी कारण-के समभावसे सदा ही स्वाभाविक है, अतः उसे निर्हेतुक ही कहना चाहिये । परन्तु जो मनुष्य भगवान्‌की दयापर जितना अधिक विश्वास करता है, अपनेपर जितनी अधिक दया मानता है, वह उनकी दयाका तत्त्व उतना ही अधिक समझता है तथा उसे उतना ही अधिक प्रत्यक्ष लाभ मिलता है; इसलिये उसको सहेतुक भी कहा जा सकता है किन्तु भगवान्‌का इसमें अपना कोई हेतु नहीं है ।

भगवान् तो सर्वथा पूर्णकाम, सर्वशक्तिमान्, महान् ईश्वर हैं । उनमें किसी प्रकारकी कामना या इच्छाकी कल्पना ही कैसे हो सकती है, जिससे उनकी दयामें किसी प्रकारके स्वार्थरूप हेतुको स्थान मिल सके । वे तो स्वभावसे ही—बिना कारण परम दयालु हैं, सबके सुहृद् हैं; उनकी सब क्रिया सम्पूर्ण जीवोंके हितके लिये ही होती है; वास्तवमें अकर्ता होते हुए भी वे दयावश जीवोंके हित-की चेष्टा करते हैं । अजन्मा होते हुए भी साधु पुरुषोंका उद्धार, धर्मका प्रचार और दुष्टोंका संहार† करनेके लिये एवं संसारमें

* यह लेख 'कल्याण' वर्ष ५, अङ्क १२ में छपा था, तथा 'तत्त्व-चिन्तामणि' भाग २ (लेख नं० १७) में भी संगृहीत है ।

† यहाँ 'संहार' रूपसे भी भगवान् कल्याण ही करते हैं । कहा भी है—

लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके । तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः ॥

अपनी पुनीत लीलाका विस्तार करके लोगोंमें प्रेम और श्रद्धाका सञ्चार करनेके लिये समय-समयपर अवतार धारण करते हैं; निर्गुण, निराकार और निर्विकार होते हुए भी अपने भक्तोंके प्रेमके अधीन होकर सगुण और साकाररूपसे दर्शन देनेके लिये बाध्य होते हैं; सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वथा स्वतन्त्र होते हुए भी प्रेममें पिघलकर भक्तके अधीन हो जाते हैं; इन सबमें उनकी निर्हेतुकी परम दया ही कारण है।

जो भगवान्को प्राप्त हुए भगवद्भक्त हैं, जो भगवान्की दयाके महत्त्वको समझ गये हैं, जिनमें उस दयामय परमेश्वरकी दयाका अंश व्याप्त हो गया है, उन महापुरुषोंका भी अन्य जीवोंसे किसी प्रकारका स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता। उनकी समस्त क्रियाएँ केवल लोकहितके लिये, किसी प्रकारके स्वार्थरूप हेतुके विना ही होती हैं; तब फिर भगवान्की दया हेतुरहित हो, इसमें तो कहना ही ~~ही~~ क्या है! महापुरुषोंका किसी भी जीवके साथ किसी प्रकारका स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता, इस विषयमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(गीता ३। १८)

'उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है।

'जिस प्रकार बच्चेको प्यार करने और ताड़ना देने, दोनोंमें माताकी दया ही है, उसी प्रकार जीवोंके गुण-दोषोंका नियन्त्रण करनेवाले भगवान्की सब प्रकारसे उनपर कृपा ही है।'

तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता ।' तो भी उसके द्वारा केवल लोकहितार्थ कर्म किये जाते हैं ।

इसी तरह अपने विषयमें भी भगवान् कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

(गीता ३ । २२)

'हे अर्जुन ! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्त्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ ।'

तुलसीदासजीने भी कहा है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी । तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं । सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं ॥

इस वर्णनसे यह पाया जाता है कि महापुरुषोंका और भगवान्‌का कोई कर्त्तव्य और प्रयोजन न रहते हुए भी लोगोंको उन्मार्गसे बचानेके लिये एवं नीति, धर्म और ईश्वरभक्तिरूप सन्मार्गमें लगानेके लिये केवल लोकहितार्थ उनके द्वारा सब क्रियाएँ हुआ करती हैं; इसमें उनकी अपार दया ही कारण है ।

भगवान्‌के परम दयालु और सर्वशक्तिमान् होते हुए भी, समदर्शी और निःस्पृह होनेके कारण उनके द्वारा अपने-आप कोई क्रिया नहीं की जाती । श्रद्धा-प्रेमपूर्वक शरणागत होनेसे भक्तके

हितके लिये ही, उनमें क्रियाका प्रादुर्भाव होता है और उनकी दयाका विकास होता है ।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि इस प्रकार भगवान्‌की समान भावसे सब जीवोंपर अपार दया है, तब फिर सभी जीवोंका कल्याण क्यों नहीं हो जाता ? विवेचन करनेसे इसका यही उत्तर मिलता है कि उनकी दयाके तत्त्वको न जाननेके कारण लोग उस दयासे विशेष लाभ नहीं उठा सकते । जैसे जगत्तारिणी भागीरथी गंगाका प्रवाह लोकहितार्थ निरन्तर बहता रहता है, तथापि जो गंगाके प्रभावको नहीं जानते, जो श्रद्धा-भक्तिकी कमी होनेके कारण स्नान-पानादि नहीं करते, वे उससे विशेष लाभ नहीं उठा सकते; इसी तरह भगवान्‌की दयाका प्रवाह अहर्निश गंगाके प्रवाहसे भी बढ़कर सर्वत्र बह रहा है, तो भी मनुष्य उसका प्रभाव न जाननेके कारण एवं श्रद्धा-भक्तिकी कमी होनेके कारण, भगवान्‌की शरण लेकर उनकी दयासे विशेष लाभ नहीं उठा सकते ।

समान भावसे भगवान्‌की दयाका साधारण लाभ तो सब जीवोंको मिलता ही है; परन्तु जो उसकी दयाका पात्र बन जाता है, वह उससे विशेष लाभ उठा सकता है । सूर्यकी धूप और रोशनी सर्वत्र समान भावसे सबको प्राप्त होती है, अतः समान भावसे उसका लाभ सबको मिलता है किन्तु सूर्यमुखी काँचपर उसकी शक्तिका विशेष प्रादुर्भाव होता है, उसमें तुरंत अग्नि प्रकट हो जाती है । सूर्यमुखी काँचकी भाँति जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है, जिसके अन्तःकरणमें भगवान्‌पर विशेष श्रद्धा और

प्रेम होता है, वह उनकी दयासे विशेष लाभ उठा सकता है।

मनुष्यके सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण, तीनों प्रकारके कर्मोंसे ही भगवान्‌की दयाका सम्बन्ध है—पूर्वकृत पुण्यकर्मोंका सञ्चय भगवान्‌की दयासे ही हुआ है तथा उन सञ्चित कर्मोंके अनुसार ही प्रारब्धभोगका विधान भगवान् दयापूर्वक जीवोंके हित-के लिये ही करते हैं। अतः भगवान्‌की दयाके रहस्यको समझने-वाला प्रारब्धभोगके समय हर एक अवस्थामें भगवान्‌की दयाका दर्शन किया करता है। क्रियमाण शुभकर्म भी भगवान्‌की दयासे ही बनते हैं, उनकी दयासे ही मनुष्य सन्मार्गमें अग्रसर हो सकता है। अतः सभी कर्मोंसे भगवान्‌की दयाका नित्य सम्बन्ध है।

श्रद्धा-भक्तिपूर्वक विचार करनेसे क्षण-क्षणमें, पद-पदपर, हर एक अवस्थामें मनुष्यको भगवान्‌की दयाके दर्शन होते रहते हैं! सब जीवोंको जल, वायु, प्रकाश आदि तत्त्वोंसे सुखभोग मिल रहा है, उनके जीवनका निर्वाह हो रहा है, खान-पान आदि कार्य चल रहे हैं, इन सबमें ईश्वरकी समान दया व्याप्त है।

मनुष्यके शुभ और अशुभ कर्मोंके अनुसार फलभोगकी व्यवस्था कर देनेमें भगवान्‌की दयाका ही हाथ है।

थोड़ा-सा जप, ध्यान और सत्सङ्ग करनेसे मनुष्यके जन्म-जन्मान्तरके पापोंका नाश होनेका जो भगवान्‌ने कानून बनाया है, इसमें तो भगवान्‌की अपार दया भरी हुई है!

भगवान्‌की शरण होकर प्रेम और करुणाभावसे प्रार्थना करने-पर प्रत्यक्ष प्रकट हो जाना, भक्तके हर प्रकारके दुःखों और संकटोंको

दूर करना, सब प्रकारसे शरणागतकी रक्षा करना, हर एक प्रकारके पापकर्मसे उसे बचाना, यह उनकी विशेष दयाका प्रदर्शन है। विना इच्छा और प्रार्थनाके भी भक्त प्रह्लादकी भाँति दृढ़ विश्वास रखकर भक्ति करनेवाले भक्तके हितके लिये स्वयं प्रकट होकर उसे दर्शन देना और सम्पूर्ण संकटोंसे उसकी रक्षा करना, यह भगवान्‌की दयाका अतिशय विशेष प्रदर्शन है।

महात्मा और शास्त्रोंके द्वारा या स्वतः लोगोंके अन्तःकरणमें प्रेरणा करके अथवा स्वयं अवतार लेकर लोगोंको बुरे कर्मोंसे हटाकर अच्छे कर्मोंमें लगा देना, यह भी भगवान्‌की विशेष दयाका प्रदर्शन है।

स्त्री, पुत्र, धन और मकान आदि सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति और उनका विनाश होनेमें एवं शरीरका स्वास्थ्य ठीक रहने और न रहनेमें, रोग और संकटादिकी प्राप्ति और उनके विनाशमें तथा सुख-सम्पत्ति और दुःखोंकी प्राप्तिमें भी——हर एक अवस्थामें मनुष्यको भगवान्‌की दयाका दर्शन करनेका अभ्यास करना चाहिये।

स्त्री, पुत्र, धन और मकान आदि सांसारिक पदार्थोंकी वृद्धिमें समझना चाहिये कि भगवान्‌ने पूर्वकृत पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप ये सब पदार्थ दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये, श्रेष्ठ कर्म करनेके लिये, भगवान्‌में प्रेम बढ़ानेके लिये और हर प्रकारसे ईश्वरभक्तिमें इनका प्रयोग करनेके लिये ही दिये हैं। ऐसा समझकर उन सांसारिक पदार्थोंसे जो केवल शरीरनिर्वाहमात्र ही अपना सम्बन्ध रखता है और उन सबको ईश्वरके ही काममें लगा देता है, वही ईश्वरकी

दयाका रहस्य ठीक समझता है; जो उन पदार्थोंको भोगोंमें खर्च करता है, वह भगवान्‌की दयाके तत्त्वको नहीं समझता ।

इन सब सांसारिक भोग-पदार्थोंके नाशके समय समझना चाहिये कि इन सबमें मेरी भोगबुद्धि और आसक्ति होनेके कारण ये ईश्वरभक्तिमें बाधक थे। अतः परमदयालु भगवान्‌ने दयावश अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये इन सबको हटाया है, इसमें भगवान्‌की परम दया है। जिस प्रकार संसारमें देखा जाता है कि पतंगे या दूसरे इसी प्रकारके जन्तु रोशनीको देखकर उसपर आसक्त हो जाते हैं, मोहवश उसमें उछल-उछलकर पड़ते और भस्म हो जाते हैं। उनकी ऐसी बुरी दशा देखकर, दयालु मनुष्य उस रोशनीको वहाँसे हटा देता या बुझा देता है; इस कार्यमें उस मनुष्यकी उन पतंगोंपर महान् दया है, यद्यपि वे पतंग इस बातको नहीं समझते। उनकी समझमें तो उस रोशनीको हटानेवाला अत्यन्त निर्दयी और महान् शत्रु है; पर यह उनका अज्ञान है, उनकी भूल है। इसी तरह हमारे भोले भाई जो ईश्वरकी दयाका रहस्य नहीं जानते, वे भी इन सब सांसारिक पदार्थोंका अभाव होते देखकर नाना प्रकारसे ईश्वरको दोष दिया करते हैं; परन्तु भगवान् तो परम दयालु हैं, इसलिये वे उनके अपराधकी ओर नहीं देखते। तथा मुझपर परम दया करके भगवान्‌ने पूर्वकृत पापकर्मोंसे उऋण करनेके लिये, भविष्यमें पापोंसे बचानेके लिये और समस्त भोग-सामग्रीको प्रत्यक्ष क्षणभङ्गुर दिखाकर उनमें वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये इन सबका वियोग किया है——ऐसा समझकर जो सांसारिक

भोग-पदार्थोंके वियोगमें भी भगवान्‌की दयाका दर्शन करके सदा प्रसन्न रहता है, वही उनकी दयाके रहस्यको ठीक समझता है।

ऐसे ही जब शरीर आरोग्य रहे तो समझना चाहिये कि भगवान्‌को सर्वव्यापी समझकर सबमें भगवान्‌का दर्शन करते हुए दूसरोंकी सेवा करनेके लिये, श्रेष्ठ पुरुषोंका संग करके भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझनेके लिये और उनके भजन-ध्यानका निरन्तर अभ्यास करनेके लिये भगवान् दया करके मुझे नीरोग रखते हैं—ऐसा समझकर इस क्षणभङ्गुर शरीरको जो परम दयालु परमात्माके काममें उपर्युक्त उद्देशानुसार लगा देता है, वही उनकी दयाके रहस्यको ठीक समझता है।

शरीर रोगग्रस्त होनेसे समझना चाहिये कि पूर्वकृत पापकर्मोंसे उऋण करनेके लिये, भविष्यमें पापोंसे बचानेके लिये, शरीरमें वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये और रोगादिमें तपबुद्धि करके उसका लाभ देनेके लिये, एवं बार-बार अपनी स्मृति दिलानेके लिये, भगवान्‌ने परम दया करके पुरस्काररूप यह अवस्था दी है—यह समझकर जो रोगादिकी प्राप्तिमें भी किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करके आनन्दपूर्वक अपने मनको निरन्तर भगवान्‌के चिन्तनमें लगा देता है, तथा भगवान्‌के उपर्युक्त उद्देशोंको समझ-समझकर सदा हर्षित रहता है, वही भगवान्‌की दयाके रहस्यको ठीक समझता है।

इसी तरह सुखी और दुखी, महात्मा और पापी जीवोंके साथ मिलन और बिछोह होनेके समय, एवं उनसे किसी प्रकारका

भी सम्बन्ध होते समय, सदा भगवान्की दयाका दर्शन करना चाहिये ।

अच्छे पुरुषोंसे भेंट हो तो समझना चाहिये कि इनके गुणों और आचरणोंका अनुकरण करवानेके लिये, इनके उपदेशोंको काममें लाकर भगवान्में प्रेम बढ़ानेके लिये, भगवान्ने परम दया करके इनसे भेंट करायी है ।

उनके साथ वियोग होनेपर समझना चाहिये कि ऐसे पुरुषों-का संग सदा रहना दुर्लभ है, इस महत्त्वको समझानेके लिये, पुनः उनसे मिलनेकी उत्कट इच्छा उत्पन्न करनेके लिये और उनमें प्रेम बढ़ानेके लिये भगवान् दया करके ही उनसे वियोग कराते हैं ।

दुष्ट, दुराचारी पुरुषोंसे भेंट होनेपर समझना चाहिये कि दुराचारोंसे होनेवाली हानियोंको प्रत्यक्ष दिखाकर, दुर्गुण और दुराचारमें विरक्ति उत्पन्न करनेके लिये भगवान् ऐसे मनुष्योंसे भेंट कराते हैं ।

उनके वियोगमें समझना चाहिये कि कुसंगके दोषोंसे बचानेके लिये ही भगवान् अपनी दयासे ऐसे दुराचारी मनुष्योंसे वियोग कराते हैं ।

दुखी मनुष्यों और जीवोंसे भेंट होनेपर समझना चाहिये कि अन्तःकरणमें करुणाभावकी वृद्धि करनेके लिये, उनकी सेवा करने-का मौका देनेके लिये और संसारमें वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये दयामय भगवान् दया करके ही ऐसे जीवोंसे भेंट कराते हैं ।

सुखी मनुष्योंसे और जीवोंसे भेंट होनेपर समझना चाहिये कि इन सबको सुखी देखकर प्रसन्न होनेकी शिक्षा देनेके लिये, भगवान्ने दया करके इनसे भेंट करायी है।

इन सबके वियोगमें समझना चाहिये कि जनसमुदायकी आसक्तिको दूर करके, संसारमें परम वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये और एकान्तमें रहकर भजन-ध्यानका दृढ़ अभ्यास करनेके लिये भगवान्ने दयापूर्वक ऐसा मौका दिया है।

इसी तरह अन्य सब घटनाओंमें सदा-सर्वदा, सभी अवस्थाओंमें, भगवान्की दयाका दर्शन करना चाहिये। ऐसा अभ्यास करके मनुष्य, सब जीवोंपर जो भगवान्की अपार दयाका प्रवाह बह रहा है, उसके रहस्यको समझकर, उससे विशेष लाभ उठा सकता है।

दयामय परमेश्वरकी सब जीवोंपर इतनी दया है कि सम्पूर्ण रूपसे तो मनुष्य उसे समझ ही नहीं सकता; मनुष्य अपनी बुद्धिसे अपने ऊपर जितनी अधिक-से-अधिक दया समझता है, उतना समझना भी बहुत ही है; मनुष्य ईश्वर-कृपाकी यथार्थरूपसे तो कल्पना भी नहीं कर सकता।

लोग भगवान्को दयासागर कहते हैं; किन्तु विचार करनेपर मालूम होता है कि यह उपमा भी पर्याप्त नहीं है, यह तो उसकी अपार दयाका किञ्चित् परिचयमात्र है। समुद्र परिमित—सीमाबद्ध है और भगवान्की दया असीम और अपार है, तथापि संसारमें समुद्रसे बड़ी वस्तु प्रत्यक्ष न होनेके कारण लोग उसीकी उपमा देकर भगवान्की दयाके महत्त्वको समझानेकी चेष्टा किया करते हैं।

इस प्रकार सब जीवोंपर भगवान्की अपार दया होते हुए भी उसके रहस्यको न समझनेके कारण मनुष्य उससे विशेष लाभ नहीं उठा सकते और अपनी मूर्खताके कारण निरन्तर दुःखोंमें मग्न रहते हैं ।

भगवान्की दयाका महत्त्व अपार है; उससे जो मनुष्य जितना लाभ उठाना चाहेगा, उतना ही उठा सकता है । भगवान्की दयाको एवं उसके रहस्य और तत्त्वको बिना समझे वह दया समान भावसे साधारण फल देती है; उसे जो जितना अधिक समझता है उसे वह उतना ही अधिक फल देती है और समझकर उसीके अनुसार क्रिया करनेसे अत्यधिक फल देती है ।

भगवान्की दयाका ऐसा प्रभाव है कि उसका रहस्य और तत्त्व जाननेवालेसे वह पारसमणिकी भाँति स्वयं क्रिया करवा लेती है । अर्थात् जैसे किसी दरिद्री मनुष्यके घरमें पारस पड़ा हो पर उसे उसका ज्ञान न हो, वह उसे साधारण पत्थर ही समझ रहा हो, तो वह मनुष्य उससे विशेष लाभ नहीं उठा सकता, केवल पत्थर-जैसा ही काम ले सकता है । किन्तु ऐसा करते-करते यदि अकस्मात् उस पारसका लोहेसे सम्बन्ध हो जाय, तो वह उसे विशेष लाभ भी दे देता है; एवं ऐसा अद्भुत चमत्कार देखकर या किसी दूसरे गुणज्ञ पुरुषके समझानेसे, वह उस पारसको ठीक पारस समझ लेता है, उस पारसके गुण और प्रभावका उसे भलीभाँति ज्ञान हो जाता है, तब ऐसा ज्ञान उस मनुष्यसे विशेष क्रिया करवाकर, उसे पूर्ण फलका भागी बना देता

है । इसी तरह जब किसी विशेष घटनासे या किसी महापुरुषके संगसे, भगवान्‌की दयाके रहस्य, तत्त्व और प्रभावका मनुष्यको कुछ ज्ञान हो जाता है, तो वह ज्ञान उससे स्वयं क्रिया करवाकर उसे पूर्ण फलका भागी बना देता है ।

जो मनुष्य इस रहस्यको समझ जाता है कि भगवान् परम दयालु तथा सबके सुहृद् हैं, उसे तुरंत ही परम शान्ति मिल जाती है । भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

(गीता ५ । २९)

'हे अर्जुन ! मेरा भक्त मुझे सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी तत्त्वतः जानकर शान्तिको प्राप्त होता है ।'

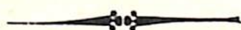
क्यों न हो । हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जब किसी साधारण राजाधिराज या सेठ-साहूकारके विषयमें हमारा यह विश्वास हो जाता है कि अमुक राजा या सेठ बड़ा दयालु और शक्तिशाली है, वह सबपर दया करता है, एवं मुझसे मिलना चाहता है और प्रेम करना चाहता है, तो हमें कितना आनन्द होता है, कितना आश्वासन मिलता है, कितनी शान्ति मिलती है, एवं किस प्रकार उससे मिलकर उसकी दयासे लाभ उठानेकी चेष्टा होती है । फिर सर्वशक्तिमान्, असंख्य कोटि ब्रह्माण्डोंके मालिक भगवान्‌के विषयमें जिसको यह विश्वास हो जाय कि भगवान् परमदयालु, सबके सुहृद्

हैं, वे मुझसे प्रेम करना चाहते हैं, मुझपर उनकी अपार दया है, मिलनेकी इच्छावालोंसे वे स्वयं मिलना चाहते हैं, फिर वह श्रद्धालु भक्त भगवान्‌की उस दयासे परम लाभ उठानेकी चेष्टा करे और उसे परम शान्ति प्राप्त हो, इसमें तो आश्चर्य ही क्या है। इस प्रकार भगवान्‌की दयाके रहस्यको समझनेवाला स्वयं भी परम दयालु और सबका सुहृद् बन जाता है, उसे स्वयं भगवान् मिल जाते हैं, वह भगवान्‌का अतिशय प्यारा बन जाता है, भगवान्‌की और उसकी एकता हो जाती है।

उस परम दयालु, सबके सुहृद्, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी अपार दया हमलोगोंपर स्वाभाविक है। क्षण-क्षणमें उसकी दयाका स्वाभाविक लाभ हमको मिल रहा है, वे स्वयं अवतार लेकर अपनी दयाका प्रत्यक्ष दर्शन करा गये हैं; इसलिये उसकी ओर लक्ष्य करके भगवान्‌की दयाके रहस्य, प्रभाव और तत्त्वको समझनेके लिये हमें तत्पर हो जाना चाहिये। क्योंकि यह मनुष्यशरीर भगवान्‌की निर्हेतुकी दयासे ही प्राप्त हुआ है, इसीमें यह जीव भगवान्‌की दयाको समझकर उनका परम प्रेमपात्र बन सकता है। क्षण-क्षणमें आयु नष्ट हो रही है, फिर ऐसा मौका मिलना असम्भव है। गया हुआ समय वापस नहीं मिल सकता, अतः ऐसे अमूल्य मनुष्य-जीवनको विषय-भोगोंके भोगनेमें, मोह-मायामें, आलस्य और प्रमादमें व्यर्थ नहीं खोना चाहिये।



शरणागतिका स्वरूप और फल



शरणागतिका प्रारम्भिक स्वरूप क्या है तथा बादमें उसका क्या स्वरूप हो जाता है—इसी विषयपर इस निबन्धमें विचार करना है। यह विषय बहुत ही गम्भीर और रहस्यपूर्ण है। जो व्यक्ति इस रहस्यको हृदयङ्गम कर लेता है वह सदाके लिये कृतार्थ हो जाता है। महर्षि पतञ्जलिने भी योगसूत्रमें पहले मननिरोधके लिये अभ्यास और वैराग्यका कथन किया है और फिर 'ईश्वर-प्रणिधानाद्वा' कहकर शरणागतिका महत्त्व प्रतिपादन किया है। रामायण और गीता आदिमें भी ईश्वरशरणको ही भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन बतलाया गया है। शरणागति और भक्ति—दोनोंका

एक ही तात्पर्य है। इनके पूर्व 'अनन्य' शब्द जोड़ देनेपर भक्ति और शरणागतिमें पूर्णता आ जाती है।

शरणका आरम्भ 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' इस कथनमात्रसे ही हो जाता है। यही कथन आगे चलकर यथार्थ शरणागतिके रूपमें परिणत हो जाता है। मारवाड़में क्यामख्यानी नामकी एक मुसलमान जाति है। सुना जाता है कि पहले ये लोग हिन्दू थे। जिस जगह ये प्रधानतासे रहा करते थे वहाँके शासकने इन्हें मुसलमान बना लेनेकी नीयतसे यह कहा कि 'तुम लोगोंसे मैं एक बातकी आशा करता हूँ। वह यह कि तुम लोग वास्तवमें चाहे मुसलमान न भी बनो पर कम-से-कम पूछनेपर अपनेको मुसलमान बतलाते रहो।' इस राजाज्ञाको मान लेनेमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं हुई। उनके घरू व्यवहार और वैयक्तिक रहन-सहन ठीक हिन्दुओंके-जैसे ही बने रहे, पर पूछनेपर वे अपनेको मुसलमान ही बतलाते थे। आश्चर्य है कि मुसलमान शासककी यह दूरदर्शितापूर्ण नीति शीघ्र ही काम कर गयी और आज उनके खान-पान और रहन-सहन आदि समस्त व्यवहार मुसलमानी ढाँचेमें पूर्णरूपसे ढल गये। अब वे लोग अपनेको वास्तवमें पूरे मुसलमान मानने लगे हैं। इस दृष्टान्तके अनुसार यदि हम अपने ईश्वररूप राजाके व्यापक राज्यमें रहकर यह स्वीकार कर लें कि 'हे प्रभो! हम आपके हैं तो फिर हमें सच्चा भक्त बन जानेमें देर नहीं लगेगी, क्योंकि उस दयालु परमेश्वरने तो डंकेकी चोट यह घोषणा ही कर रक्खी है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥
(वा० रा० ६ । १८ । ३३)

अर्थात् मेरी शरण आनेके लिये जो एक बार भी यह कह देता है कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ तो मैं उसे समस्त भूतोंसे निर्भय कर देता हूँ। यह मेरा व्रत है।' महाभारत-युद्ध-आरम्भके समय गीतामें अर्जुन भी इसी प्रकार शरणागतके रूपमें हमें दृष्टिगत होता है। वह मनस्तापसे व्यथित होकर अपने चिरन्तन सखा भगवान् श्रीकृष्णके सामने कातर स्वरमें कह उठता है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥
(गीता २ । ७)

अर्थात् 'कायरतारूप दोष करके उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपको पूछता हूँ कि जो साधन निश्चय ही कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।'

इसके पूर्व गीतामें कहीं भी शरणागतिका वर्णन नहीं आया इसलिये यह शरणागति प्रारम्भिक समझनी चाहिये, क्योंकि इसके

बाद ही वह कहने लगता है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा।' सञ्जय कहते हैं—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥

(गीता २। ९)

'हे राजन्! निद्राको जीतनेवाले अर्जुन अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराजके प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्रीगोविन्द भगवान्‌से 'युद्ध नहीं करूँगा' यह स्पष्ट कहकर चुप हो गये।'

अर्जुनकी इस 'न योत्स्ये'वाली उक्तिको सुनकर भगवान् अपनी मुस्कराहटको रोक न सके, क्योंकि एक तरफ तो वह कह रहा है कि 'मैं आपके शरण हूँ, मुझे उपदेश दीजिये' और दूसरी ओर अपनी मनमानी कहता है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा।' यह व्यवहार तो उस झगड़ालूकी तरहका-सा हुआ कि जो अपने किसी विश्वासभाजन पञ्चके पास जाकर कहता है कि 'मेरा एक नालीके सम्बन्धमें पड़ोसीसे झगड़ा हो गया है। आप उसका निपटारा कर दीजिये। मुझे आपका निर्णय सर्वथा मान्य होगा। किन्तु इस बातका ध्यान रहे कि इस नालीका पानी तो जहाँ गिरता है वहीं गिरेगा।' इस बातको सुनकर पञ्च उसके इस आग्रहको देखकर मन-ही-मन हँसता है और न्यायके लिये किसी दूसरेके पास जानेकी सलाह देता है। यहाँ अर्जुनकी भी दशा इसी तरहकी-सी देखी जाती है। वह कहता है कि मैं आपके शरण हूँ, आप कहेंगे सो करूँगा, परन्तु युद्ध नहीं करूँगा। इस दशामें भी दयामय भगवान्-

को अर्जुनके इस कथनपर कोई अन्यथाभाव नहीं हुआ, उन्होंने उसे अपने शरणसे दूर नहीं किया। बल्कि हर तरहसे समझा-बुझाकर मार्गपर लानेकी सफल चेष्टा की। क्योंकि वह 'त्वां प्रपन्नम्' 'मैं आपके शरण हूँ' ऐसा एक बार कह चुका था।

इस कथनसे यह नहीं समझना चाहिये कि वास्तवमें अर्जुनकी भगवद्भक्तिमें कमी थी। उसकी भक्तिमें कमी होती तो भगवान् उसके रथके घोड़े ही क्यों हाँकते? बात यह है कि भगवान्ने अपनी लीलासे अर्जुनको मोहित-सा करके यहाँ लोकशिक्षार्थ प्रारम्भिक शरणागतिका स्वरूप दिखलाया है।

यह तो प्रारम्भिक शरणकी बात हुई। अब शरणागतिके स्वरूपको समझनेकी आवश्यकता है। इन्द्रिय, मन, शरीर और आत्मा सबसे सर्वथा निष्काम प्रेमभावसे भगवान्के शरण होनेका नाम ही अनन्य शरणागति है। परमेश्वरके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला और रहस्यका सदा मनन करते रहना मनसे भगवान्के शरण होना है। वाणीसे भगवन्नामका उच्चारण करना, चरणोंसे भगवान्के मन्दिर आदिमें जाना, नेत्रोंसे भगवान्की मूर्ति आदिके दर्शन एवं शास्त्रावलोकन करना, कानोंसे उनके गुणानुवादादि सुनना तथा हाथोंसे उनके विग्रहकी पूजा करना और सबमें भगवत्-बुद्धि करके सबकी सेवा करना तथा श्रीहरिकी आज्ञाओंका पालन करना इत्यादि इन्द्रियोंसे उनके शरण होना है। और उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करना आदि शरीरसे भगवान्के शरण होना है। तथा भगवत्प्रेमके सिवा और किसीको भी हृदयमें स्थान न देकर भगवान्के

परायण होना ही अपने आपको भगवान्‌के समर्पित कर देना है, यही अनन्य शरण है। शास्त्रोंमें तो परमदयालु परमात्माको केवल एक ही बार प्रणाम कर देनेका भी बहुत अधिक माहात्म्य बतलाया गया है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥

(महाभारत शान्ति० ४७ । ९१)

'भगवान् श्रीकृष्णको किया हुआ एक भी प्रणाम दस अश्वमेध-यज्ञोंके अवभृथस्नानके बराबर है, (इतना ही नहीं, विशेषता यह है कि) दस अश्वमेध करनेवालेको तो फिर जन्म लेना पड़ता है, किन्तु भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवालेको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता ।'

इसी प्रकार श्रीहरिके पावन नामका केवल एक ही बार उच्चारण कर देनेसे भी समस्त पापोंका नाश होकर अकथनीय फलकी प्राप्ति होती है। प्रत्यक्षमें वैसा फल दृष्टिगत न होनेमें हमारी अश्रद्धा ही प्रधान कारण है ।

वाणीसे शरण होना जितना सुगम है, शरीरकी शरणागति उतनी सुगम नहीं है। एक आदमी किसीका अपराध कर देता है तब वह अपनेको सङ्कटापन्न समझकर क्षमा-याचनाके लिये उसके शरणमें जाता है। उस समय वह अपने मुँहसे तो उससे क्षमा माँग लेता है पर उसके चरणोंमें गिरने आदिमें उसे संकोच होता

है। फिर भी वह केवल कथनद्वारा भी अपने अपराधोंकी क्षमा करवा ही लेता है। वाणी और शरीरसे शरण होनेकी अपेक्षा इन्द्रियोंसहित अन्तःकरणद्वारा शरण होना और भी कठिन है। क्योंकि मनुष्य वाणीसे कह देता है कि मैं आपके शरण हूँ और शरीरसे भी चरणोंमें गिरकर शरणागत हो जाता है परन्तु मनसे शरण होना इससे भी कठिन है। मनसे शरण हो जानेका फल यह है कि भगवान्‌के सिवा किसी अन्य वस्तुका चिन्तन ही नहीं होता। उसे तो नित्य-निरन्तर अपने प्रियतम वासुदेव ही सर्वत्र विराजित दीखने लगते हैं।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(गीता ७। १९)

उपर्युक्त प्रकारसे परमात्माके शरण हो जानेपर किसी-किसी साधकको तो अपने तनकी भी सुधि नहीं रहती। वह भगवान्‌से परे और किसीको भी नहीं जानता और भगवान्‌के ही अनन्य प्रेममें मग्न रहता है। इस शरणागतिमें पूर्वोक्त सभी भेदोंका अन्तर्भाव है।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि हम उस प्रभुकी शरणके लिये कहाँ जायँ? मन्दिरमें जाकर उसके विग्रहकी शरण लें अथवा सब जगह प्रतिष्ठित सर्वव्यापक विभुकी शरण ग्रहण करें? इसके उत्तरमें निवेदन है कि जिसकी जैसी रुचि हो वह उसीके अनुसार भगवान्‌की शरण ले सकता है। यदि कारणविशेषसे मन्दिरोंमें जानेमें असुविधा या रुचि न हो तो जो जहाँ हो वह वहीं भगवान्‌की शरण हो सकता है। क्योंकि भगवान् सर्वव्यापक हैं, कोई भी

ऐसा स्थान नहीं जहाँ वे न हों। यदि हम उन्हें कोई वस्तु अर्पण करना चाहें तो वे तत्काल उसे ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि वे 'सर्वत:पाणि' अर्थात् सब ओर हाथोंवाले हैं। यदि हम उन्हें नमस्कार करना चाहें तो वे हमारे नमस्कारको भी सब जगह स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि वे 'सर्वत:पाद' अर्थात् सब जगह पैरवाले हैं। यदि हम उन्हें अपनी श्रद्धामयी पूजा-क्रियादिको दिखलाना चाहें तो वे उन्हें देख भी सकते हैं क्योंकि वे 'सर्वतोऽक्षि' अर्थात् सब जगह नेत्रोंवाले हैं। यदि हम उनके मस्तकपर प्रेम-पुष्पाञ्जलि समर्पित करना चाहें तो वे उसे भी सहर्ष स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि वे 'सर्वत:शिर:' अर्थात् सब स्थानोंपर सिरवाले हैं। हमारे द्वारा किये गये गुणानुवादोंको भी वे प्रभु सभी जगह सुन सकते हैं क्योंकि वे 'सर्वत:श्रुतिमत्' अर्थात् सब जगह कानों-वाले हैं। इसी प्रकार प्रेमसे अर्पण किये हुए हमारे नैवेद्यको भी वे 'सर्वतोमुख:' भगवान् नि:संकोच खा सकते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९। २६)

अर्थात् 'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेम-पूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रेमसे खाता हूँ।'

ऊपरकी पंक्तियोंमें भगवान्‌के निमित्त पूजा आदि क्रियाओंको

करनेकी विधिका निरूपण किया गया। अब निराकार सर्वत्र व्यापक भगवान् विभुकी शरण यानी आज्ञाएँ कैसे प्राप्त की जायँ इस विषयपर कुछ लिखा जाता है। गीताके उपदेशोंको ही भगवान्‌की आज्ञा मानकर अर्जुनकी तरह अपने-आपको उसके अनुगत बना दें। इसपर यह शङ्का हो सकती है कि किसी सन्दिग्ध विषयको न समझ सकनेकी दशामें उसका समाधान किस प्रकार किया जाय। इसका उत्तर यह है कि एकान्तमें बैठकर 'सर्वभूताशयस्थित' भगवान्‌को अपने मनके समस्त सन्देह सुना दे, ऐसा करनेपर वे स्वतः ही हृदयमें प्रेरणा कर देंगे। इसपर भी हृदयकी मलिनताके कारण यदि कोई बात समझमें न आ सके तो भगवान्‌के भक्तोंको पूछना चाहिये। उन भक्तोंका पता भी भगवान् ही बतला सकेंगे, वे जिनके लिये हृदयमें प्रेरणा करें वे ही हमारे लिये भक्त कहे जा सकते हैं।

हम भगवान्‌की पूर्णतया शरण हो गये—इसका निश्चय कैसे हो? इस शंकाका समाधान करनेके लिये अर्जुनका दृष्टान्त देते हैं। अर्जुनसे भगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(गीता १८। ६५)

'हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।'

इस श्लोकमें शरणागतिकी चारों बातें आ गयीं। 'मन्मना !' अर्थात् मेरेमें मन लगानेवाला हो। 'मद्भक्तः' मुझमें ही, स्त्री-पुत्रादिमें नहीं—प्रेम करनेवाला हो। 'मद्याजी' से भगवान्‌की पूजा और आज्ञापालन समझना चाहिये। 'नमस्कुरु' अर्थात् मेरे चरणोंमें प्रणाम कर। प्रणाम करनेका महत्त्व तो लोकमें भी प्रत्यक्ष ही देखनेमें आता है। जब अपराधी चरणोंमें गिर पड़ता है तो चाहे कोई कितना ही निष्ठुरहृदय क्यों न हो उसे उसको क्षमा प्रदान करनी ही पड़ती है। बालक अपराध करके अपनी माताकी गोदमें जा बैठता है और बड़ा चरणोंमें गिर पड़ता है। इसी प्रकार भक्त अपने परम सुहृद् परमात्माके पादपद्मोंमें गिर पड़े। फिर वे चाहे मारें या तारें; इसकी कोई परवा नहीं, भगवान्‌के द्वारा किये हुए विधानमें सदा प्रसन्न रहे, भारी-से-भारी दुःख पड़नेपर भी कभी विचलित न हो। जिस समय बालकके फोड़ेकी चीराफाड़ी होती है उस समय वह अपनी माताकी गोदमें सुखसे बैठा रहता है, जरा भी घबराता नहीं। वह रोता हुआ भी इस बातको जानता है कि मेरी स्नेहमयी जननी कभी स्वप्नमें भी मेरा अहित नहीं कर सकती। उसका प्रत्येक विधान मेरे लिये सदा मंगलमय ही होता है। इसी प्रकार भक्त निःशङ्क होकर विश्वासपूर्वक भगवान्‌के चरणोंमें पड़ा रहता है। भारी-से-भारी दुःखके उपस्थित होनेपर भी बुद्धिके विचारसे वह उसके गर्भमें अपने कल्याणको देखता रहता है किन्तु कभी-कभी प्रणय-कोप भी कर बैठता है और कभी-कभी रोने भी लगता है। प्रभु उसके बालकपनको समझकर उसके दुःखकी, उसके रोनेकी परवा नहीं करते और अन्तमें उसे ऐसा बना देते हैं

कि वह प्रत्येक अवस्थामें सन्तुष्ट रहता है। अनिकेत बन जाता है—देह और गेह उसके निकेत नहीं रहते। उसका देहाभिमान छूट जाता है और उसकी गृहासक्ति नष्ट हो जाती है।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

(गीता १२। १९)

इस प्रकार बुद्धिके स्थिर हो जानेपर वह प्रत्येक विधानमें प्रसन्न रहता है। गीताके १२ वें अध्यायके श्लोक १३ से २० तकमें भक्तोंके जितने लक्षण भगवान्‌ने बतलाये हैं यदि वे हममें घटने लगें तो समझ लेना चाहिये कि हम भगवान्‌के पूर्णतया शरण हो गये।

यहाँतक शरणागतिकी प्रारम्भिक और अन्तिम स्थितिका प्रतिपादन किया गया। अब उसकी बीचकी सीढ़ियोंपर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। जिस प्रकार हनुमान्‌जीने छलाँग मारकर ही समुद्रको पार कर लिया था उसी प्रकार भक्त भी बीचकी सीढ़ियोंपर चढ़े विना भी संसारसमुद्रसे पार होकर परमात्माकी दयासे अपने अभीष्ट धामको पहुँच सकता है।

भगवान् श्रीकृष्णद्वारा वर्णित अध्याय १६ के आरम्भके 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' आदि दैवीसम्पदाके २६ गुणोंको अपने हृदयमें धारण कर लेना ही शरणागतिकी बीचकी अवस्था है। इसका फल भगवत्प्राप्ति है।

यदि कहें कि दैवीसम्पत्तिके लक्षण भक्तिमार्गके साधन क्यों माने जायँ, तो भगवान्‌ने नवें अध्यायमें स्पष्ट कहा है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

(गीता ९ । १३)

'परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं ।'

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

(गीता ९ । १४)

'वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं ।'

इस श्लोकमें भक्ति (शरणागति) के लक्षणोंका वर्णन किया है इसलिये दैवीसम्पत्तिको भक्तिके प्रकरणमें लेना उचित ही है ।

शरणागतिके मार्गपर चलनेवाले साधकके हृदयमें दुर्गुण और दुराचार स्वतः ही नष्ट होते जाते हैं, तथा सदाचार और सद्‌गुणका विकास भी भगवान्‌की दयासे अपने-आप ही होता जाता है । दैवीसम्पदाकी प्राप्ति और आसुरीसम्पदाके नाशमें भगवान्‌की दया

ही प्रधान हेतु है। यदि सद्‌गुणोंकी वृद्धि होती न दीखे तो समझना चाहिये कि शरणमें अभी त्रुटि है। जैसे सूर्यकी शरण ले लेनेपर अन्धकारको कहीं भी स्थान नहीं रह जाता वैसे ही भगवान्‌की शरण हो जानेपर हृदयमें किसी प्रकारका दोष रह ही नहीं सकता। शरणागतिकी दृढ़ताके लिये साधकको सदा आत्मनिरीक्षण करते रहना चाहिये। वह अपने मनको सदा देखता रहे कि उसमें सद्गुणोंका और भगवान्‌का वास हो रहा है या विषयोंका। वह ध्यान रक्खे कि उसकी वाणी भगवद्‌गुणानुवादका रसानुभव कर रही है या नहीं। उसकी क्रियाएँ भगवान्‌के बदले कहीं भोगोंके लिये तो नहीं हो रही हैं? शरीरको समर्पित कर देनेपर तत्सम्बन्धी सुख-दुःखोंमें साधकको भगवान्‌की दया स्पष्टरूपसे दीखने लगती है। ज्यों-ज्यों भगवान्‌में प्रेम बढ़ता है त्यों-त्यों विषयोंमें आनन्द कम होता जाता है और भगवान्‌में बढ़ता जाता है। यही प्रेमकी कसौटी है। भगवान्‌में जितना प्रेम बढ़ता जायगा—भगवान्‌का उतना ही ज्ञान होता जायगा, उतना ही सांसारिक विषयोंमें वैराग्य होकर उनमें स्वतः ही आनन्द कम प्रतीत होने लगेगा। धीरे-धीरे भगवान्‌के प्रेमका आनन्द बढ़ेगा और फिर उसके सामने त्रिलोकीका आनन्द भी तुच्छ प्रतीत होगा।

भगवान्‌के शरणार्थीको ऐसा मानना चाहिये कि भगवान् जो कुछ करते हैं, सब मंगल ही करते हैं। उनके प्रत्येक विधानमें दया और न्याय मानकर आनन्दित होना चाहिये। उन्हीं नवीन कर्मोंको करना चाहिये जिनसे भगवान् प्रसन्न हों। भगवान्‌को हर

समय याद रखना चाहिये। स्त्री-पुत्र आदिके प्राप्त होनेपर यह समझे कि भगवत्-प्राप्तिमें सहायताके लिये ये मिले हैं, और इनके नाश होनेपर यह समझे कि मैं इनकी आसक्तिमें फँस गया था इसलिये भगवान्‌ने दया करके इनको हटा लिया है। इसी प्रकार अन्य विषयोंकी प्राप्ति और विनाशमें भी समझना चाहिये।

यों समझते-समझते मनका जितना-जितना विकार हटता जाता है, उतना-उतना ही वह प्रभुके नजदीक जाता रहता है। प्रभुकी दयासे उसमें सद्‌गुणोंकी वृद्धि होती रहती है। वह किसीकी सेवा करता है तो यह समझता है कि मैं प्रभुकी ही सेवा कर रहा हूँ। हरेक कालमें उसका निःस्वार्थ भाव रहता है। जैसे पतिव्रता स्त्री अतिथियोंकी सेवा करती है परन्तु उनमें आसक्त नहीं होती, इसी प्रकार भक्त भी सारी दुनियाकी सेवा करता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता।

किसी-किसी भक्तमें ऐसा भी होता है कि जब सेवा करनेसे उसकी प्रतिष्ठा होने लगती है तब आरम्भमें तो वह उससे प्रसन्न-सा होता है और खूब सेवा करता है परन्तु आगे जाकर विचार करता है कि मैं तो मान-बड़ाईके लिये सेवा कर रहा हूँ, प्रभुके लिये कहाँ? धीरे-धीरे उसकी मान-बड़ाईकी चाह कम होती जाती है और वह स्वयं मान-बड़ाईके उद्देश्यको छोड़ता जाता है परन्तु फिर भी दूसरोंके द्वारा दी गयी मान-बड़ाईको कहीं स्वीकार कर बैठता है। इसके बाद वह मान-बड़ाईके प्राप्त होनेपर लज्जित हो जाता है। मनमें समझता है कि पृथ्वी फट जाय तो उसमें धँस जाऊँ,

और इसके बाद तो जहाँ ऐसा मौका आनेकी सम्भावना होती है वहाँ वह जाना ही नहीं चाहता, जैसे पतिव्रता स्त्री बुरे वातावरणमें नहीं जाना चाहती। ऐसी अवस्थामें उसे मान-बड़ाईमें दुःख और अपमान तथा निन्दामें सुख-सा प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार क्रमशः उसके अहंकारका कतई नाश होता जाता है, वह विचार करता है कि मुझमें जो 'मैं' था, वह 'मैं' तो प्रभुके शरण हो गया। अब तो मैं प्रभुकी कठपुतलीमात्र हूँ। इसी स्थितिको बतलाते हुए भगवान् कह रहे हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ६-७)

'परन्तु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं। हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

मतलब यह कि जिस प्रकार कठपुतलीको सूत्रधार जैसे नचाता है वह वैसे ही नाचती है। अपनी ओरसे कोई चेष्टा नहीं करती। वैसे ही वह भक्त अपने अहंकारसे कुछ भी नहीं करता। उसके द्वारा जो कुछ होता है, सब भगवान् ही करते हैं, इसीलिये

उसकी प्रत्येक क्रिया परम पवित्र और आदर्श होती है। उससे ऐसा कोई कार्य होता ही नहीं जो भगवान्‌की आज्ञा और रुचिके प्रतिकूल हो। यही कर्मोंका अर्पण है। उसके मन, शरीर और इन्द्रियाँ सब कुछ भगवान्‌के ही अर्पित होती हैं। इसी प्रकार वह सुख-दुःख-की प्राप्तिमें भी किसी प्रकार अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता। वरं उसे भगवान्‌का विधान समझकर पद-पदमें भगवान्‌की दयाका दर्शन करता हुआ मुग्ध रहता है। उसका चित्त अनन्यरूपसे केवल भगवान्‌के ही चिन्तनमें लगा रहता है, दूसरे किसी विषयके अस्तित्वकी भी कल्पना उसकी वृत्तिमें नहीं आती। इस प्रकार कर्मसे, शरीर और इन्द्रियोंसे और मन-बुद्धिसे जो सर्वथा भगवान्‌के अर्पित हो जाता है उसे भगवान् स्वयं अति शीघ्र संसारसागरसे उद्धारकर अपना परमप्रेमी बना लेते हैं। और स्वयं उसके परमप्रेमी बन जाते हैं। ऐसी स्थितिमें उसको सब ओर प्रभुका ही रूप दीखने लगता है। वह अपने-आपको सर्वथा भूलकर प्रेममय बन जाता है। तब उसे नीतिका भी ज्ञान नहीं रहता। वह मस्त हो जाता है। यही पूर्ण शरणागति है, इसीको अनन्यभक्ति और अनन्य शरण कहते हैं, यही अपने-आपको भगवान्‌के पूर्णतया समर्पण करना है।



भगवान्‌की शरणसे परमपदकी प्राप्ति



तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता १८। ६२)

भगवान् कहते हैं—'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरण*को प्राप्त हो। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको और सनातन परमधामको प्राप्त होगा।'

---

* लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर, शरीर और संसारमें अहंता-ममतासे रहित होकर केवल एक परमात्माको ही परम आश्रय, परमगति और सर्वस्व समझना तथा अनन्य भावसे अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं भगवान्‌का भजन, स्मरण रखते हुए ही उनके आज्ञानुसार कर्त्तव्य-कर्मोंका निःस्वार्थभावसे केवल परमेश्वरके लिये ही आचरण करना यह 'सब प्रकारसे परमात्माके अनन्य शरण' होना है।

सब प्रकारसे भगवान्‌के शरण होनेके लिये बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और शरीर—इन सबको सम्पूर्णरूपसे भगवान्‌के अर्पण कर देनेकी आवश्यकता है। परन्तु यह अर्पण केवल मुखसे कह देनेमात्रसे नहीं हो जाता। इसलिये इसके अर्पणका क्या स्वरूप है, इसको समझानेकी कुछ चेष्टा की जाती है।

बुद्धिका अर्पण

भगवान् 'हैं' इस बातका बुद्धिमें प्रत्यक्षकी भाँति नित्य-निरन्तर निश्चय रहना, संशय, भ्रम और अभिमानसे सम्पूर्णतया रहित होकर भगवान्‌में परम श्रद्धा करना, बड़ी-से-बड़ी विपत्ति पड़नेपर भी भगवान्‌की आज्ञासे तनिक भी न हटना यानी प्रतिकूल भाव न होना तथा पवित्र हुई बुद्धिके द्वारा गुण और प्रभावसहित भगवान्‌के स्वरूप और तत्त्वको जानकर उस तत्त्व और स्वरूपमें बुद्धिका अविचलभावसे नित्य-निरन्तर स्थित रहना। यह बुद्धिका भगवान्‌में अर्पण करना है।

मनका अर्पण

प्रभुकी अनुकूलतामें अनुकूलता, उनके इच्छानुसार ही इच्छा और उनकी प्रसन्नतामें ही प्रसन्न होना, प्रभुके मिलनेकी मनमें उत्कट इच्छा होना, केवल प्रभुके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, रहस्य और लीला आदिका ही मनसे नित्य-निरन्तर चिन्तन करना, मन प्रभुमें रहे और प्रभु मनमें वास करें—मन प्रभुमें रमे और प्रभु मनमें रमण करें। यह रमण अत्यन्त प्रेमपूर्ण हो, और वह प्रेम भी ऐसा हो कि जिसमें एक क्षणका भी प्रभुका

विस्मरण जलके वियोगमें मछलीकी व्याकुलतासे भी बढ़कर मनमें व्याकुलता उत्पन्न कर दे। यह भगवान्‌में मनका अर्पण करना है।

इन्द्रियोंका अर्पण

कठपुतली जैसे सूत्रधारके इशारेपर नाचती है,—उसकी सारी क्रिया स्वाभाविक ही सूत्रधारकी इच्छाके अनुकूल ही होती है, इसी प्रकार अपनी सारी इन्द्रियोंको भगवान्‌के हाथोंमें सौंपकर उनकी इच्छा, आज्ञा, प्रेरणा और संकेतके अनुसार कार्य होना और इन्द्रियोंद्वारा जो कुछ भी क्रिया हो उसे मानो प्रभु ही करवा रहे हैं ऐसे समझते रहना —अपनी इन्द्रियोंको प्रभुके अर्पण करना है।

इस प्रकार जब सारी इन्द्रियाँ प्रभुके अर्पण हो जायँगी तब वाणीके द्वारा जो कुछ भी उच्चारण होगा, सब भगवान्‌के सर्वथा अनुकूल ही होगा। अर्थात् उसकी वाणी भगवान्‌के नाम-गुणोंके कीर्तन, भगवान्‌के रहस्य, प्रेम, प्रभाव और तत्त्वादिके कथन; सत्य, विनम्र, मधुर और सबके लिये कल्याणकारी भाषणके अतिरिक्त किसीको जरा भी हानि पहुँचानेवाले, दोषयुक्त या व्यर्थ वचन बोलेगी ही नहीं। उसके हाथोंके द्वारा भगवान्‌की सेवा, पूजा और इस लोक और परलोकमें सबका यथार्थ हित हो, ऐसी ही क्रिया होगी। इसी प्रकार उसके नेत्र, कर्ण, चरण आदि इन्द्रियोंके द्वारा भी लोकोपकार आदि क्रियाएँ भगवान्‌के अनुकूल ही होंगी। और उन क्रियाओंके होनेके समय अत्यन्त प्रसन्नता, शान्ति, उत्साह और प्रेम-विह्वलता रहेगी। भगवत्प्रेम और आनन्दकी अधिकतासे कभी-कभी रोमाञ्च और अश्रुपात भी होंगे।

शरीरका अर्पण

प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करना, यह शरीर प्रभुकी सेवा और उनके कार्यके लिये ही है ऐसा समझकर प्रभुकी सेवामें और उनके कार्यमें शरीरको लगा देना, खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना सब कुछ प्रभुके कार्यके लिये ही होना यह शरीरका अर्पण है। जैसे शेषनागजी अपने शरीरकी शय्या बनाकर निरन्तर उसे भगवान्‌की सेवामें लगाये रखते हैं; जैसे राजा शिबिने अपना शरीर कबूतरकी रक्षाके लिये लगा दिया, जैसे मयूरध्वज राजाके पुत्रने अपने शरीरको प्रभुके कार्यमें अर्पण कर दिया, वैसे ही प्रभुकी इच्छा, आज्ञा, प्रेरणा और संकेतके अनुसार लोकसेवाके रूपमें या अन्य किसी रूपमें शरीरको प्रभुके कार्यमें लगा देना ही शरीरका प्रभुके अर्पण करना है।

बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और शरीरको प्रभुके अर्पण करनेके बाद कैसी स्थिति होती है, इसको समझनेके लिये एक पतिव्रता स्त्रीके उदाहरणपर विचार कीजिये।

समझ लीजिये एक पतिव्रता देवी थी, उसकी सारी क्रियाएँ इसी भावसे होती थीं कि मेरे पति मुझपर प्रसन्न रहें। यही उसका मुख्य ध्येय था। पातिव्रत-धर्म भी यही है। उसके पतिको भी इस बातका अनुभव था कि मेरी स्त्री पतिव्रता है। एक बार पतिने अपनी स्त्रीके मनके अत्यन्त विरुद्ध क्रिया करके उसकी परीक्षा लेनी चाही। परीक्षा सन्देहवश ही होती हो सो बात नहीं है, ऊपर उठाने और उत्साह बढ़ानेके लिये भी परीक्षाएँ हुआ करती हैं।

एक समय पतिदेवके भोजन कर चुकनेपर वह पतिव्रता देवी भोजन करने बैठी। उसने अभी दो-चार कौर ही खाये थे कि इतनेमें पतिने आकर उसकी थालीमें एक अञ्जलि बालू डाल दी और वह हँसने लगा। स्त्री भी हँसने लगी। पतिने पूछा—'तू क्यों हँसती है?' स्त्रीने कहा—'आप हँसते हैं, इसीलिये मैं भी हँसती हूँ। मेरी प्रसन्नताका कारण आपकी प्रसन्नता ही है।' पतिने कहा—'मैं तो तेरे मनमें विकार उत्पन्न करनेके लिये हँसता था किन्तु विकार तो उत्पन्न नहीं हुआ।' स्त्री बोली—'मुझे इस बातका पता नहीं था कि आप मुझमें विकार देखना चाहते हैं। विकारका होना तो स्वाभाविक ही है किन्तु आप मुझमें विकार नहीं देखते, यह आपकी ही दया है।' इस कथनपर पतिको यह निश्चय हो गया कि उसकी स्त्री पतिव्रता है।

जो पुरुष सब प्रकारसे अपने आपको भगवान्‌के अर्पण कर देता है, उसकी भी सारी क्रियाएँ पतिव्रता स्त्रीकी भाँति स्वामीके अनुकूल होने लगती हैं। वह अपने इच्छानुसार कोई कार्य कर रहा है परन्तु ज्यों ही उसे पता लगता है कि स्वामीकी इच्छा इससे पृथक् है, उसी क्षण उसकी इच्छा बदल जाती है और वह स्वामीके इच्छानुकूल कार्य करने लगता है। चाहे वह कार्य उसके बलिदान-का ही क्यों न हो! वह बड़े हर्षके साथ उसे करता है। स्वामीके पूर्णतया शरण होनेपर तो स्वामीके इशारेमात्रसे ही उनके हृदयका भाव समझमें आने लगता है। फिर तो वह प्रेमपूर्वक आनन्दके साथ उसीके अनुसार कार्य करने लगता है।

दैवयोगसे अपने मनके अत्यन्त विपरीत भारी संकट आ पड़नेपर भी वह उस संकटको—अपने दयामय स्वामीके दयापूर्ण विधानको पुरस्कार समझकर अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता है।

यह सारा संसार उस नटवरका क्रीडास्थल है। प्रभु स्वयं इसमें बड़ी ही निपुणताके साथ नाट्य कर रहे हैं, उनके समान चतुर खिलाड़ी दूसरा कोई भी नहीं है, यह जो कुछ हो रहा है सब उन्हींका खेल है। उनके सिवा कोई भी ऐसा अद्भुत खेल नहीं कर सकता। इस प्रकार इस संसारकी सम्पूर्ण क्रियाओंको भगवान्‌की लीला समझकर वह शरणागत भक्त क्षण-क्षणमें प्रसन्न होता रहता है और पग-पगपर प्रभुकी दयाका दर्शन करता रहता है।

यही भगवान्‌की अनन्य शरण है और यही अनन्य भक्ति है। इस प्रकार भगवान्‌के शरण होनेसे मनुष्य भगवान्‌के यथार्थ तत्त्व, रहस्य, गुण, महिमा और प्रभावको जानकर अनायास ही परमपदको प्राप्त हो जाता है।



गीताका रहस्य

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

'गीता सुगीता करने योग्य है, अर्थात् श्रीगीताजीको भली प्रकार पढ़कर अर्थ और भावसहित अन्तःकरणमें धारण कर लेना मुख्य कर्तव्य है, क्योंकि यह स्वयं श्रीपद्मनाभ (विष्णु) भगवान्‌के मुखारविन्दसे निकली हुई है । फिर अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है ?'

ऐसा कहकर श्रीव्यासजीने अन्य शास्त्रोंकी निन्दा नहीं की; उनका तात्पर्य तो केवल गीताकी प्रशंसामें है। यहाँ एक बात विशेष विचारणीय है। इस श्लोकमें 'पद्मनाभ' और 'मुखपद्म'—इन दो शब्दोंका प्रयोग क्यों किया गया है? 'पद्मनाभ' तो भगवान् विष्णुका नाम है और गीता भगवान् कृष्णके मुख-कमलसे निकली है। फिर उनके लिये 'पद्मनाभ' क्यों कहा गया? इसका तात्पर्य यह है कि भगवान्ने यह स्पष्टतया गीता ४। ६ में कहा है कि मैं अजन्मा और ईश्वर होनेपर भी संसारके उद्धारके लिये प्रकट होता हूँ। भगवान् विष्णु ही कृष्णके रूपमें प्रकट हुए हैं। अतः भगवान् विष्णु और कृष्णमें कोई अन्तर नहीं है।

यह गीता उन्हीं भगवान्के मुखकमलसे निकली है जिनकी नाभिसे कमल निकला था। उस कमलसे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। ब्रह्माजीसे चारों वेद प्रकट हुए और उनके आधारपर ही समस्त ऋषिगणोंने सम्पूर्ण शास्त्रोंकी रचना की है। अतः गीताको अच्छी प्रकार भावसहित समझकर धारण कर लेनेपर, अन्य सब शास्त्रोंकी आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि सारे शास्त्रोंका विस्तार तो भगवान्की नाभिसे हुआ और गीता स्वयं भगवान्के मुखकमलसे कही गयी है। यही नहीं, गीता सारे उपनिषदोंका सार है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।

'सारे उपनिषद् तो गाय हैं, भगवान् श्रीकृष्ण उनके दुहनेवाले हैं।' तात्पर्य यह है सारे उपनिषदोंका सार निकालकर गीताके रूपमें वर्णन किया है।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥
(गीता १३ । ४)

'यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है और विविध वेदमन्त्रोंद्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है, तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है ।' (वही तू मुझसे सुन)

अब यह विचारना है कि गीताका सारभूत श्लोक कौन-सा है । विचार करनेपर १८वें अध्यायका ६६वाँ श्लोक ही उसका सार मालूम होता है, जो इस प्रकार है--

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

'सर्वधर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर ।' इस श्लोकमें ही गीताका उपसंहार हुआ है और यह नियम है कि किसी भी ग्रन्थके उपक्रम और उपसंहारमें जो बात रहती है वह उसका मुख्य तात्पर्य हुआ करता है । अतः गीताका उपसंहाररूप होनेके कारण यह श्लोक ही मुख्य सारभूत होना चाहिये ।

अब यह देखना है कि यह श्लोक किस उपक्रमका उपसंहार है । गीताका उपक्रम इस प्रकार होता है—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥
(२ । ११)

'हे अर्जुन ! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है । परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते ।' इस श्लोकका प्रथम पद, 'अशोच्यान्' है, उपसंहारमें भी अन्तिम पद 'मा शुचः' है । इससे सिद्ध होता है कि शोकनिवृत्ति ही गीताका प्रधान उद्देश्य है ।

युद्धके आरम्भमें अपने कुटुम्बियोंको ही अपने विरुद्ध खड़े हुए देखकर अर्जुन मोहग्रस्त हो गया था । उसकी मोहनिवृत्तिके लिये ही गीताका उपदेश किया गया । उस उपदेशका उपसंहार करते हुए भगवान्ने चार बातें कही हैं—

१–तू सारे धर्मोंको त्याग दे ।

२–तू केवल एक मेरी शरण हो जा ।

३–मैं तुझे पापोंसे छुड़ा दूँगा ।

४–तू शोक न कर ।

यहाँ 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' का भाव किन्हीं-किन्हीं महानुभावों-ने सर्व कर्मोंके फलका त्याग बतलाया है, परन्तु शब्दोंसे ऐसा भाव व्यक्त नहीं होता । दूसरे पक्षका कथन है कि ऐसा कहकर भगवान्ने स्वरूपसे समस्त धर्मोंका त्याग बतलाया है । किन्तु ऐसा अर्थ भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि अर्जुनने भगवान्की आज्ञासे

युद्ध ही किया—एकान्तसेवन नहीं किया । तीसरा पक्ष कहता है कि अपने कर्तव्य कर्मोंको करता हुआ उसमें अकर्तृत्वबुद्धि रक्खे यही भगवान्‌का आशय है । यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा कहना ज्ञानकी दृष्टिसे सम्भव है किन्तु यहाँ प्रकरण भक्तियोगका है ।

अब हमें यह देखना है कि इसका अर्थ किस प्रकार करना चाहिये । सबसे पहले इस बातपर विचार करना है कि 'शरण' शब्दका अभिप्राय क्या है ? हमें इसका वही अर्थ लेना चाहिये जो भगवान्‌ने गीतामें लिया हो । नवम अध्यायके अन्तमें भगवान् कहते हैं--

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

इसके पूर्व बत्तीसवें और तैंतीसवें श्लोकोंमें भगवान् कहते हैं– 'हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं । फिर इसमें तो कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन परम गतिको प्राप्त होते हैं । इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर ।' इस प्रकार भगवदाश्रय अर्थात् शरणकी आवश्यकता बतलाकर उपर्युक्त श्लोकमें भगवान्‌ने शरणका स्वरूप बतलाया है । यहाँ भगवान् कहते हैं कि 'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन* करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर । इस प्रकार आत्माको

---

* गीता १८ । ४६ तथा ९ । २६-२७के अनुसार यहाँ पूजा समझनी चाहिये ।

मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा ।' अतः भगवत्-स्मरण और भगवत्सेवा-पूजा-नमस्कार आदिमें तत्पर रहते हुए भगवान्के आज्ञानुसार कर्म करना ही गीतोक्त 'शरणागति' है । जहाँ ईश्वराज्ञा और धर्मपालनमें विरोध-सा प्रतीत हो, वहाँ भगवच्छरणापन्न भक्तका भगवदाज्ञा मानना ही मुख्य कर्तव्य है । इस विषयमें हमें महाभारतके कर्णवध-प्रसंगपर ध्यान देना चाहिये ।

वीर कर्णके रथका पहिया पृथिवीमें धँस गया है; वह उसें बाहर निकालनेमें व्यस्त है ।

उस समय अर्जुनको अपने ऊपर बाण चलाते हुए देखकर कर्णने अर्जुनसे कहा, 'हे महाधनुषधारी अर्जुन ! तुम जगत्प्रसिद्ध महावीर और महात्मा हो, सहस्रार्जुनके समान योद्धा हो, शस्त्र और शास्त्रोंके ज्ञाता हो अतएव तुम क्षणभर ठहरो । जबतक मैं पहियेको न निकाल लूँ, तबतक तुम बाण न छोड़ो । क्योंकि यह धर्म नहीं है ।'

(महा० कर्णपर्व ९० । १०८–११६)

तब श्रीकृष्ण भगवान्ने कर्णसे कहा कि 'हे राधापुत्र ! तुमने आज प्रारब्धसे ही धर्मको याद किया, किन्तु तुमलोग अपने कर्मोंकी तरफ खयाल नहीं करते । हे कर्ण ! तुम लोगोंने भीमको विष दिया, पाण्डवोंको लाक्षाभवनमें जलाया, द्रौपदीको सभामें बुलाकर नाना प्रकारके कुवचन कहे और उसको अपमानित किया, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ?'

वनवासे व्यतीते च वर्षे कर्ण त्रयोदशे।
न प्रयच्छसि यद्राज्यं क्व ते धर्मस्तदा गतः॥
(महा० कर्णपर्व ९१ । ४)

'हे कर्ण ! जब तेरह वर्ष वनमें रहकर पाण्डव आये, तब भी तुम लोगोंने उनको राज्य न दिया; उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ?'

यदाभिमन्युं बहवो युद्धे जघ्नुर्महारथाः।
परिवार्य रणे बालं क्व ते धर्मस्तदा गतः॥
(महा० कर्णपर्व ९१ । ११)

'जब तुम अनेक महारथियोंने मिलकर बालक अभिमन्युको युद्धमें चारों तरफसे घेरकर मारा था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ?'

'क्या इन सब प्रसंगोंमें धर्मकी आवश्यकता नहीं थी ? इस समय ही तुम्हें धर्म याद आया है। विशेष बोलनेसे कुछ लाभ नहीं। अब तुम जीते न बचोगे।'

इस प्रकार श्रीकृष्णकी बातोंको सुनकर कर्णने लज्जासे सिर नीचा कर लिया। तब श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि इस समय तुम कर्णको दिव्य बाणसे मारो। यद्यपि उस समय शस्त्ररहित पृथ्वीपर खड़े हुए कर्णके धर्मयुक्त वचनोंको सुनकर अर्जुन बाण चलानेमें हिचकिचाता था, किन्तु भगवान्‌के वचनोंको सुनकर उसका सारा संकोच निवृत्त हो गया और वह निःशंक होकर कर्णपर बाण छोड़ने

लगा ।* इसी प्रकार प्रत्येक भक्तका कर्तव्य भगवदाज्ञा-पालन ही है । इसीका नाम भगवच्छरणागति है । भगवदाज्ञाके सामने अन्य किसी धर्मका न मानना 'सर्वधर्मपरित्याग' है । ईश्वराज्ञा और धर्म-शास्त्रमें विरोध-सा प्रतीत होनेपर भगवदाज्ञा ही माननीय है क्योंकि धर्मका तत्त्व गहन है, साधारण पुरुष उसका निर्णय नहीं कर सकते ।

दूसरे श्लोकार्द्धमें भगवान् कहते हैं—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

यहाँ 'मा शुचः' यह पद उपक्रमका उपसंहार करनेके लिये है । अर्जुनको मोहवश भविष्यमें होनेवाले बन्धु-वधका शोक था । अतः भगवान्ने उसकी शोकनिवृत्तिके लिये ही गीताशास्त्रका उपदेश दिया । उन्होंने अर्जुनको बतलाया कि आत्मा तो अशोच्य है ही, किन्तु यदि तू शरीरोंकी ओर विचार करे तो वे भी अशोच्य ही हैं । क्योंकि—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

(गीता २ । २८)

'हे अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद भी अप्रकट हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट हैं; फिर ऐसी स्थितिमें क्या शोक करना है ?'

---

* वास्तवमें अर्जुनका कर्णपर बाण चलाना अधर्म नहीं था, क्योंकि आततायियोंको किसी प्रकार भी मारना, धर्मशास्त्रमें न्याय बताया गया है और कर्ण आततायी था, यह बात भगवान्के वचनोंसे सिद्ध हो चुकी है ।

अतः स्वभावतः नाशवान् होनेके कारण शरीरके लिये शोक करना व्यर्थ है। आत्माकी दृष्टिसे विचार करें तो भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवान्‌ने कहा है कि--

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥

(गीता २। २४-२५)

'यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसन्देह अशोष्य है। तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है। यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है। इससे हे अर्जुन! इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तू शोक करनेको योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है।'

अतः आत्माके लिये भी चिन्ता करना सर्वथा अयुक्त है। यही उपदेश भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने ताराको दिया था—

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा।
जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥

उपजा ग्यान चरन तब लागी ।
लीन्हेसि परम भगति बर मागी ॥
(रामचरितमानस किष्किन्धाकाण्ड)

इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि शरीर या आत्मा किसीके लिये भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है । भगवान् कहते हैं–हे अर्जुन ! यदि तू कहे कि शरीरसे आत्माका वियोग होनेके लिये मैं चिन्तित हूँ । तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
(गीता २ । २२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है ।'

इस श्लोकमें श्रीभगवान्‌ने पूर्व शरीरको त्यागकर दूसरे नवीन शरीरकी प्राप्तिके सम्बन्धमें वस्त्रोंके बदलनेका दृष्टान्त देकर अर्जुनको आत्माकी नित्यता समझायी है । वस्त्रोंके उदाहरणके विषयमें कई प्रकारकी शंकाएँ की जाती हैं, अतः यहाँ उनका समाधान किया जाता है ।

शंका–पुराने वस्त्रोंके त्याग और नवीन वस्त्रके धारण करनेमें मनुष्यको सुख होता है, किन्तु पुराने शरीरके त्याग

और नये शरीरके ग्रहणमें तो क्लेश होता है, अतएव यह उदाहरण समीचीन नहीं है।

समाधान—पुराने शरीरके त्याग और नये शरीरके ग्रहणमें यानी मृत्यु और जन्ममें अज्ञानीको ही दुःख होता है और अज्ञानी तो बालकके समान है। धीर, विवेकी एवं भक्तको शरीरपरित्यागमें दुःख नहीं होता। भगवान्‌ने कहा है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(गीता २। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।' रामायणमें भी लिखा है—श्रीरामचन्द्र-जीके चरणोंमें दृढ़ प्रीति करके वालिने उसी प्रकार देहका त्याग कर दिया था जैसे हाथी अपने गलेसे फूलकी मालाका त्याग कर देता है। यानी मृत्युके दुःखका उसे पता ही नहीं लगा—

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥

(रामचरितमानस किष्किन्धाकाण्ड)

पुराने वस्त्रोंको त्यागने और नये वस्त्र धारण करनेमें भी हर्ष उन्हींको होता है जो नये-पुराने वस्त्रके तत्त्वको जानते हैं। छः महीने या सालभरके बच्चेकी माँ जब उसके पुराने गंदे वस्त्र-

को उतारती है तब वह बालक रोता है। और नया साफ-सुथरा वस्त्र पहनाती है तब भी वह रोता है। किन्तु माता उसके रोनेकी परवा न करके उसके हितके लिये वस्त्र बदल ही देती है। इसी प्रकार मातारूप भगवान् भी अपने प्रिय बालकरूप जीवके हितार्थ उसके रोनेकी कुछ भी परवा न करके उसकी देहको बदल देते हैं। अतएव यह उदाहरण सर्वथा समीचीन है।

शंका—भगवान्‌ने यहाँ शरीरोंके साथ 'जीर्णानि' पदका प्रयोग किया है, परन्तु यह कोई नियम नहीं है कि वृद्ध होनेपर या शरीर पुराना होनेपर ही मनुष्यकी मृत्यु होती हो। हम नवीन उम्रके जवान और बच्चोंको भी मरते हुए देखते हैं। अतएव यह उदाहरण भी युक्तियुक्त नहीं जँचता?

समाधान—यहाँ 'जीर्णानि' पदसे अस्सी या सौ वर्षकी आयुसे तात्पर्य नहीं है। प्रारब्धवश युवा या बाल जिस किसी अवस्थामें प्राणी मरता है वही उसकी आयु समझी जाती है और आयुकी समाप्तिका नाम ही जीर्णावस्था है। वस्त्रके दृष्टान्तसे यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है। अमुक वस्त्र नया है या पुराना, इस बातको हम दूरसे देखकर ही नहीं पहचान सकते। धोबीके यहाँसे धुलकर आया हुआ पुराना वस्त्र भी देखनेमें नया ही मालूम होता है, किन्तु वह अधिक दिन नहीं ठहरता। इसी प्रकार जिस मनुष्यकी आयु शेष हो चुकी है उसका शरीर

देखनेमें बालक अथवा युवावस्थावाला होनेपर भी वास्तव-में जीर्ण ही है, क्योंकि वह देखनेमें नवीन होनेपर भी आयुकी दृष्टिसे अधिक दिन ठहरनेवाला नहीं है। यहाँ प्राय: सब योद्धाओंकी आयु शेष हो चुकी थी। भगवान् कहते हैं—

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे।
(गीता ११। ३२)

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥
(गीता ११। ३३)

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः।
(गीता ११। ३४)

वे तो मरनेवाले ही थे, इसलिये जवान भी जीर्ण ही थे। इस बातको भगवान् जानते थे और कोई नहीं जानता था। अतएव यह उदाहरण सर्वथा युक्तिसंगत है।

शंका—यहाँ 'वासांसि' और 'शरीराणि' दोनों ही पद बहुवचनान्त हैं। कपड़ा बदलनेवाला मनुष्य तो एक साथ भी तीन-चार पुराने वस्त्र त्याग कर नये धारण कर सकता है, परन्तु देही यानी जीवात्मा तो एक ही पुराने शरीरको छोड़कर दूसरे एक ही नये शरीरको प्राप्त होता है। एक साथ बहुत-से शरीरोंका त्याग या ग्रहण युक्तिसे सिद्ध नहीं है, अतएव यहाँ शरीरके लिये बहुवचनका प्रयोग अनुचित प्रतीत होता है?

समाधान–(क) यहाँ श्रीभगवान्‌का तात्पर्य यह है कि मनुष्य जैसे अपने जीवनमें अनेक बार अनेकों पुराने वस्त्रोंको छोड़ता और नये वस्त्रोंको धारण करता आया है इसी प्रकार जीवात्मा भी अबतक न जाने कितने शरीर छोड़ चुका है और कितने नये शरीर धारण कर चुका है और भविष्यमें भी जबतक उसे तत्त्वज्ञान नहीं होगा, तबतक न जाने कितने असंख्य पुराने शरीरोंका त्याग और नये शरीरोंको धारण करता रहेगा। इसलिये बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

(ख) स्थूल, सूक्ष्म और कारणभेदसे शरीर तीन हैं, जब जीवात्मा इस शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता है तब ये तीनों ही शरीर बदल जाते हैं। मनुष्य जैसा कर्म करता है उसके अनुसार ही उसका स्वभाव (प्रकृति) बनता जाता है। कारण शरीरमें स्वभाव ही मुख्य है। प्रायः स्वभावके अनुसार ही अन्तकालमें स्फुरणा यानी सङ्कल्प होता है और सङ्कल्पके अनुसार ही उसका १७ तत्त्वोंवाला * सूक्ष्म शरीर

* मन, बुद्धि, दश इन्द्रियाँ (श्रोत्र, चक्षु, रसना, त्वचा, नासिका, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा) तथा पञ्च तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध)—ये सतरह तत्त्व हैं। अहङ्कार बुद्धिके अन्तर्गत आ जाता है और प्रकृति सबमें व्यापक है ही। पञ्चप्राण सूक्ष्म वायुके अन्तर्गत होनेसे उन्हें तन्मात्राओंके अन्तर्गत ही समझ लेना चाहिये। कोई-कोई इन पञ्चतन्मात्राओंको न लेकर बदलेमें प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—इन पाँच प्राणोंको ही लेते हैं।

बन जाता है। कारण और सूक्ष्म शरीरके सहित ही यह जीवात्मा इस शरीरसे निकलकर अन्तकालके सङ्कल्पके अनुसार ही स्थूल शरीरको प्राप्त होता है।

कर्मोंके अनुसार कारण और सूक्ष्म शरीर तो पहले ही बदल चुके और स्थूल शरीर तदनुसार ही यथायोग्य जाति, देश, कालमें बननेवाला है। इसलिये स्थूल-सूक्ष्म-कारण-भेदसे तीनों शरीरोंके परिवर्तन होनेके कारण ही भगवान्ने बहुवचनका प्रयोग किया है।

शंका—आत्मा तो अचल है, उसमें गमनागमन नहीं होता; फिर देहीके दूसरे शरीरमें जानेकी बात कैसे कही गयी ?

समाधान—वास्तवमें आत्माका अचल और अक्रिय होनेके कारण किसी भी हालतमें गमनागमन नहीं होता; पर जैसे घड़ेको एक मकानसे दूसरे मकानमें ले जानेके समय, उसके भीतरके आकाशका यानी घटाकाशका भी घटके सम्बन्धसे गमनागमन-सा प्रतीत होता है, वैसे ही सूक्ष्म शरीरका गमनागमन होनेसे उसके सम्बन्धसे आत्मामें भी गमनागमनकी प्रतीति होती है। अतएव लोगोंको समझानेके लिये आत्मामें गमनागमनकी औपचारिक कल्पना की जाती है। यहाँ 'देही' शब्द देहाभिमानी चेतनका वाचक है, अत: देहके सम्बन्धसे उसमें भी गमनागमन होता-सा प्रतीत होता है। इसीलिये देहीके अन्य शरीरोंमें जानेकी बात कही गयी। देही यानी देहाभिमानी जैसे जीवनकालमें

स्थूल शरीरके गमनागमनको 'मैं जाता हूँ, मैं आता हूँ' इस प्रकार अपने अंदर मानता है, उसी प्रकार स्थूल देहके वियोगके समय तथा देहान्तरकी प्राप्तिके समय, पहले स्थूल देहको छोड़कर दूसरे स्थूल देहमें सूक्ष्म और कारण शरीरके जाने-आनेको देही यानी जीवात्मा अपना गमनागमन अज्ञानसे अनुभव करता है, इसलिये समझानेके लिये ही देहीका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना-आना बताया गया है।

शंका—इसमें क्रियाका प्रयोग भी ठीक नहीं हुआ है। वस्त्रोंके लिये 'गृह्णाति' तथा शरीरके लिये 'संयाति' कहा है। एक ही क्रियासे काम चल जाता क्योंकि दोनों समानार्थक हैं और ऐसा करनेमें छन्दोभंगकी भी कोई सम्भावना नहीं थी, फिर दो तरहका प्रयोग क्यों किया गया ?

समाधान—यद्यपि दोनों क्रियाओंके फलमें कोई भेद नहीं है, तथापि 'गृह्णाति' क्रियाका मुख्य अर्थ ग्रहण करना और 'संयाति' का मुख्य अर्थ गमन करना है। वस्त्र ग्रहण किये जाते हैं इसलिये वहाँ 'गृह्णाति' क्रिया दी गयी और एक शरीरको छोड़कर दूसरेमें जाना प्रतीत होता है इसलिये नवीन शरीरमें जानेकी बात 'संयाति' क्रियाद्वारा व्यक्त की गयी। अतएव क्रियाभेद होनेपर भी फलमें अभेद होनेके कारण ऐसा करना सर्वथा युक्तिसंगत ही है।

प्र०—'नरः' और 'देही'—इन दो पदोंका प्रयोग क्यों किया गया, एकसे भी काम चल सकता था ?

उ०—'नरः' तथा 'देही' दोनों ही सार्थक हैं; क्योंकि वस्त्रका ग्रहण या त्याग 'नर' ही करता है, अन्य जीव नहीं। किन्तु एक शरीरसे दूसरे शरीरमें गमनागमन सभी जीवोंका होता है, इसलिये वस्त्रोंके साथ 'नरः' का तथा शरीरके साथ 'देही' शब्दका प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यही कहना होगा कि संसारमें गीताके समान कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है। गीतामें प्रत्येक पदार्थ, भाव और क्रियाके तीन-तीन भेद किये गये हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। जिस पदार्थ, भाव और क्रियामें यथार्थ ज्ञान, निष्काम भाव हो और जो परिणाममें कल्याणकारी हो उसे सात्त्विक समझना चाहिये। जिस पदार्थ, भाव और क्रियामें आरम्भमें सुख-सा प्रतीत हो, सकाम भाव हो और जो परिणाममें दुःखदायी हो, उसे राजसी समझना चाहिये। जिस पदार्थ, भाव और क्रियामें हिंसा, अज्ञान, शास्त्रविपरीतता हो तथा जो दुःख और मोहकारक हो उसे तामसी समझना चाहिये। इस प्रकार तत्त्व समझ लेनेपर गीताके मुख्य-मुख्य बहुत-से प्रकरण जाने जा सकते हैं।

गीतामें जितने सद्भाव यानी उत्तम गुण बतलाये गये हैं उन सबमें एक ऐसा गुण है जिस एकसे ही महापुरुषकी पहचान हो जाती है, उसका नाम है 'समता'।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
(गीता १४ । २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है तथा जो मान और अपमानमें सम है एवं मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है, सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

यहाँ सुख-दुःखकी समता भावविषयक समता है, निन्दा-स्तुति, मान-अपमानकी समता दूसरेकी क्रियासे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाविषयक समता है और प्रिय-अप्रिय एवं सोने-मिट्टी आदिमें समान दृष्टि रखना पदार्थविषयक समता है। समता ही ज्ञानीका प्रधान गुण है।* गीतामें जहाँ-जहाँ भी प्राप्त हुए योगी, भक्त और ज्ञानीके लक्षणोंका वर्णन है वहाँ कहीं-न-कहीं समताकी बात अवश्य आ जाती है। इसलिये महात्माओंके लक्षणोंमें समता ही सर्वोत्तम गुण है।

---

* क्योंकि समता साक्षात् ब्रह्मका स्वरूप है इसलिये समतामें जिसकी स्थिति है उसकी ब्रह्ममें स्थिति बतलायी गयी है। (गीता ५ । १९)

गीताके समान संसारमें कोई ग्रन्थ नहीं है । सभी मत इसकी उत्कृष्टता स्वीकार करते हैं। अतः हमें गीताका इतना अभ्यास करना चाहिये कि हमारी आत्मा गीतामय हो जाय। हमें उसे अपने हृदयमें बसाना चाहिये। गीता गङ्गासे भी बढ़कर है, क्योंकि गङ्गा भगवान्‌के चरणोंसे निकली है और गीता भगवान्‌के मुखकमलसे निकली है; गङ्गा तो अपनेमें स्नान करनेवालोंको ही पवित्र करती है किन्तु गीता धारण करनेसे, घर बैठे हुएको पवित्र कर देती है। गङ्गामें स्नान करनेवाला स्वयं मुक्त हो सकता है पर गीतामें अवगाहन करनेवाला तो दूसरोंको भी मुक्त कर सकता है।

अतएव यह सिद्ध हुआ कि गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। गीताका पाठमात्र करनेवालेकी अपेक्षा उसके अर्थ और भावको समझनेवाला श्रेष्ठ है और गीताके अनुसार आचरण करनेवाला तो उससे भी श्रेष्ठ है।

इसलिये सबको अर्थ और भावसहित गीताका अध्ययन करते हुए उसके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।



प्रकृति-पुरुषका विवेचन

संसारमें दो ही पदार्थ हैं—जड और चेतन। पुरुष चेतन है, प्रकृति जड है। पुरुष द्रष्टा है, प्रकृति दृश्य है। पुरुष निर्विकार है, प्रकृति विकारशीला है। ये दोनों पदार्थ एकदम प्रत्यक्ष हैं। हम सभीके बीचमें इन दोनोंको मानना पड़ेगा। इनमें देखनेवाला द्रष्टा है और दूसरा जगत्‌रूपमें दीखनेवाला दृश्य है।

जितने भी जीव हैं, वे सब परमात्माके अंश हैं। जिस प्रकार अग्निकी चिनगारियाँ अग्निसे भिन्न नहीं हैं—वस्तुतः दोनों एक ही हैं; उसी प्रकार जीव भी परमात्मासे भिन्न नहीं है। दृश्य जडवर्ग भी प्रकृतिका कार्य होनेसे तत्त्वतः प्रकृति ही है। वह प्रकृतिका ही विकृतरूप है।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।

(गीता १३। २०)

अर्थात् 'कार्य और करणके उत्पन्न करनेमें प्रकृति हेतु कही गयी है।' आकाश आदि पाँच भूत (तत्त्व) तथा शब्द आदि पाँच

विषय यानी गुण—इन दसका नाम कार्य है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन तेरहका नाम करण है। प्रकृति इन सबका कारण है। अतः प्रकृतिसे उत्पन्न होनेके कारण यह सारा दृश्य-जगत् प्रकृतिका ही स्वरूप है।

अब प्रकृति और पुरुषका सम्बन्ध समझना चाहिये। प्रकृति पुरुषका अंश नहीं है, वह उसकी शक्ति है। शक्ति भी शक्तिमान्से भिन्न नहीं होती।

जब महाप्रलय होता है, उस समय सारा दृश्य-जगत् प्रकृतिमें समा जाता है। उस समय केवल प्रकृति ही रहती है, दृश्य-जगत् नहीं रहता। वेदान्तशास्त्रमें प्रकृतिको अनादि, सान्त और सांख्यमें उसे अनादि, नित्य माना गया है। योगमें भी उसे ऐसा ही बतलाया गया है। जब वह क्रियारूपमें होती है तब दृश्यरूपमें दीखने लगती है, और जब अक्रियरूपमें होती है, उस समय वह अव्यक्तरूपमें रहती है। व्यक्तरूपका उत्पत्तिक्रम इस प्रकार है—

मूलप्रकृतिसे महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ, उसको ही समष्टिबुद्धि कहते हैं। समष्टि-बुद्धिसे समष्टि-अहङ्कार और समष्टि-अहङ्कारसे समष्टि-मनकी उत्पत्ति होती है। उसी अहङ्कारसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओंकी उत्पत्ति हुई, इनको इन्द्रियोंके कारण-भूत अर्थ कहा है। किसी-किसीने इन सूक्ष्मतन्मात्राओंकी उत्पत्ति अहङ्कारसे बतलायी है, और किसी-किसीने महत्तत्त्वसे। वस्तुतः बात एक ही है। समष्टि-बुद्धि, समष्टि-अहङ्कार और समष्टि-मन ये तीनों एक ही अन्तःकरणकी विभिन्न अवस्थाके तीन नाम हैं। इन पाँचों

सूक्ष्मभूतोंसे यानी तन्मात्राओंसे पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और आकाशादि पाँच स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति होती है। यही दृश्य-जगत् है।

इस वर्णनसे यह बात स्पष्टरूपसे सिद्ध हो जाती है कि इस दृश्य-जगत्‌का कारण प्रकृति है। उस प्रकृतिका स्वरूप वाणीसे नहीं समझाया जा सकता, क्योंकि वाणी उसका कार्य है। इसीसे प्रकृति अनिर्वचनीय है। मन और बुद्धि भी प्रकृतिके कार्य हैं अतएव ये भी उसको नहीं जान सकते। इसीसे प्रकृति अचिन्त्य और अतर्क्य भी है। इस प्रकार यद्यपि वह वाणी और मन-बुद्धिका विषय नहीं है तो भी उसका होना उसके कार्यरूप इस दृश्य-जगत्‌से स्पष्ट ही सिद्ध होता है।

प्रकृति और पुरुष दोनों ही व्यापक हैं। कारण अपने कार्यमें सदा व्याप्त रहता है। बर्फमें जलकी व्यापकताकी तरह प्रकृतिकी व्यापकता तो स्पष्ट ही समझमें आ सकती है किन्तु अति सूक्ष्म होनेके कारण पुरुषकी व्यापकता उतनी शीघ्र और स्पष्टरूपमें समझमें न आनेपर भी वह प्रकृतिकी अपेक्षा विशेष व्यापक है। प्रकृति तो कारण ही है, किन्तु पुरुष—ईश्वर महाकारण है। उसीसे यह संसार धारण किया गया है।

प्रकृति और उसके कार्यमें यह महाकारण ईश्वर सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है। यह ऊपर कहा गया है कि कारण अपने कार्यमें सदा व्यापक रहता है। आकाशसे वायुकी उत्पत्ति हुई, इसलिये आकाश उसमें व्याप्त है। वायुसे तेजकी उत्पत्ति हुई, इसलिये तेजमें वायु

और आकाश दोनों ही व्याप्त हैं। तेजसे जल और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई, इसलिये पृथ्वीमें आकाश, वायु, तेज और जल ये चारों तत्त्व परिपूर्ण हैं। इसी प्रकार इन सबकी कारणरूपा प्रकृति इन सबमें व्यापक ठहरती है। किन्तु उस शक्तिमान् पुरुषकी यह प्रकृति शक्तिमात्र है। अतः सबका महाकारण वह चेतन पुरुष इस जड प्रकृति और उसके कार्यरूप इस समस्त दृश्य संसारमें व्याप्त हो रहा है।

अब यह समझनेकी बात है कि ईश्वर–चेतन–पुरुष इस सृष्टिका उपादानकारण है या निमित्तकारण! वस्तुतः यह पुरुष सृष्टिका निमित्त और उपादन दोनों ही कारण है। भगवान्ने श्रीगीताजीमें कहा है कि—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
(४।१३)

अर्थात् 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र–इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरेद्वारा रचा गया है।' यहाँपर श्रीभगवान्ने अपनेको निमित्तकारण बतलाया है किन्तु—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
(गीता ९।१०)

—इस उक्तिमें उन्होंने प्रकृतिको निमित्तकारण बतलाया है। तो फिर दो निमित्तकारण कैसे हुए? इसका उत्तर यह है कि चेतन पुरुषको स्वामी बनाकर, उसकी अध्यक्षतामें जब प्रकृति सृष्टिकी रचना करती है, तब वास्तवमें उसका रचयिता ईश्वर ही

हुआ ! प्रकृति तो द्वारमात्र है। अतएव वस्तुतः ईश्वर ही इस सृष्टिका निमित्तकारण है। और चेतन—ईश्वरको निमित्तकारण माननेमें प्रायः सभी एकमत भी हैं। उपादानकारणमें कुछ मतभेद है। परन्तु विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि ज्ञान और भक्ति दोनों ही सिद्धान्तोंसे उपादानकारण भी ईश्वर ही है। ज्ञानके सिद्धान्तसे तो ऐसा समझना चाहिये कि जैसे स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा पुरुष अपने ही अन्दर अपनी ही कल्पनासे आप ही संसार बन जाता है और आप ही उसे देखता है, वहाँ उस चेतन द्रष्टाके सिवा उस स्वप्न-जगत्का दूसरा कोई भी उपादानकारण नहीं है, इसी प्रकार मोहके कारण जहाँ गुणोंसहित प्रकृतिकी प्रतीति होती है, वहाँ वस्तुतः परमात्माके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। परमात्मामें ही अपने कार्यसहित प्रकृति अध्यस्त है। और भक्तिके सिद्धान्तसे ऐसा मानना चाहिये कि प्रकृति परमात्माकी शक्ति है और शक्ति कभी शक्तिमान्से भिन्न नहीं होती। यह दृश्य जो कुछ है, सब परमात्माकी शक्तिरूप प्रकृतिका ही विस्तार है, अतएव वस्तुतः यह परमात्माका ही स्वरूप है। अतएव परमात्मा ही इसका उपादानकारण है। गीतामें 'वासुदेवः सर्वमिति', 'मया ततमिदं सर्वम्', 'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति', 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्', 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' आदिसे ईश्वरका अभिन्न निमित्तोपादानकारण होना स्पष्ट सिद्ध है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि ईश्वर कर्ता है तो उसमें कर्तृत्वभाव आ गया ! इसका उत्तर यह है कि ईश्वर वास्तवमें कर्ता नहीं, अकर्ता ही है—

तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ॥

(गीता ४ । १३)

भगवान् कहते हैं कि 'उस चातुर्वर्ण्यके रचयिता होते हुए भी मुझ अविनाशीको तू अकर्ता ही समझ ।'

पुरुषको ही आत्मा कहते हैं । पुरुषके सम्बन्धमें सांख्य-दर्शनका मत है कि पुरुष नाना है और योगदर्शन भी पुरुषको नाना मानता है परन्तु वह पुरुषविशेष ईश्वरको भी मानता है, इनमें जीव नाना हैं तथा पुरुषविशेष ईश्वर एक है । पूर्वमीमांसा भी पुरुषको नाना मानता है । वैशेषिक और न्याय पुरुषके दो भेद मानते हैं—जीवात्मा और परमात्मा । वेदान्त पुरुषको नाना नहीं मानकर 'एक' मानता है । सभी सिद्धान्तवालोंने (किसी भी रूपमें हो) आत्मा—पुरुषको चेतन ही माना है । यों एक और अनेक अपने-अपने सिद्धान्तके अनुसार सभीका मानना ठीक है क्योंकि सबका ध्येय आत्माके कल्याणमें है और आत्माके कल्याणकारक होनेके कारण सभीका कथन उचित है । एक माननेसे और नाना माननेसे दोनों ही प्रकारसे साधन करनेपर आत्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान होकर पुरुष मुक्त हो जाता है । मुक्त होनेके उत्तरकालमें आत्माके स्वरूपको कोई किसी प्रकार भी बतला नहीं सकता । क्योंकि वह अनिर्वचनीय स्थिति है । अतएव यथार्थमें यह बात है कि जिसको उसकी प्राप्ति होती है, वही वस्तुतः इस बातको समझता है कि उसका स्वरूप

कैसा है। जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक मनुष्यके लिये निम्नलिखित प्रकारसे मानकर चलना सुगम और उत्तम है।

पुरुषके विषयमें तो यों मानना चाहिये कि उसके दो भेद हैं—जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा नाना हैं और परमात्मा एक है। परमात्मा एक है परन्तु उसके भी दो भेद हैं—एक सगुण, दूसरा निर्गुण। सत्, रज, तम तीनों गुणोंको उत्पन्न करनेवाली प्रकृतिके सहित जो परमात्माका स्वरूप है, वह सगुण है अर्थात् जो गुणसहित है, वह सगुण है। और जो गुणोंसे रहित है वह निर्गुण है। यह याद रखना चाहिये कि सगुण और निर्गुण परमात्मा वस्तुतः दो नहीं है। दोनोंका एक समग्ररूप ही परमात्मा है। जैसे आकाशके किसी एक अंशमें वायु, तेज, पृथ्वीके समुदाय हैं, उसको हम चारों भूतोंके सहित आकाश कह सकते हैं और जहाँ इन चारों भूतोंसे पृथक् केवल आकाश है, उसको हम केवल आकाश कह सकते हैं।

आकाश वायु आदिका आधार है, कारण है और उनमें सर्वत्र व्यापक भी है। इसी प्रकार परमात्मा चराचर समस्त भूतोंके आधार, कारण और उनमें व्यापक हैं। जरा इस विषयको फिरसे समझ लेना चाहिये। जैसे आकाशमें बादल है, उसकी उत्पत्ति आकाशसे हुई, वह आकाशमें ही स्थित है और आकाशमें ही विलीन हो जाता है। ऐसे ही वायु, तेज, जल और पृथ्वी आदिकी उत्पत्ति आकाशसे हुई, ये सब आकाशमें ही स्थित हैं और आकाशमें ही क्रमशः विलीन होते हैं। अतएव आकाशसे इनकी उत्पत्ति होनेके

कारण आकाश ही इनका कारण है । और ये आकाशके कार्य हैं, कार्य व्याप्य और कारण व्यापक होता है । इसलिये आकाश इनमें व्यापक है, और इन सबकी स्थिति आकाशमें है, इसलिये आकाश ही इनका आधार है । इन आकाशादि सब भूतोंकी प्रधान कारण प्रकृति होनेसे प्रकृति इनका कारण है, प्रकृति ही समस्त दृश्यवर्गमें व्यापक है । और प्रकृतिके आधारपर ही ये सब स्थित हैं । प्रकृति परमात्माकी शक्ति है, अतएव वस्तुतः प्रकृतिके परम आधार होनेके कारण प्रकृतिसहित इस समस्त विश्वके परमात्मा ही महाकारण हैं । परमात्मा ही इसमें व्यापक हैं और परमात्मा ही इसके एकमात्र आधार हैं । अस्तु !

इस चराचर जगत्के सहित जो परमात्माका स्वरूप है, वह सगुण है, इससे अतीत जहाँ चराचर संसार नहीं है, जो केवल है; वह गुणातीत है । सगुणके भी दो भेद हैं—साकार और निराकार । जैसे पृथ्वीके दो भेद हैं—गन्ध निराकार है और पुष्प साकार है । जिस तरह अग्नि अप्रकटरूपमें निराकार और प्रकटरूपमें साकार है, जैसे जल, आकाशमें परमाणुरूपमें निराकार तथा बादल, बूँद और ओलेके रूपमें साकार है, और वह निराकार जल ही साकाररूपसे प्रकट होता है । इसी प्रकार सर्वव्यापी सगुण परमात्मा निराकाररूपमें रहते हुए ही साकाररूपसे भी गुणोंके सहित संसारमें प्रकट होते हैं । जैसे तेज, जल पृथ्वीके निराकार और साकाररूप दो-दो होनेपर भी वस्तुतः एक ही हैं, उनमें कोई भेद नहीं है; इसी प्रकार परमात्माके निर्गुण निराकार, सगुण निराकार और सगुण साकाररूपमें कोई भेद नहीं है । सब मिलकर ही एक समग्ररूप हैं । इसी बातको 'साधिभूताधि-

दैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः' आदिसे भगवान्ने (गीता ७ । ३० में) कहा है। इसीका नाम समग्र ब्रह्म है। यही पुरुषोत्तम है। ऐसा जो प्रभुका स्वरूप है, वही उपासनीय है। यदि कोई पुरुष सगुणको छोड़कर केवल निर्गुणकी उपासना करता है तो वह भी उसी परमेश्वरकी उपासना करता है। सगुणमें भी जो निराकार या साकार किसी भी रूपकी उपासना करता है, तो वह भी परमेश्वरकी ही उपासना करता है। और ऐसी उपासना करनेवाले सभी उपासक अन्तमें उसी परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु इस ब्रह्मके समग्ररूपको अच्छी प्रकार समझकर जो उपासना करता है, वह सर्वोत्तम है। क्योंकि उसको परमात्माकी प्राप्ति सुगमतासे और अतिशीघ्र हो जाती है। यदि कहा जाय कि फिर जीवात्मा और परमात्मामें क्या भेद है, तो इसका उत्तर यह है कि जीवात्मा उपासक है और परमात्मा उपास्य है। परमात्मा राग-द्वेषादि अवगुण, पुण्य-पापादि कर्म और हर्ष-शोकादि विकारोंसे सर्वदा और सर्वथा रहित है और जीवमें अज्ञानके कारण इन सबका सम्बन्ध है। प्रभुकी कृपासे प्रभुके तत्त्वका ज्ञान होकर इन सबका सम्बन्ध छूट सकता है। अज्ञानके कारण ही ये सब हैं और इनका अभाव प्रभुके तत्त्वज्ञानसे होता है। प्रभुके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि साधनोंके द्वारा होता है।

यदि कहो कि परमात्मतत्त्वके यथार्थ ज्ञान होनेके उत्तरकालमें भेद रहता है या अभेद ? तो इसका उत्तर यह है कि साधक जिस प्रकार समझता है, वैसी ही उसको प्रतीति होती है। यदि कहो कि जबतक प्रतीति होती है, तबतक तो वह उसकी

धारणा ही है। इन दोनोंका जो फल है, जिसको परमतत्त्वकी प्राप्ति—परमात्माकी प्राप्ति कहा जाता है, जिसको वेद अनिर्वचनीय स्थिति बतलाते हैं, उस स्थितिके बादकी बात हम पूछते हैं तो इसका उत्तर यह है कि जिस स्थितिको वेदोंने ही अनिर्वचनीय बतलाया है, उसको फिर दूसरा कौन कैसे बतला सकता है ? अतः यही समझना चाहिये कि वह स्थिति बतलायी जानेयोग्य नहीं है। यदि कहा जाय कि जब वह स्थिति बतलायी नहीं जा सकती तब उस स्थितिके अस्तित्वमें ही क्या प्रमाण है ? तो इसके उत्तरमें यह कहना होगा कि उसके लिये प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। वह स्वतःप्रमाण है। सबसे बढ़कर बात उसके लिये यह है कि उसीसे समस्त प्रमाणोंकी और सबके अस्तित्वकी सिद्धि होती है। वेद, शास्त्र और महात्माओंका अनुभव उसको प्रत्यक्ष बतलाता है। सब वेदोंका प्रधान लक्ष्य उसीकी प्राप्तिके लिये है, वही अनिर्वचनीय वस्तु है।

वह पुरुष है और उसकी शक्ति प्रकृति है। तीनों गुण उस प्रकृतिके कार्य हैं। वेदान्त और सांख्यने प्रकृतिको तीनों गुणोंकी साम्यावस्था माना है, तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाको ही उसका स्वरूप माना है। किन्तु भगवान्‌ने गीतामें गुणोंको प्रकृतिका कार्य बतलाया है। जैसे—

'प्रकृतिजैर्गुणैः' (३।५)
'गुणान्‌ ···· विद्धि प्रकृतिसंभवान्' (१३।१९)
'प्रकृतिजान् गुणान्' (१३।२१)
'गुणाः प्रकृतिसंभवाः' (१४।५)

'प्रकृतिजैः त्रिभिः गुणैः' (१८। ४०)

'वेदान्त' प्रकृतिको अनादि और सान्त मानता है, सांख्य और योग प्रकृतिको अनादि और नित्य मानते हैं। भगवान्ने गीतामें प्रकृतिको अनादि तो बतलाया है परन्तु नित्य नहीं बतलाया। नित्य वस्तु तो एक सनातन चेतन अव्यक्तको ही बतलाया है—(८। २०)। भगवान्ने प्रकृतिके लिये सान्त और अनित्य भी नहीं कहा। इसलिये इसको अनिर्वचनीय ही मानना चाहिये। भगवान्ने प्रकृतिको प्रथम तो नित्य इसलिये नहीं बतलाया कि नित्य वस्तु तो एक अनादि, सनातन, अव्यक्त परमात्मा ही है। दूसरे, प्रकृतिको नित्य बतलानेसे ज्ञानमार्गकी सिद्धि ही नहीं होती। इसी प्रकार भगवान्ने प्रकृतिको अनित्य भी प्रथम तो इसलिये नहीं बतलाया कि महाप्रलयके समय समस्त दृश्यवर्गके प्रकृतिमें विलीन होनेपर भी प्रकृति रहती है और महासर्गके आदिमें उसी प्रकृतिसे परमात्माके सकाशद्वारा पुनः दृश्यकी उत्पत्ति होती है, जिससे उसका नित्य-सा प्रतीत होना सिद्ध है। और दूसरे यदि प्रकृतिको अनादि और सान्त (या अनित्य) बतला दिया जाता तो भक्तिमार्गका महत्त्व ही क्या रह जाता? अतः भगवान्को दोनों ही मार्ग अभिप्रेत हैं और इसीलिये उन्होंने प्रकृतिको न तो स्पष्ट शब्दोंमें नित्य कहा और न अनित्य ही!

इससे यह सिद्ध होता है कि प्रकृति अनिर्वचनीय है। परमात्माके तत्त्वका ज्ञान होनेके बाद तो योग और सांख्यके अनुसार भी चेतन जीवात्माके साथ प्रकृतिके सम्बन्धका अत्यन्त विच्छेद हो

जाता है। अस्तु, सभी सिद्धान्तोंके अनुसार आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होनेके उपरान्त 'केवल' अवस्था हो जाती है। यानी फिर कार्य-सहित इस प्रकृतिके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। वेदान्त कहता है कि एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं। सांख्य और योग कहते हैं कि आत्मज्ञानके उत्तरकालमें भी प्रकृति है तो सही, पर जिसको आत्माका साक्षात्कार हो गया है, उसका प्रकृतिसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वस्तुतः परिणाममें एक ही बात हुई। साक्षात्कार होनेके बाद प्रकृतिसे सम्बन्ध कोई नहीं मानते और जब सम्बन्ध ही नहीं तब वह रहे भी तो कोई आपत्ति नहीं और न रहे तो भी कोई आपत्ति नहीं। स्वप्नसे जागनेके बाद स्वप्नके संसारसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, फिर चाहे वह स्वप्नका संसार कहीं रहे भी तो क्या आपत्ति है?

इससे यह सिद्ध होता है कि जबतक संसारकी प्रतीति है और इसके साथ सम्बन्ध है, तबतक चेतन और जड या द्रष्टा और दृश्य अथवा ज्ञाता और ज्ञेय नामक पुरुष और प्रकृति दो पदार्थ हैं और इन्हींसे सबका विस्तार है। किन्तु जब संसारकी प्रतीति नहीं होती, संसारसे सदाके लिये सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है तब परमात्माकी प्राप्ति होती है। उसके उत्तरकालकी अवस्थाका वर्णन कोई भी नहीं कर सकता। अतएव यथार्थमें यह बात है कि जिसको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है वही पुरुष उस बातको यथार्थ समझता है इसलिये हम लोगोंको परमात्माकी प्राप्तिके लिये जी-तोड़ प्रयत्न करना चाहिये।



समाधियोग



कितने ही मित्र पातञ्जलयोगदर्शनके अनुसार समाधिविषयक लेखके लिये मुझे प्रेरणा कर रहे हैं। उन लोगोंका आग्रह देखकर मेरी भी लिखनेकी प्रवृत्ति होती है, परन्तु मैंने इसका सम्पादन किया नहीं। समाधिका विषय बड़ा दुर्गम और गहन है। महर्षि पतञ्जलिजीका समाधिके विषयमें क्या सिद्धान्त था, यह बात भाष्य आदि टीकाओंको देखनेपर भी अच्छी प्रकारसे समझमें नहीं आती। पातञ्जलयोगके अनुसार योगका भलीभाँति सम्पादन करनेवाले योगी

भी संसारमें बहुत ही कम अनुमान होते हैं । इस विषयके तत्त्वज्ञ योगीसे मेरी तो भेंट भी नहीं हुई । ऐसी परिस्थितिमें समाधिके विषयमें न तो मुझमें लिखनेकी योग्यता ही है और न मेरा अधिकार ही है । तथापि अपने मनके विनोदके लिये पातञ्जल-योगदर्शनके आधारपर, समाधिविषयक अपने भावोंको पाठकोंकी सेवामें निवेदन करता हूँ । अतएव पाठकगण मेरी त्रुटियोंके लिये क्षमा करेंगे ।

पातञ्जलयोगदर्शनके अनुसार समाधिके मुख्यतया दो भेद हैं—१ सम्प्रज्ञात और २ असम्प्रज्ञात ।

असम्प्रज्ञातकी अपेक्षा सम्प्रज्ञात बहिरङ्ग है ।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य । (योगसू० ३ । ८)

वह (संयमरूप) सम्प्रज्ञात समाधि भी निर्बीज समाधिकी अपेक्षा बहिरङ्ग ही हैं । इस असम्प्रज्ञातयोगको ही निर्बीज समाधि, कैवल्य, चितिशक्तिरूप स्वरूपप्रतिष्ठा * आदि नामोंसे पातञ्जलयोग-दर्शनमें कहा है और उस योगीकी सदाके लिये अपने चिन्मय स्वरूपमें स्थिति हो जाती है तथा किसीके साथ सम्बन्ध नहीं रहता । इसलिये उसको चितिशक्तिरूप स्वरूपप्रतिष्ठा कहते हैं । उस अवस्थामें संसारके बीजका अत्यन्त अभाव है । इसलिये यह निर्बीज समाधिके नामसे प्रसिद्ध है ।†

---

* पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति । (४ । ३४)

† तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः । (१ । ५१)

सम्प्रज्ञात योगके मुख्य चार भेद हैं—

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् संप्रज्ञातः ।
(१ । १७)

वितर्कके सम्बन्धसे जो समाधि होती है उसका नाम वितर्कानुगम, विचारके सम्बन्धसे होनेवालीका नाम 'विचारानुगम', आनन्दके सम्बन्धसे होनेवालीका 'आनन्दानुगम' और अस्मिताके सम्बन्धसे होनेवाली समाधिका नाम 'अस्मितानुगम' है ।

(१) आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—ये पाँच स्थूलभूत, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच स्थूलविषय, इन पदार्थोंमें होनेवाली समाधिका नाम 'वितर्कानुगम' समाधि है । इसमें केवल पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर एवं सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदिसहित यह स्थूल ब्रह्माण्ड अन्तर्गत है । इस वितर्कानुगम समाधिके दो भेद हैं–१–सवितर्क और २–निर्वितर्क ।

(१) सवितर्क

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ।
(१ । ४२)

ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करनेयोग्य उन स्थूल पदार्थोंमें शब्द, अर्थ, ज्ञानके विकल्पोंसे संयुक्त, समापत्तिका नाम 'सवितर्क' समाधि है । जैसे कोई सूर्यमें समाधि लगाता है, तो उसमें सूर्यका नाम, सूर्यका रूप और सूर्यका ज्ञान—यह तीनों प्रकारकी कल्पना

रहती है, * इसलिये इसे सवितर्क समाधि कहते हैं, यह 'सविकल्प' है।

(२) निर्वितर्क

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।
(१। ४३)

स्मृतिके परिशुद्ध होनेपर अर्थात् शब्द और ज्ञानके विकल्पोंसे चित्त-वृत्ति भलीभाँति रहित होनेपर, जिसमें साधकको अपने स्वरूपके ज्ञानका अभाव-सा होकर, केवल अर्थ यानी ध्येय-मात्रकी ही प्रतीति रहती है; उसका नाम 'निर्वितर्क' समापत्ति अर्थात् समाधि है। जैसे सूर्यका ध्यान करनेवाला पुरुष मानो अपना ज्ञान भूलकर तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है और उसे केवल सूर्यका स्वरूपमात्र ही प्रतीत होता है, उसका नाम निर्वितर्क समाधि है। इसमें विकल्पोंका अभाव होनेके कारण इसे निर्विकल्प भी कहते हैं।

(२) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि सूक्ष्मतन्मात्राएँ, मन, बुद्धि, अहङ्कार और मूलप्रकृति एवं दश इन्द्रियाँ, इनमें होने-

* जिस पदार्थमें योगी समाधि लगाता है, उस पदार्थके वाचक या नामको तो शब्द, तथा वाच्य यानी स्वरूपको अर्थ और जिससे शब्द-अर्थके सम्बन्धका बोध होता है, उसको ज्ञान कहते हैं। जैसे सूर्य यह शब्द तो सूर्यदेवका वाचक है, सारे विश्वको प्रकाशित करनेवाला आकाशमें जो सूर्यमण्डल दीख पड़ता है, वह सूर्य शब्दका वाच्य है और उस मण्डलको देखकर यह सूर्य है—ऐसा जो बोध होता है, उसका नाम ज्ञान है।

वाली समाधिका नाम 'विचारानुगम' समाधि है। कोई-कोई इन्द्रियोंमें होनेवाली समाधिको आनन्दानुगम समाधि मानते हैं, परन्तु ऐसा मानना युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता; क्योंकि महर्षि पतञ्जलि कहते हैं--

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता। (१।४४)

इस सवितर्क और निर्वितर्कके भेदके अनुसार ही सूक्ष्म विषयवाली, सविचार और निर्विचार समाधिकी व्याख्या समझनी चाहिये। सूक्ष्म विषयकी मर्यादा, स्थूल पञ्चभूतोंको और स्थूल विषयोंको बाद देकर, मूलप्रकृतिपर्यन्त बतलायी है। इससे सूक्ष्म विषयकी व्याख्याके अन्तर्गत ही इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि आदि आ जाते हैं—

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्। (१।४५)

तथा सूक्ष्मविषयताकी सीमा अलिङ्ग यानी मूल प्रकृतितक है। मूल प्रकृतितक होनेसे दृश्यका सारा सूक्ष्मविषय, 'विचारानुगम' समाधिके अन्तर्गत आ जाता है।

इस विचारानुगम समाधिके भी दो भेद हैं। १—सविचार, २—निर्विचार।

(१) *सविचार*—स्थूल पदार्थोंको छोड़कर शेष मूलप्रकृति-पर्यन्त सम्पूर्ण ग्रहण और ग्राह्योंमें नाम (शब्द), रूप (अर्थ), ज्ञानके विकल्पोंसे संयुक्त समापत्ति अर्थात् समाधिका नाम सविचार

समाधि है। तीनों प्रकारके विकल्पोंसे युक्त होनेके कारण, इस सविचार समाधिको सविकल्प भी कहते हैं*।

(२) *निर्विचार*–जिसमें उपर्युक्त स्थूल पदार्थोंको छोड़कर शेष मूलप्रकृतिपर्यन्त सम्पूर्ण ग्रहण और ग्राह्योंमें स्मृतिके परिशुद्ध होनेपर अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पोंसे चित्तवृत्ति भली-भाँति रहित होनेपर जिसमें योगीको अपने स्वरूपके ज्ञानका अभाव-सा होकर, केवल अर्थमात्रकी ही प्रतीति रहती है, उसका नाम निर्विचार समाधि है। इसमें विकल्पोंका अभाव होनेके कारण इसे निर्विकल्प भी कहते हैं।

ग्रहण तेरह हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन, बुद्धि, अहङ्कार। ग्राह्य पदार्थोंके ग्रहण करनेमें द्वार होनेसे, इन्हें ग्रहण कहा गया है।

इनके अलावा—स्थूल, सूक्ष्म समस्त जड दृश्यवर्ग, ग्राह्य हैं। ये उपर्युक्त तेरह ग्रहणोंके द्वारा पकड़े जानेवाले होनेसे इन्हें 'ग्राह्य' कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचनका तात्पर्य यह है कि प्रकृतिका कार्यरूप यह दृश्यमात्र जड है और इस जडमें होनेवाली समाधिका नाम 'वितर्कानुगम' और 'विचारानुगम' समाधि है।

---

* ध्यानमें तो ध्याता, ध्यान, ध्येयकी त्रिपुटी रहती है और इस सवितर्क और सविचार समापत्तिमें, केवल ध्येयविषयक ही शब्द, अर्थ, ज्ञानसे मिला हुआ विकल्प रहता है तथा समाधिमें केवल ध्येयका स्वरूप-मात्र ही रह जाता है। इसलिये यह समापत्ति, ध्यानसे उत्तर एवं समाधिकी पूर्वावस्था है; अतएव इसको भी समाधि ही समझना चाहिये।

कार्यसहित प्रकृति जो दृश्यवर्ग है, इसीका नाम बीज है; इसलिये इसको लेकर होनेवाली समाधिका नाम सबीज समाधि है।

ता एव सबीजः समाधिः । (१।४६)

(३) अन्तःकरणकी स्वच्छतासे उत्पन्न होनेवाले आह्लाद यानी प्रिय, मोद, प्रमोद आदि वृत्तियोंमें जो समाधि होती है, उसका नाम 'आनन्दानुगम' समाधि है। उपर्युक्त वितर्क और विचार—ये दोनों समाधियाँ तो केवल जडमें अर्थात् दृश्य-पदार्थोंमें हैं परन्तु यह केवल जडमें नहीं है, क्योंकि आनन्दकी उत्पत्ति जड और चेतनके सम्बन्धसे होती है। इस आनन्दमें आत्माकी भावना करनेसे विवेकख्याति* द्वारा आत्मसाक्षात्कार भी हो जाता है।

(४) चेतन द्रष्टाकी चिन्मयशक्ति एवं बुद्धिशक्ति इन दोनोंकी जो एकता-सी है उसका नाम 'अस्मिता' है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता । (२।६)

---

* सत्त्व और पुरुषकी ख्यातिमात्रसे तो सब पदार्थोंपर स्वामित्व और ज्ञातृत्वकी प्राप्ति होती है और उसमें वैराग्य होनेसे संशय-विपर्ययसे रहित निर्मल विवेकख्याति होती है इसीको 'सर्वथा विवेकख्याति' भी कहते हैं, इससे 'धर्ममेघ समाधि' लाभ और क्लेश-कर्मकी निवृत्ति होकर कैवल्यपदकी प्राप्ति हो जाती है।

यह 'धर्ममेघ समाधि' सम्प्रज्ञात योग नहीं है। असम्प्रज्ञात योग यानी निर्बीज समाधिकी पूर्वावस्था है, क्योंकि इससे समस्त क्लेश-कर्मोंकी निवृत्ति होकर कैवल्यपदकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

पुरुष और बुद्धिकी एकरूपताकी-सी प्रतीति होना अस्मिता है*। इसलिये बुद्धिवृत्ति और पुरुषकी चेतनशक्तिकी एकताके-से स्वरूपमें जो समाधि होती है उसका नाम 'अस्मितानुगम' समाधि है। आनन्दानुगम तो चेतनपुरुष और बुद्धिके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले आनन्द—आह्लादमें होती है। किन्तु यह समाधि चेतन पुरुष और बुद्धिकी एकात्मताकी-सी स्थितिमें होती है। इस समाधिसे पुरुष और प्रकृतिका पृथक्-पृथक् रूपसे ज्ञान हो जाता है। उस सत्त्वपुरुषके पृथक्-पृथक् ज्ञानमात्रसे समस्त पदार्थोंके स्वामित्व और ज्ञातृत्वकी प्राप्ति होती है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च। (३।४९)

फिर इन सबमें वैराग्य होनेपर, क्लेश-कर्मके मूलभूत अविद्यारूप दोषकी निवृत्ति होकर, पुरुष 'कैवल्य' अवस्थाको प्राप्त हो जाता है—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्। (३।५०)

असम्प्रज्ञात योग अर्थात् निर्बीज समाधि तो सङ्कल्पोंका अत्यन्त अभाव होनेके कारण, निर्विकल्प है ही किन्तु सम्प्रज्ञात-योगमें निर्वितर्क और निर्विचार आदि सबीज समाधियाँ भी, विकल्पोंका अभाव होनेके कारण, निर्विकल्प हैं।

---

* वितर्कानुगम और विचारानुगम समाधिके जैसे सवितर्क और निर्वितर्क तथा सविचार और निर्विचार दो-दो भेद होते हैं वैसे ही आनन्द और अस्मिताके भी दो-दो भेद किये जा सकते हैं।

'ग्रहण' और 'ग्राह्यों'में तथा आनन्द और बुद्धिसहित ग्रहीतामें सम्प्रज्ञात योगको बतलाकर, अब केवल ग्रहीतामें होनेवाला असम्प्रज्ञात योग बतलाया जाता है। चेतनरूप ग्रहीताके स्वस्वरूपमें होनेवाली समाधिका नाम असम्प्रज्ञात योग है। इसमें दृश्यके अभावसे, द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें समाधि होती है।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।
(१।१८)

चित्तवृत्तियोंके अभावके अभ्याससे उत्पन्न हुई स्थिति, जिसमें केवल चित्तनिरोधके संस्कार ही शेष रहते हैं, वह अन्य है अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि है। इसमें चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा निरोध हो जाता है और चित्तनिरोधके संस्कार ही रह जाते हैं।

गुण और गुणोंके कार्यमें अत्यन्त वैराग्य होनेसे समस्त दृश्यका आलम्बन चित्तसे छूट जाता है, दृश्यसे अत्यन्त उपरामता होकर चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है और क्लेशकर्मोंका नाश हो जाता है तथा क्लेशकर्मोंका नाश हो जानेसे उस योगीका चित्तके साथ अत्यन्त सम्बन्धविच्छेद हो जाता है। सत्, रज, तम-गुणमयी प्रकृति उस योगीको मुक्ति देकर कृतकार्य हो जाती है। यही योगीकी कैवल्य अवस्था अथवा चितिशक्तिरूप स्वरूप-प्रतिष्ठा है। इसीको निर्बीज समाधि कहते हैं।

सम्प्रज्ञात योगमें जिस पदार्थका आलम्बन किया जाता है, उस पदार्थका यथार्थ ज्ञान होकर, योगीकी भूमियोंमें वृद्धि होते-होते, शेषमें प्रकृति-पुरुषतकका यथार्थ ज्ञान हो जाता है और उसमें

वैराग्य होनेसे कैवल्यपदकी प्राप्ति हो जाती है। किन्तु असम्प्रज्ञात योगमें तो शुरूसे ही दृश्यके आलम्बनका त्याग किया जाता है जिससे दृश्यका अत्यन्त अभाव होकर, त्याग करनेवाला केवल चेतन पुरुष ही बच रहता है, वही उसकी कैवल्य अवस्था है। अर्थात् सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातका प्रधान भेद यह है कि सम्प्रज्ञात योग तो किसीको ध्येय बनाकर यानी किसीका आलम्बन करके किया जाता है। यहाँ आलम्बन ही बीज है, इसलिये किसीको आलम्बन बनाकर, उसमें समाधि होती है, उसका नाम सबीज समाधि है। किन्तु असम्प्रज्ञात योगमें आलम्बनका अभाव है। आलम्बनका अभाव करते-करते, अभाव करनेवाली वृत्तियोंका भी अभाव होनेपर, जो समाधि होती है, वह असम्प्रज्ञात योग है। निरालम्ब होनेके कारण इसको निर्बीज समाधि भी कहते हैं।

ऊपर बताये हुए असम्प्रज्ञात योगकी सिद्धि दो प्रकारसे होती है। जिनमें एकका नाम 'भव-प्रत्यय' है और दूसरेका नाम 'उपाय-प्रत्यय'। जो पूर्वजन्ममें विदेह और प्रकृतिलयतक पहुँच चुके थे वे ही योगभ्रष्ट पुरुष इस जन्ममें भव-प्रत्ययके अधिकारी हैं, शेष सब मनुष्य उपाय-प्रत्ययके अधिकारी हैं। उनमें भव-प्रत्यय यह है—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।

(१।१९)

विदेही और प्रकृतिलयोंको भव-प्रत्यय होता है।

भव नाम है जन्मका, प्रत्यय नाम है प्रतीति—प्रकट होनेका। जन्मसे ही जिसकी प्रतीति होती है अर्थात् जो जन्मसे ही सम्प्रज्ञात-

योग प्रकट है, उसे 'भव-प्रत्यय' कहते हैं। अथवा, भवात् प्रत्ययः भवप्रत्ययः। भवात् नाम जन्मसे, प्रत्यय नाम ज्ञान, जन्मसे ही है ज्ञान जिसका अर्थात् जिस सम्प्रज्ञात योगकी प्राप्तिका, उसका नाम है 'भव-प्रत्यय'। सारांश यह है कि विदेही और प्रकृतिलय योगियोंको जन्मसे ही, सम्प्रज्ञात योगकी प्राप्तिविषयक ज्ञान है। उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञाकी आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि इन सबका साधन उनके पूर्वजन्ममें हो चुका है।

इसलिये पूर्वजन्मके संस्कारबलसे* उनको परवैराग्य होकर विराम प्रत्ययके अभ्यासपूर्वक यानी चित्तवृत्तियोंके अभावके अभ्यास अर्थात् दृश्यरूप आलम्बनके अभावके अभ्याससे असम्प्रज्ञात यानी निर्बीज समाधि हो जाती है।

---

* भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने भी योगभ्रष्ट पुरुषकी गति बतलाते हुए कहा है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
(६। ४३-४४)

और वह योगभ्रष्ट पुरुष, वहाँ उस पहले शरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धि-संयोगको अर्थात् समत्वबुद्धियोगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है, और हे कुरुनन्दन! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये पहलेसे भी बढ़कर प्रयत्न करता है। वह श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पराधीन हुआ भी उस पहलेके अभ्याससे ही निःसन्देह भगवान्‌की ओर आकर्षित किया जाता है।

(१) विदेही उन्हें कहते हैं, जिनका देहमें अभिमान नहीं-के तुल्य है। सम्प्रज्ञात योगकी जो चौथी समाधि अस्मिता है, उसमें समाधिस्थ होनेसे पुरुष और बुद्धिका पृथक्-पृथक् ज्ञान हो जाता है, उस ज्ञानसे आत्माको ज्ञाता और बुद्धिको ज्ञेयरूपसे समझकर, शरीरसे आत्माको पृथक् देखता है। तब उसको 'विदेह' ऐसा कहा जाता है।

(२) 'प्रकृतिलय' उन्हें कहते हैं जिनमें निर्विचार समाधि-द्वारा प्रकृतिपर्यन्त संयम करनेकी योग्यता हो गयी है। इस प्रकारके योगियोंको अध्यात्मप्रसाद होकर ऋतम्भरा प्रज्ञाकी प्राप्ति हो जाती है।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ।

(१ । ४७)

निर्विचार समाधिमें वैशारद्य यानी प्रवीणता होनेपर, अध्यात्म-प्रसाद होता है। रज, तमरूप मल और आवरणका क्षय होकर, प्रकाशस्वरूप बुद्धिका स्वच्छ प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, इसीका नाम 'वैशारद्य' है। इससे प्रकृति और प्रकृतिके सारे पदार्थोंका, संशयविपर्ययरहित प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है; इसका नाम 'अध्यात्म-प्रसाद' है। यह सम्प्रज्ञात योगकी निर्विचार समाधि है।

विदेह और प्रकृतिलय योगियोंका विषय बतलाकर अब साधारण मनुष्योंके लिये, असम्प्रज्ञात योग प्राप्त करनेके लिये 'उपाय-प्रत्यय' कहते हैं—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।

(१ । २०)

जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं, उन पुरुषोंका श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक, विराम-प्रत्ययके अभ्यासद्वारा असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है।

श्रद्धा—योगकी प्राप्तिके लिये अभिरुचि या उत्कट इच्छाको उत्पन्न करनेवाले विश्वासका नाम 'श्रद्धा' है। जिसका अन्तःकरण जितना स्वच्छ यानी मल-दोषसे रहित होता है, उतनी ही उसमें श्रद्धा* होती है। श्रद्धा ही कल्याणमें परम कारण है, इसलिये आत्माका कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको श्रद्धाकी वृद्धिके लिये विशेष कोशिश करनी चाहिये।

वीर्य—योगकी प्राप्तिके लिये साधनकी तत्परता उत्पन्न करनेवाले उत्साहका नाम 'वीर्य' है। क्योंकि श्रद्धाके अनुसार उत्साह और उत्साहके अनुसार ही साधनमें तत्परता होती है। और उस तत्परतासे मन और इन्द्रियोंके संयमकी भी सामर्थ्य हो जाती है।

स्मृति—अनुभूत विषयका न भूलना यानी उसके निरन्तर स्मरण रहनेका नाम 'स्मृति' है, इसलिये यहाँ अध्यात्मबुद्धिके द्वारा

---

* भगवद्गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
(१७।३)

हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप है।

सूक्ष्म विषयमें जो चित्तकी एकाग्रता होकर, एकतानता है अर्थात् स्थिर स्थिति (ध्यान) है, उसको 'स्मृति' नामसे कहा है ।

समाधि–फिर उसीमें अपने स्वरूपका अभाव-सा होकर, जहाँ केवल अर्थमात्र ध्येय वस्तुका ही ज्ञान रह जाता है, उसका नाम 'समाधि' है ।

प्रज्ञा–ऋतम्भरा प्रज्ञा ही यहाँ प्रज्ञा नामसे कथित हुई है । उपर्युक्त समाधिके फलस्वरूप यह ऋतम्भरा प्रज्ञा योगीको प्राप्त होती है ।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा । (१ । ४८)

वहाँ ऋतम्भरा प्रज्ञा होती है । ऋत सत्यका नाम है । उसको धारण करनेवाली बुद्धिका नाम ऋतम्भरा है ।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् । (१ । ४९)

विशेष अर्थवाली होनेसे यह प्रज्ञा, श्रुत और अनुमानजन्य प्रज्ञासे अन्य विषयवाली है ।

अर्थात् श्रुति, स्मृतिद्वारा सुने हुए और अपनी साधारण बुद्धिके द्वारा अनुमान किये हुए, विषयोंसे भी इस बुद्धिके द्वारा विशेष अर्थका यानी यथार्थ अर्थका अनुभव होता है ।

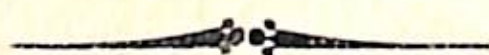
इस ऋतम्भरा प्रज्ञाके द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञानसे संसारके पदार्थोंमें वैराग्य और उपरति उत्पन्न होकर, उससे आत्मविषयक साधनमें आनेवाले विक्षेपोंका अभाव हो जाता है ।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी । (१ । ५०)

उस ऋतम्भरा प्रज्ञासे उत्पन्न ज्ञानरूप संस्कार अन्य दृश्यजन्य संस्कारोंका बाधक है ।

इसलिये उपर्युक्त प्रज्ञाके संस्कारोंद्वारा विराम-प्रत्ययका अभ्यास करना चाहिये अर्थात् विषयसहित चित्तकी समस्त वृत्तियोंके विस्मरण-का अभ्यास करना चाहिये । इस प्रकारका अभ्यास करते-करते दृश्यका अत्यन्त अभाव हो जाता है । दृश्यका अत्यन्ताभाव होनेपर दृश्यका अभाव करनेवाली बुद्धिवृत्तिका भी स्वयमेव निरोध हो जाता है और इसके निरोध होनेपर निर्बीज समाधि हो जाती है ।* यही इस योगीकी स्वरूपमें स्थिति है, या यों कहिये कि कैवल्यपदकी प्राप्ति है ।

इनका सार निकालनेसे यही प्रतीत होता है कि अन्तःकरणकी स्वच्छतासे श्रद्धा होती है । श्रद्धासे साधनमें तत्परता होती है, तत्परतासे मन और इन्द्रियोंका निरोध होकर परमात्माके स्वरूपमें निरन्तर ध्यान होता है, उस ध्यानसे परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होता है । और ज्ञानसे परम शान्तिकी प्राप्ति होती है । इसीको भगवत्प्राप्ति, परमधामकी प्राप्ति आदि नामोंसे गीतामें बतलाया गया है । और यहाँ इस प्रकरणमें इसीको 'निर्बीज समाधि' या 'कैवल्यपद' की प्राप्ति कहा है ।



---

* तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ (१ । ५१)

उस अन्य (ऋतम्भरा प्रज्ञाजन्य) संस्कारके भी निरोध होनेपर सबके निरोध होनेसे निर्बीज (निर्विकल्प) समाधि होती है ।

अष्टाङ्गयोग

अनेकों व्यक्ति ध्यान करने और समाधि लगानेकी चेष्टा करते हैं, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि समाधिकी सिद्धिके लिये यम-नियमोंके पालनकी विशेष आवश्यकता है। यम-नियमोंके पालन किये विना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है। झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचारकी वृत्तियोंके नष्ट हुए विना चित्तका एकाग्र होना कठिन है और चित्त एकाग्र हुए विना ध्यान

और समाधि नहीं हो सकती। यों तो समाधिकी इच्छावाले पुरुषोंको योगके आठों ही अङ्गोंका साधन करना चाहिये, किन्तु यम और नियमोंका पालन तो अवश्यमेव करना चाहिये। जैसे नींवके विना मकान नहीं ठहर सकता, ऐसे ही यम-नियमोंके पालन किये विना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना असम्भव-सा है। यम-नियमोंमें भी जो पुरुष यमोंका पालन न करके केवल नियमोंका पालन करना चाहता है, उससे नियमोंका पालन भी अच्छी प्रकार नहीं हो सकता। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष नित्य निरन्तर यमोंका पालन करता हुआ ही नियमोंका पालन करे, इनका साधन किये विना ध्यान और समाधिकी सिद्धि होनी कठिन है। अतः योगकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुषको यम-नियमोंका साधन अवश्यमेव करना चाहिये। इनके पालनसे चोरी, जारी, झूठ, कपट आदि दुराचारोंका और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणोंका नाश होकर अन्तःकरणकी पवित्रता होती है और उसमें उत्तम गुणोंका समावेश होकर इष्ट-देवताके दर्शन एवं आत्माका साक्षात्कार भी हो सकता है। परन्तु यम-नियमोंके पालन किये विना ध्यान और समाधिकी बात तो दूर रही, अच्छी प्रकारसे प्राणायामका होना भी कठिन है।

बहुत-से लोग प्राणायामके लिये यत्न करते हैं, किन्तु सफलता नहीं पाते। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण एवं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचार एवं प्राणायामविषयक क्रियाके ज्ञानका अभाव ही इस सफलतामें प्रधान बाधक है। यम-नियमोंका पालन करनेसे उपर्युक्त दुराचार और दुर्गुणोंका नाश हो जाता है। अतएव प्राणायामका साधन करनेवालेको भी प्रथम यम-नियमोंका

पालन करना चाहिये। उपर्युक्त दुर्गुण और दुराचार सभी साधनोंमें बाधक हैं। इसलिये ध्यान और समाधिकी इच्छा करनेवाले साधकोंको, दोषोंका नाश करनेके लिये प्रथम यम-नियमोंका पालन करके ही, योगके अन्य अङ्गोंका अनुष्ठान करना चाहिये। जो पुरुष योगके आठों अङ्गोंका अच्छी प्रकारसे साधन कर लेता है, उसका अन्त:करण पवित्र होकर ज्ञानकी अपार दीप्ति हो जाती है, जिससे उसको इच्छानुसार सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं और सिद्धियाँ न चाहनेवाला पुरुष तो क्लेश और कर्मोंसे छूटकर आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर सकता है।

योगके आठ अङ्ग ये हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽ-ष्टावङ्गानि। (योगदर्शन २। २९)

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं।'

इन आठ अङ्गोंकी दो भूमिकाएँ हैं—१—बहिरङ्ग, २—अन्तरङ्ग। ऊपर बतलाये हुए आठ अङ्गोंमेंसे पहले पाँचको बहिरङ्ग कहते हैं, क्योंकि उनका विशेषतया बाहरकी क्रियाओंसे ही सम्बन्ध है। शेष तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरङ्ग हैं। इनका सम्बन्ध केवल अन्त:करणसे होनेके कारण इनको अन्तरङ्ग कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने एक साथ इन तीनोंको 'संयम' भी कहा है—

त्रयमेकत्र संयमः। (योगदर्शन ३। ४)

अब इन आठों अङ्गोंका संक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

१—यम

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

(योगदर्शन २ । ३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पाँचोंका नाम यम है ।'

(क) किसी भूतप्राणीको या अपनेको* भी मन, वाणी, शरीरद्वारा, कभी, किसी प्रकार, किञ्चित्मात्र भी, कष्ट न पहुँचानेका नाम अहिंसा है ।

(ख) अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा निश्चय किया हो, हितकी भावनासे, कपटरहित प्रिय शब्दोंमें वैसा-का-वैसा ही प्रकट करने (यथार्थ भाषण) का नाम सत्य है ।

(ग) मन, वाणी, शरीरद्वारा किसी प्रकारके भी किसीके स्वत्व (हक) को न चुराना और न छीनना अस्तेय है ।

(घ) मन, इन्द्रिय और शरीरसे सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सदा-सर्वदा सब प्रकारके मैथुनोंका अर्थात् काम-विकारके सर्वथा अभावका नाम ब्रह्मचर्य है ।

(ङ) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धके उत्पादक किसी भी भोगसामग्रीका कभी संग्रह न करना अपरिग्रह है ।

---

* स्वधर्मरक्षा, परोपकार, इन्द्रियसंयम और ईश्वरभक्ति आदि सत्कार्योंमें कष्ट सहन करना तो योगकी सिद्धिमें सहायक है; यहाँ केवल अशास्त्रीय, अनुचित कष्ट पहुँचानेका निषेध है ।

इन पाँचों यमोंका सब जाति, सब देश और सब कालमें पालन होनेसे एवं किसी निमित्तसे भी इनके विपरीत हिंसादि दोषोंके न घटनेसे इनकी संज्ञा 'महाव्रत' हो जाती है।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।

(योगदर्शन २ । ३१)

'जाति, देश, काल और निमित्तसे अनवच्छिन्न यमोंका सार्वभौम पालन महाव्रत होता है।' सार्वभौमके निम्नलिखित प्रकार हैं—

मनुष्य और मनुष्येतर स्थावर-जङ्गम प्राणी तथा मनुष्योंमें हिन्दू-मुसलमान, सनातनी-असनातनी आदि भेदोंसे किसीके साथ भी यमोंके पालनमें भेद न करना 'जातिगत सार्वभौम' महाव्रत है।

भिन्न-भिन्न खण्डों, देशों, प्रान्तों, ग्रामों, स्थानों एवं तीर्थ-अतीर्थ आदिके भेदसे यमके पालनमें किसी प्रकारका भेद न रखनेसे वह 'देशगत सार्वभौम' महाव्रत होता है।

वर्ष, मास, पक्ष, सप्ताह, दिवस, मुहूर्त्त, नक्षत्र एवं पर्व-अपर्व आदिके भेदोंसे यमके पालनमें किसी प्रकार भी भेद न रखना 'कालगत सार्वभौम' महाव्रत कहलाता है।

यज्ञ, देव-पूजन, श्राद्ध, दान, विवाह, न्यायालय, क्रय-विक्रय, आजीविका आदिके भेदोंसे यमके पालनमें किसी प्रकारका भेद न रखना 'समय (निमित्त) गत सार्वभौम' महाव्रत है। तात्पर्य यह है कि किसी देश अथवा कालमें, किसी जीवके साथ, किसी भी निमित्तसे, हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदिका कभी किसी

प्रकार भी आचरण न करना तथा परिग्रह आदि न रखना 'सार्वभौम महाव्रत' है।

२—नियम

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

(योगदर्शन २ । ३२)

'पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, ये पाँच नियम हैं।'

(क) पवित्रता दो प्रकारकी होती है—१ बाहरी और २ भीतरी। जल-मिट्टीसे शरीरकी, स्वार्थ-त्यागसे व्यवहार और आचरणकी तथा न्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त सात्त्विक पदार्थोंके पवित्रतापूर्वक सेवनसे आहारकी; यह बाहरी पवित्रता है। अहंता, ममता, राग-द्वेष, ईर्ष्या, भय और काम-क्रोधादि भीतरी दुर्गुणोंके त्यागसे भीतरी पवित्रता होती है।

(ख) सुख-दुःख, लाभ-हानि, यश-अपयश, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिके प्राप्त होनेपर सदा-सर्वदा सन्तुष्ट—प्रसन्नचित्त रहनेका नाम सन्तोष है।

(ग) मन और इन्द्रियोंके संयमरूप धर्म-पालन करनेके लिये कष्ट सहनेका और तितिक्षा, व्रत एवं उपवासादिका नाम तप है।

(घ) कल्याणप्रद शास्त्रोंका अध्ययन और इष्टदेवके नामका जप तथा स्तोत्रादि पठन-पाठन एवं गुणानुवाद करनेका नाम स्वाध्याय है।

(ङ) ईश्वरकी भक्ति अर्थात् सर्वस्व ईश्वरके अर्पण करके ईश्वरके लिये मन-वाणी और शरीरद्वारा ईश्वरके अनुकूल ही चेष्टा करनेका नाम ईश्वरप्रणिधान है ।

उपर्युक्त यम और नियमोंके पालनमें बाधक हिंसा आदि विपरीत वृत्तियोंके नाशके लिये महर्षि पतञ्जलि उपाय बतलाते हैं ।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् । (योगदर्शन २ । ३३)

'हिंसादि वितर्कोंसे बाधा होनेपर प्रतिपक्षका चिन्तन करना चाहिये ।'

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् । (योगदर्शन २ । ३४)

कृत, कारित और अनुमोदितभेदसे, लोभ, क्रोध और मोहके हेतुसे, मृदु, मध्य और अधिमात्रस्वरूपसे, ये हिंसादि वितर्क अनन्त दु:ख और अज्ञानरूपी फलके देनेवाले हैं—ऐसी भावनाका नाम 'प्रतिपक्षभावना' है ।

अर्थात् हिंसादि दोष, अनन्त दु:ख और अनन्त अज्ञानरूप फलके देनेवाले हैं; इस प्रकारकी बारंबार भावना करनेका नाम 'प्रतिपक्षभावना' है ।

हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, भोगपदार्थोंका संग्रह, अपवित्रता और असन्तोषकी वृत्ति एवं तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानके विरोधकी वृत्ति, इनका नाम वितर्क है ।

उपर्युक्त हिंसादिको मन, वाणी, शरीरद्वारा स्वयं करनेका नाम 'कृत', दूसरोंके द्वारा करवानेका नाम 'कारित' और अन्योंद्वारा किये जानेवाले हिंसादि दोषोंके समर्थन, अनुमोदन या उनमें सम्मतिका नाम 'अनुमोदित' है। उपर्युक्त तीनों प्रकारके हिंसादि समस्त दोषोंके होनेमें लोभ, क्रोध और मोह, ये तीन हेतु हैं। तीनों प्रकारके दोष, तीन हेतुओंसे बननेवाले होनेके कारण, नौ तरहके हो जाते हैं। आसक्ति या कामनासे उत्पन्न होनेवाले हिंसा, असत्यादि दोषोंमें लोभ; ईर्ष्या, द्वेष, वैरादिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंमें क्रोध और मूढता, विपरीत-बुद्धि आदिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंमें मोह हेतु होता है। ये नौ प्रकारके दोष, मृदु, मध्य और अधिमात्रके भेदसे, सत्ताईस प्रकारके हो जाते हैं। अत्यन्त अल्पका नाम मृदु, बीचकी मात्राका नाम मध्य और अधिक मात्रामें यानी पूर्णरूपसे होनेवाले हिंसादि दोषका स्वरूप अधिमात्र कहा जाता है।

यम-नियमोंके पालनका महान् फल

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

(योगदर्शन २। ३५)

'अहिंसारूपी महाव्रतके पूर्ण पालन होनेपर उस योगीके समीप दूसरे (स्वाभाविक वैर रखनेवाले) प्राणी भी वैरका अर्थात् हिंसादिवृत्तिका त्याग कर देते हैं।'

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। (योगदर्शन २। ३६)

सत्यके अच्छी प्रकार पालनसे उस सत्यवादीकी वाणी सफल हो जाती है, अर्थात् वह जो कुछ कहता है वही सत्य हो जाता है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् । (योगदर्शन २ । ३७)

चोरीकी वृत्तिका सर्वथा त्याग हो जानेपर उसे सब रत्नोंकी उपस्थिति हो जाती है, अर्थात् समस्त रत्न उसके दृष्टिगोचर हो जाते हैं और समस्त जनता उसका पूर्णरूपसे विश्वास करने लग जाती है ।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः । (योगदर्शन २ । ३८)

ब्रह्मचर्यका अच्छी प्रकारसे पालन होनेपर शरीर, मन और इन्द्रियोंमें अत्यन्त सामर्थ्यकी प्राप्ति हो जाती है ।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः । (योगदर्शन २ । ३९)

अपरिग्रहके स्थिर होनेपर यानी विषय-भोग-पदार्थोंके संग्रहका भलीभाँति त्याग होनेपर, वैराग्य और उपरति होकर मनका संयम होता है और मनःसंयमसे भूत, भविष्यत्, वर्तमान जन्मोंका और उनके कारणोंका ज्ञान हो जाता है ।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः । (योगदर्शन २ । ४०)

पूर्णतया बाहरकी पवित्रतासे अपने अङ्गोंमें घृणा तथा दूसरे शरीरोंमें अरुचि हो जानेसे उनका संसर्ग नहीं किया जाता ।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ।
(योगदर्शन २ । ४१)

अन्तःकरणकी पवित्रतासे मनकी प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियोंपर विजय और आत्माके साक्षात् दर्शन करनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है ।

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः । (योगदर्शन २ । ४२)

सन्तोषसे सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है ।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः । (योगदर्शन २ । ४३)

तपके अनुष्ठानसे अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ और दूरसे देखना-सुनना आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं ।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः । (योगदर्शन २ । ४४)

स्वाध्यायसे इष्टदेवका साक्षात् दर्शन हो जाता है ।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् । (योगदर्शन २ । ४५)

ईश्वरप्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है ।

३—आसन और आसनसिद्धिका फल

आसन अनेकों प्रकारके हैं । उनमेंसे आत्मसंयम चाहनेवाले पुरुषके लिये पद्मासन, स्वस्तिकासन और सिद्धासन—ये तीन बहुत उपयोगी माने गये हैं । इनमेंसे कोई-सा भी आसन हो; परन्तु मेरुदण्ड, मस्तक और ग्रीवाको सीधा अवश्य रखना चाहिये और दृष्टि नासिकाग्रपर अथवा भृकुटीमें रखनी चाहिये । आलस्य न सतावे तो आँखें मूँदकर भी बैठ सकते हैं । जिस आसनसे जो पुरुष सुखपूर्वक दीर्घकालतक बैठ सके, वही उसके लिये उत्तम आसन है ।

स्थिरसुखमासनम् । (योगदर्शन २ । ४६)

सुखपूर्वक स्थिरतासे बहुत कालतक बैठनेका नाम आसन है ।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् । (योगदर्शन २ । ४७)

शरीरकी स्वाभाविक चेष्टाके शिथिल करनेपर अथवा अनन्तमें मनके तन्मय होनेपर आसनकी सिद्धि होती है । कम-से-कम एक

पहर यानी तीन घंटेतक एक आसनसे सुखपूर्वक स्थिर और अचल भावसे बैठनेको आसनसिद्धि कहते हैं ।

ततो द्वन्द्वानभिघातः । (योगदर्शन २ । ४८)

उस आसनोंकी सिद्धिसे (शरीर पूर्णरूपसे संयत हो जानेके कारण) शीतोष्णादि द्वन्द्व बाधा नहीं करते ।

४—प्राणायाम

अब संक्षेपमें प्राणायामकी क्रियाका उल्लेख किया जाता है । असलमें प्राणायामका विषय अनुभवी योगियोंके पास रहकर ही उनसे सीखना चाहिये, नहीं तो इससे शारीरिक हानि भी हो सकती है ।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः । (योगदर्शन २ । ४९)

आसनके सिद्ध हो जानेपर श्वास और प्रश्वासकी गतिके अवरोध हो जानेका नाम प्राणायाम है । बाहरी वायुका भीतर प्रवेश करना श्वास है और भीतरकी वायुका बाहर निकलना प्रश्वास है; इन दोनोंके रुकनेका नाम प्राणायाम है ।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः । (योगदर्शन २ । ५०)

देश, काल और संख्या (मात्रा) के सम्बन्धसे बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्तिवाले, ये तीनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं ।

भीतरके श्वासको बाहर निकालकर बाहर ही रोक रखना 'बाह्य कुम्भक' कहलाता है। इसकी विधि यह है—आठ प्रणव (ॐ) से रेचक करके, सोलहसे बाह्य कुम्भक करना और फिर चारसे पूरक करना—इस प्रकारसे रेचक-पूरकके सहित बाहर कुम्भक करनेका नाम बाह्यवृत्तिप्राणायाम है।

बाहरके श्वासको भीतर खींचकर भीतर रोकनेको 'आभ्यन्तर कुम्भक' कहते हैं। इसकी विधि यह है कि चार प्रणवसे पूरक करके सोलहसे आभ्यन्तर कुम्भक करे, फिर आठसे रेचक करे। इस प्रकार पूरक-रेचकके सहित भीतर कुम्भक करनेका नाम आभ्यन्तरवृत्तिप्राणायाम है।

बाहर या भीतर, जहाँ कहीं भी सुखपूर्वक प्राणोंके रोकनेका नाम स्तम्भवृत्तिप्राणायाम है। अथवा चार प्रणवसे पूरक करके आठसे रेचक करे; इस प्रकार पूरक-रेचक करते-करते सुखपूर्वक जहाँ कहीं प्राणोंको रोकनेका नाम स्तम्भवृत्तिप्राणायाम है।

इनके और भी बहुत-से भेद हैं; जितनी संख्या और जितना काल पूरकमें लगाया जाय, उतनी संख्या और काल रेचक तथा कुम्भकमें भी लगा सकते हैं।

प्राणवायुका नाभि, हृदय, कण्ठ या नासिकाके भीतरके भागतकका नाम 'आभ्यन्तर' देश है। और नासिकापुटसे वायुका बाहर सोलह अंगुलतक 'बाहरी देश' है। जो साधक पूरक प्राणायाम करते समय नाभितक श्वासको खींचता है, वह सोलह अंगुलतक बाहर फेंके; जो हृदयतक अन्दर खींचता है, वह बारह अंगुलतक

बाहर फेंके; जो कण्ठतक श्वासको खींचता है, वह आठ अंगुल बाहर निकाले और जो नासिकाके अन्दर ऊपरी अन्तिम भागतक ही श्वास खींचता है, वह चार अंगुल बाहरतक श्वास फेंके । इसमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तरवालेको 'सूक्ष्म' और पूर्व-पूर्ववालेको 'दीर्घ' समझना चाहिये ।

प्राणायाममें संख्या और कालका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण, इनके नियमोंमें व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये ।

जैसे चार प्रणवसे पूरक करते समय एक सेकण्ड समय लगा तो सोलह प्रणवसे कुम्भक करते समय चार सेकण्ड और आठ प्रणवसे रेचक करते समय दो सेकण्ड समय लगना चाहिये । मन्त्रकी गणनाका नाम 'संख्या या मात्रा' है, उसमें लगनेवाले समयका नाम 'काल' है । यदि सुखपूर्वक हो सके तो साधक ऊपर बताये काल और मात्राको दूनी, तिगुनी, चौगुनी या जितनी चाहे यथासाध्य बढ़ा सकता है । काल और मात्राकी अधिकता एवं न्यूनतासे भी प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होता है ।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः । (योगदर्शन २ । ५१)

बाह्य और भीतरके विषयोंके त्यागसे होनेवाला जो 'केवल' कुम्भक होता है, उसका नाम चतुर्थ प्राणायाम है ।

शब्द-स्पर्शादि जो इन्द्रियोंके बाहरी विषय हैं और संकल्प-विकल्पादि जो अन्तःकरणके विषय हैं, उनके त्यागसे—उनकी उपेक्षा करनेपर अर्थात् विषयोंका चिन्तन न करनेपर प्राणोंकी गतिका जो स्वतः ही अवरोध होता है, उसका नाम 'चतुर्थ प्राणायाम' है ।

पूर्वसूत्रमें बतलाये हुए प्राणायामोंमें प्राणोंके निरोधसे मनका संयम है और यहाँ मन और इन्द्रियोंके संयमसे प्राणोंका संयम है । यहाँ प्राणोंके रुकनेका कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है—जहाँ कहीं भी रुक सकते हैं, तथा काल और संख्याका भी विधान नहीं है ।

प्राणायामका फल

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् । (योगदर्शन २ । ५२)

उस प्राणायामके सिद्ध होनेपर विवेकज्ञानको आवृत करनेवाले पाप और अज्ञानका क्षय हो जाता है ।

धारणासु च योग्यता मनसः । (योगदर्शन २ । ५३)

तथा प्राणायामकी सिद्धिसे मन स्थिर होकर, उसकी धारणाओं-के योग्य सामर्थ्य हो जाती है ।

५–प्रत्याहार और उसका फल

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।
(योगदर्शन २ । ५४)

अपने-अपने विषयोंके संयोगसे रहित होनेपर, इन्द्रियोंका चित्त-के-से रूपमें अवस्थित हो जाना 'प्रत्याहार' है ।

प्रत्याहारके सिद्ध होनेपर प्रत्याहारके समय साधकको बाह्यज्ञान नहीं रहता । व्यवहारके समय बाह्यज्ञान होता है । क्योंकि व्यवहारके समय साधक शरीरयात्राके हेतुसे प्रत्याहारको काममें नहीं लाता ।

अन्य किसी साधनसे यदि मनका निरोध हो जाता है, तो इन्द्रियोंका निरोधरूप प्रत्याहार अपने आप ही उसके अन्तर्गत आ जाता है ।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् । (योगदर्शन २ । ५५)

उस प्रत्याहारसे इन्द्रियाँ अत्यन्त वशमें हो जाती हैं, अर्थात् इन्द्रियोंपर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

योगके आठ अङ्गोंमें पाँच बहिरंग साधनोंका वर्णन हुआ। अब शेष तीन अन्तरङ्ग साधनोंका वर्णन किया जाता है। इनमें प्रथम धारणाका लक्षण बतलाया जाता है, क्योंकि धारणासे ध्यान और समाधि होती है। यह योगका छठा अंग है।

६–धारणा

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (योगदर्शन ३।१)

चित्तको किसी एक देशविशेषमें स्थिर करनेका नाम धारणा है। अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म या बाह्य-आभ्यन्तर, किसी एक ध्येय स्थानमें चित्तको बाँध देना, स्थिर कर देना अर्थात् लगा देना 'धारणा' कहलाता है।

७–ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (योगदर्शन ३।२)

उस पूर्वोक्त ध्येय वस्तुमें चित्तवृत्तिकी एकतानताका नाम ध्यान है। अर्थात् चित्तवृत्तिका गङ्गाके प्रवाहकी भाँति या तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे निरन्तर ध्येय वस्तुमें ही अनवरत लगा रहना 'ध्यान' कहलाता है।

८–समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

(योगदर्शन ३।३)

वह ध्यान ही 'समाधि' हो जाता है जिस समय केवल ध्येय स्वरूपका (ही) भान होता है और अपने स्वरूपके भानका अभाव-सा रहता है। ध्यान करते-करते जब योगीका चित्त ध्येयाकारको

प्राप्त हो जाता है और वह स्वयं भी ध्येयमें तन्मय-सा बन जाता है, ध्येयसे भिन्न अपने आपका ज्ञान उसे नहीं-सा रह जाता है, उस स्थितिका नाम समाधि है। ध्यानमें ध्याता, ध्यान, ध्येय, यह त्रिपुटी रहती है। समाधिमें केवल अर्थमात्र वस्तु यानी ध्येयवस्तु ही रहती है; अर्थात् ध्याता, ध्यान, ध्येय तीनोंकी एकता हो जाती है।

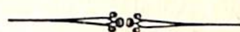
ऐसी समाधि स्थूल पदार्थमें होती है, तब उसे 'निर्वितर्क' कहते हैं और सूक्ष्म पदार्थमें होती है तब उसे 'निर्विचार' कहते हैं। यह समाधि सांसारिक पदार्थोंमें होनेसे तो सिद्धिप्रद होती है, जो कि अध्यात्मविषयमें हानिकर है और यही समाधि ईश्वरविषयक होनेसे मुक्ति प्रदान करती है। इसलिये कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको अपने इष्टदेव परमात्माके स्वरूपमें ही समाधि लगानी चाहिये। इसमें परिपक्वता होनेपर, अर्थात् उपर्युक्त योगके आठों अङ्गोंके भलीभाँति अनुष्ठानसे मल और आवरणादि दोषोंके क्षय होनेपर, विवेकख्याति-पर्यन्त ज्ञानकी दीप्ति होती है* और उस विवेकख्यातिसे, अविद्याका नाश होकर, कैवल्यपदकी प्राप्ति याने आत्मसाक्षात्कार हो जाता है।

समाधिपर्यन्त अष्टाङ्गयोगका यह अर्थ प्रायः ग्रन्थोंके आधारपर लिखा गया है। महर्षि पतञ्जलिके सूत्रोंपर अपने भावका यह विवेचन है। इनका असली तात्पर्य या तो महर्षि पतञ्जलि जानते हैं अथवा इसके अनुसार साधन करके जिन्होंने समाधि-अवस्था प्राप्त की है, वे कुछ जानते हैं। मैंने अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो कुछ लिखा है, पाठकगण उसे पढ़कर त्रुटियोंके लिये क्षमा करेंगे।

---

* योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।
(योग० २। २८)

विद्या, अविद्या और सम्भूति, असम्भूतिका तत्त्व



ईशोपनिषद् यजुर्वेदमन्त्रसंहिताका ४० वाँ अध्याय है। वेदका आशय बहुत ही गहन है। हरेक मनुष्य वेदका तत्त्व नहीं समझ सकता। कोई महापुरुष ही ऐसे गूढ़ विषयोंका तात्पर्य बता सकते हैं। मेरा न तो वेदका तत्त्व बतानेका अधिकार है और न ऐसी योग्यता ही है तथापि प्रेमी भाइयोंकी प्रेरणासे अपनी साधारण बुद्धि-के अनुसार जैसा समझमें आया, लिखा जाता है।

विद्या, अविद्या और सम्भूति, असम्भूतिका अर्थ विद्वानोंने अनेक प्रकारसे किया है। परन्तु मन्त्रोंमें जो इनके ज्ञानसे महान् फल बतलाया है, वह फल किस प्रकारकी उपासनासे मिल सकता है, इसका ठीक-ठीक निर्णय समझमें नहीं आता, अतः इसका विवेचन करके समझनेकी आवश्यकता है; सुतरां पहले विद्या और अविद्याके अर्थपर विचार किया जाता है।

मेरी समझमें यहाँ विद्याका अर्थ ब्रह्मविद्या और अविद्याका अर्थ यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंका करना तथा स्ववर्णोचित स्वाभाविक कर्मोंका करना, इस प्रकार मानना ठीक है * क्योंकि यहाँपर विद्या और अविद्याके तत्त्वको न समझनेवालेकी निन्दा करके, इन दोनोंके तत्त्वको समझनेवालेकी प्रशंसा की गयी है। और इनका तत्त्व समझनेका फल मृत्युसे तरकर अमृतत्वकी प्राप्ति बतलायी गयी है और ऐसा फल उपर्युक्त अर्थ माननेसे ही हो सकता है। कोई-कोई विद्वान् यहाँ विद्यामें रत रहनेका अर्थ देवोंकी उपासना मानते हैं, किन्तु यह अर्थ युक्तिसंगत समझमें नहीं आता। क्योंकि यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंकी अपेक्षा, देवोपासनाका फल नीचा बतलाना यानी देवोपासना करनेवाला, उनसे भी बढ़कर घोर अन्धकारमें प्रवेश करता है, यह कहना नहीं बन सकता क्योंकि स्वर्गादिकी प्राप्तिको अन्धकारमें प्रवेश करना मान लेनेसे, उससे बढ़कर घोर अन्धकार शूकर-कूकर आदि तिर्यक् योनियोंकी या रौरवादि नरकोंकी प्राप्ति-

* शास्त्रनिषिद्ध चोरी, व्यभिचार और मिथ्याभाषणादि पापकर्म भी अविद्या ही हैं, पर इनकी उपासना नहीं बन सकती, अतः इनकी गणना उनके साथ नहीं की गयी है।

को ही मानना पड़ेगा, सो देवोपासनाका ऐसा फल मानना युक्तिसंगत या शास्त्रसंगत नहीं प्रतीत होता ।

अतएव यहाँ 'विद्यामें रत होनेका' अभिप्राय ब्रह्मविद्याका केवल अभिमानमात्र करना समझना चाहिये, क्योंकि यहाँपर यथार्थ न समझकर रत होनेवालेकी निन्दा की गयी है, उपासना करनेवालेकी नहीं । इसलिये जो मनुष्य विवेक, वैराग्य और उपरामतादिसे रहित हैं, वास्तवमें जिनका देहाभिमान नष्ट नहीं हुआ है, केवल शास्त्रोंके अभ्याससे, ब्रह्मविद्याकी बातें पढ़-सुनकर अपनेको ज्ञानी मानने लग जाते हैं तथा ऐसे ज्ञानाभिमानमें रत रहनेके कारण स्ववर्णाश्रमोचित शास्त्रविहित कर्मोंकी अवहेलना करके स्वेच्छाचारी हो जाते हैं, उनको यहाँ विद्यामें रत बतलाया है । अतएव उनके लिये घोर नरकोंकी प्राप्ति बतलाना उचित ही है । गोस्वामीजीने भी कहा है कि—

ब्रह्मग्यान जान्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय ।
तुलसी ऐसी आतमा, सहज नरकमें जाय ॥

इसी तरह स्वामी शङ्कराचार्यजीने भी कहा है—

कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः ।
ते ह्यज्ञानितमा नूनं पुनरायान्ति यान्ति च ॥

(अपरोक्षानुभूति १३३)

'जो ब्रह्मवार्तामें कुशल हैं किन्तु ब्राह्मी वृत्तिसे रहित और रागयुक्त हैं, निश्चय ही वे अत्यन्त अज्ञानी हैं और बारंबार जन्मते-मरते रहते हैं ।'

जो इस प्रकारके विपरीत ज्ञानसे अपनेको ज्ञानी समझते हैं, वे मनुष्य, इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बर्तती हैं, गुण ही गुणोंमें बर्त रहे हैं, काम-क्रोधादि दुर्गुण अन्तःकरणके धर्म हैं, इनका अन्तःकरणमें रहना अनिवार्य है, इत्यादि बहाना करके सदा भोगोंके भोगनेमें फँसे रहते हैं और ईश्वरको तथा शास्त्रोंको एवं धर्म-अधर्मको कल्पित समझकर, विहित कर्मोंका त्याग कर बैठते हैं, निषिद्ध कर्मोंसे निर्भय हो जाते हैं, फिर ऐसे मिथ्याज्ञानियोंको घोर नरककी प्राप्ति हो, इसमें कहना ही क्या है ?

यहाँ विद्यामें रत होनेका फल घोर अन्धकारकी प्राप्ति बतलाया जानेके कारण, पहले-पहल साधारण दृष्टिसे यह शंका होती है कि यदि विद्याका तात्पर्य ब्रह्मविद्या होता, तो उसका ऐसा उलटा फल कैसे बतलाया जाता, परन्तु मन्त्रोंकी उक्तिपर विशेष लक्ष्य करनेसे इस प्रकारकी शंकाको स्थान नहीं रहता । क्योंकि मन्त्रमें विद्याकी उपासनाका फल घोर अन्धकारकी प्राप्ति नहीं बताया गया है, उसका फल तो परब्रह्मकी प्राप्ति है । किन्तु जो विद्याके तत्त्वको न जाननेके कारण उसकी उपासना नहीं करके केवल विद्याके अभिमानमें रत हैं यानी सत्यासत्यके विवेकपूर्वक अनात्म-वस्तुओंसे सर्वथा विरक्त होना और तत्त्वज्ञानके अर्थका निरन्तर चिन्तन करना आदि साधनोंकी चेष्टा न करके, शरीरमें अहन्ता, ममता और आसक्ति रहते हुए ही केवल ब्रह्मविद्याका अभिमानमात्र करके, अपनेको पण्डित और ज्ञानी मान बैठते हैं, उनके लिये घोर अन्धकारकी प्राप्ति बतायी गयी है ।

अविद्या अज्ञानका नाम है। अतः अज्ञानके कार्यरूप यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंके अनुष्ठानको यहाँ अविद्याकी उपासना बतलायी गयी है।

एकादश मन्त्रमें, विद्या और अविद्याको एक साथ जाननेके लिये कहा गया है, इससे यह शङ्का उपस्थित होती है कि यदि विद्याका अर्थ ब्रह्मविद्या और अविद्याका अर्थ यज्ञादि कर्म मान लिया जाय तो दोनोंका समुच्चय यानी एक साथ उपासना कैसे हो सकेगी। क्योंकि यज्ञ, दान और तप आदि कर्मोंका अनुष्ठान करते समय साधककी ईश्वरमें और अपनेमें, एवं कर्म और कारकादिमें भेददृष्टि रहती है तथा विद्याकी उपासनामें यानी ब्रह्मविचाररूप ज्ञानाभ्यासमें अभेददृष्टि होती है, अतः दोनोंकी उपासना एक साथ नहीं हो सकती। सो ठीक है, यहाँ यह कहना भी नहीं है, यहाँ तो दोनोंका तत्त्व एक साथ समझनेवालेकी प्रशंसा की है।

यहाँ दसवें मन्त्रमें केवल संकेतमात्रसे ही दोनोंका फल बताया है, उसका स्पष्टीकरण नहीं किया—इससे इस प्रकरणका तात्पर्य समझनेमें बहुत कठिनता पड़ जाती है। शास्त्रका तात्पर्य समझकर उपासना करनेसे विद्या और अविद्या अर्थात् ज्ञान और कर्मानुष्ठानका दूसरा ही फल होता है। विचार करनेसे माॡम होता है कि यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंका और स्ववर्णाश्रमोचित स्वाभाविक कर्मोंका, जो सकामभावसे अनुष्ठान करना है, यह तो वास्तविक अर्थ विना समझे अविद्याकी उपासना करना है। अतः इसका फल स्वर्गादिकी प्राप्तिरूप अन्धतमकी प्राप्ति बतायी गयी है; पर इन्हीं कर्मोंका जो

अभिमान, राग, द्वेष और फलकामना छोड़कर अनुष्ठान करना है, यह तात्पर्य समझकर अविद्याकी उपासना करना है, अतः इसका फल उससे दूसरा अर्थात् राग-द्वेष आदि समस्त दुर्गुणोंका और हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मिथ्याभाषणादि दुराचारोंका तथा हर्ष, शोक आदि समस्त विकारोंका सर्वथा अभाव हो जाना बताया गया है ।

इसी तरह शास्त्रके तात्पर्यको न समझकर ब्रह्मविद्याका केवल अभिमानमात्र कर लेना उसकी उपासना नहीं है, उसमें अज्ञानपूर्वक रत होना है । इसलिये उसका फल घोर अन्धतमकी प्राप्ति बतायी गयी है । किन्तु नित्यानित्यवस्तुके विवेकसे क्षणभङ्गुर, नाशवान्, अनित्य शरीर और संसार आदि दृश्य पदार्थोंसे और सम्पूर्ण क्रियाओंसे विरक्त होकर उपराम होना एवं निरन्तर केवल नित्यविज्ञाना-नन्दघन ब्रह्मके ध्यानमें अभेदभावसे स्थित होना, यह शास्त्रोंके तात्पर्यको समझकर विद्याकी उपासना करना है । अतः इसका फल उससे दूसरा अर्थात् तत्त्वज्ञानपूर्वक परब्रह्मकी प्राप्ति बतायी गयी है ।

इस प्रकार मन्त्रोंके प्रत्येक अक्षरपर ध्यान देकर अर्थका विचार करनेसे किसी प्रकारकी शंका नहीं रह जाती, इस विवेचनके अनुसार मन्त्रोंका अर्थ इस प्रकार मानना चाहिये ।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥

(ईश० ९)

'जो मनुष्य अविद्याकी उपासना करते हैं अर्थात् सकामभावसे यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्म और स्वाभाविक कर्मोंका आचरण करते हैं, वे अज्ञानरूप अन्धकारमें प्रवेश करते हैं यानी इस लोकमें और स्वर्गादि परलोकमें भोगोंको भोगते हैं।'*

और जो विद्यामें रत हैं अर्थात् जो शास्त्रोंको पढ़-सुनकर ब्रह्मविद्यामें अभिमान करके अपनेको धीर और पण्डित ज्ञानी मानते हैं (किन्तु वास्तवमें ज्ञानी नहीं हैं) वे मानो उस सकाम कर्म करनेवालेसे भी बढ़कर घोर अन्धकारमें ही प्रविष्ट होते हैं यानी पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादि योनियोंको या रौरवादि घोर नरकोंको प्राप्त होते हैं।

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥
(ईश० १०)

शास्त्रके तात्पर्यको समझकर विद्याकी उपासना करनेसे दूसरा ही फल बताया है अर्थात् नित्यानित्यवस्तुके विवेकपूर्वक क्षणभङ्गुर, नाशवान्, अनित्य शरीर और स्त्री-पुत्र-धनादि सम्पूर्ण दृश्यमात्रसे विरक्त होकर, केवल एक नित्यविज्ञानानन्दघन ब्रह्मके ध्यानमें अभेद-भावसे स्थित रहनेसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होकर, परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप फल बताया है। तथा अविद्यासे दूसरा ही फल बताया है अर्थात् कर्तृत्वाभिमान, राग-द्वेष और फल-कामना छोड़कर शास्त्र-

---

* सम्पूर्ण संसार मायामय अनित्य होनेके कारण वास्तवमें समस्त भोग अन्धकाररूप ही है, इसलिये स्वर्गादिको अन्धतम बतलाया गया है।

विहित यज्ञ, दान, तपादिका और स्ववर्णाश्रमोचित स्वाभाविक कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे उसका फल राग-द्वेष आदि समस्त दुर्गुणोंका और हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मिथ्याभाषणादि दुराचारोंका एवं हर्ष-शोकादि विकारोंका सर्वथा अभाव होकर संसारसे पार होना बताया है, इस प्रकार हमने उन पुरुषोंके वचनोंसे सुना है जिन धीर महापुरुषोंने हमें इस विषयकी शिक्षा दी थी ।

अब विद्या और अविद्या इन दोनोंके तत्त्वको एक साथ समझनेका फल बताते हैं—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय҃ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

(ईश० ११)

जो मनुष्य विद्या और अविद्याके तत्त्वको एक साथ भली प्रकार समझ लेता है अर्थात् ब्रह्मविद्याद्वारा बताये हुए विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके तत्त्वको भली प्रकार समझ लेता है तथा मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले समस्त शास्त्रविहित कर्मोंमें फल, अभिमान तथा राग-द्वेष आदिको त्यागनेसे दुर्गुण, दुराचार एवं समस्त विकारोंका अभाव होकर अन्तःकरण पवित्र हो जाता है, इस रहस्यको भी भली प्रकार समझ लेता है; वह—इस प्रकार समझनेवाला मनुष्य, अविद्या अर्थात् कर्मोंके रहस्यज्ञानसे, मृत्युको तरकर यानी पुनर्जन्म-रूप संसारसे पार होकर, विद्यासे अर्थात् ज्ञानसे अमृतत्वको प्राप्त होता है यानी अविनाशी परब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें लीन हो जाता है ।

इस प्रकार इन मन्त्रोंका अर्थ मान लेनेसे सब प्रकारकी शंकाओंका समाधान हो जाता है और श्रुतिका महत्त्वपूर्ण विशाल आशय प्रतीत होने लगता है।

इसी प्रकार अब सम्भूति और असम्भूतिके अर्थपर भी विचार किया जाता है।

मेरी समझमें सम्भूतिका अर्थ नित्य, अविनाशी, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है, जिससे इस सारे विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है। और असम्भूतिका अर्थ विनाशशील देव आदिके नाना भेदोंको मानना ठीक है। क्योंकि सम्भूति शब्द सम्पूर्वक 'भू' धातुका रूप है, 'भू' धातुका अर्थ सत्ता है, अतः जिसकी सत्ता सम्यक्‌रूपसे हो, जिसका कभी किसी अवस्थामें भी नाश न हो सके, जो उत्पत्ति, विनाशादि समस्त विकारोंसे रहित हो; ऐसा परब्रह्म परमेश्वर ही सम्भूतिका वाच्यार्थ हो सकता है। उससे अतिरिक्त अन्य देव आदिके नाना भेद प्रकृतिजनित विनाशशील होनेके कारण, उन सबको असम्भूतिका वाच्यार्थ समझा जा सकता है।

इसके सिवा सम्भूतिके ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्तिरूप फल बतलाया गया है। इससे भी सम्भूतिका अर्थ परमेश्वरको मानना ही ठीक प्रतीत होता है।

कोई-कोई विद्वान् यहाँ असम्भूतिका अर्थ अव्याकृत प्रकृति और सम्भूतिका अर्थ हिरण्यगर्भ—कार्य-ब्रह्म मानते हैं। किन्तु

इस प्रकार मानना युक्तिसंगत नहीं माल्रम होता । क्योंकि हिरण्यगर्भकी उपासनाका फल, घोर अन्धकाररूप कीट-पतंगादि योनियोंकी प्राप्ति या रौरव आदि नरकोंकी प्राप्तिरूप नहीं हो सकता । और दोनोंकी समुच्चित उपासनाका जो विशेष फल उन्होंने बतलाया है, वह भी मन्त्रके शब्दोंके अनुकूल महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ता, इसके सिवा ऐसा अर्थ माननेके लिये उनको अक्षरार्थमें भी बहुत क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ी है । अर्थात् 'विनाश' शब्दको 'सम्भूति' का पर्याय माननेके लिये चतुर्दश मन्त्रमें, सम्भूतिशब्दके साथ दो जगह अकारका अध्याहार करना पड़ा है । परन्तु विद्या, अविद्याके प्रसंगका क्रम देखते हुए, 'विनाश' शब्द असम्भूतिका ही पर्याय माना जाना उचित है । एवं प्रत्येककी अलग-अलग उपासनाका बुरा फल बताते हुए, अव्याकृतकी उपासनाका फल उसके अनुरूप अदर्शनात्मक तमकी प्राप्ति बतलाया है और दोनोंकी समुच्चित उपासनाका विशिष्ट फल बतलाते हुए भी, अव्याकृत प्रकृतिकी उपासनाका फल अमृतत्वके अर्थमें उस प्रकृतिमें लीन होना बतलाया है; सो विचार करनेसे माल्रम होता है कि अव्याकृत प्रकृति स्वयं अदर्शनात्मक है, अतः उसमें लीन होना भी तो अदर्शनात्मक तममें ही लीन होना है, फिर अलग-अलग फल क्या हुआ ? इसके सिवा उन विद्वानोंने यह भी नहीं बतलाया कि शास्त्रोंमें ऐसी उपासनाका कहाँ विधान है ? इत्यादि कारणोंसे उनका बतलाया हुआ अर्थ ठीक समझमें नहीं आता ।

मन्त्रके अक्षरोंपर ध्यान देकर विचार करनेसे प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि बारहवें मन्त्रके पूर्वार्द्धमें असम्भूतिकी उपासनाका फल

बतलाया है, किन्तु उत्तरार्द्धमें सम्भूतिकी 'उपासना' का फल नहीं बतलाया है, केवल उसमें अज्ञानपूर्वक 'रत' होनेका यानी सम्भूतिमें स्थित होनेके मिथ्या अभिमानका फल बतलाया है। उसके बाद तेरहवें मन्त्रमें विद्या और अविद्याकी भाँति ही उपासनाके तात्पर्यको समझकर, सम्भूति और असम्भूतिकी उपासना करनेसे जो विशिष्ट फल मिलता है उसका लक्ष्य कराया है, फिर चौदहवें मन्त्रमें दोनोंके तत्त्वको एक साथ समझनेका फल बतलाया है।

श्रुतिका भाव ऐसा प्रतीत होता है कि जो मनुष्य शास्त्रोक्त विधिके अनुसार देव आदिकी सकामभावसे उपासना करते हैं वे अज्ञानरूप अन्धकारमें प्रवेश करते हैं। अर्थात् उन-उन देवके लोकों या योनियोंको प्राप्त होते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

(७।२०)

'नाना प्रकारकी कामनासे जिनका विवेकज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसे (विषयासक्त) सकामी मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृतिसे प्रेरित होकर, उन नाना देवोंकी उपासनाके (संसारमें प्रचलित) नियमोंको धारण करके, ईश्वरसे भिन्न अन्य देवोंकी पूजा-उपासना करते हैं।'

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥

(गीता ७।२३)

'परन्तु उन अल्पबुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

(गीता ९ । २५)

'देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको या उनकी योनियोंको प्राप्त होते हैं, भूतोंको पूजनेवाले भूतोंको या उनकी योनियोंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं । इसीलिये मेरे भक्तोंका पुनर्जन्म नहीं होता ।'

उन-उन देवोंके लोक एवं योनियाँ विनाशशील और मायामय होनेके नाते, उनकी प्राप्तिको अन्धकारकी प्राप्ति बतलाया गया है ।

उत्तरार्धमें कहा गया है कि जो मनुष्य सम्भूतिमें रत है, उसे उन असम्भूतिकी उपासना करनेवालोंसे भी बढ़कर घोर अन्धकारकी प्राप्ति अर्थात् शूकर-कूकर, कीट-पतंग आदि तिर्यक् योनियोंकी और रौरव आदि नरकोंकी प्राप्ति होती है । यहाँ साधारण दृष्टिसे ऐसी शंका हो सकती है कि सम्भूतिका अर्थ यदि अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर मान लिया जाय, तब फिर उनकी उपासनाका फल नरकादिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? किन्तु इसका उत्तर पहले ही बता दिया गया है कि इस मन्त्रके उत्तरार्ध-में सम्भूतिकी 'उपासना' का फल नहीं बताया गया है पर उसमें

'रत' होनेका अर्थात् मिथ्या अभिमान कर लेनेका फल बताया गया है ।

जो मनुष्य शास्त्रके तात्पर्यको न समझनेके कारण भगवान्‌का भजन-ध्यान नहीं करते, जिनका विषय-भोगमें वैराग्य नहीं हुआ है, जो भगवान्‌को सर्वभूतोंमें व्यापक समझकर भगवद्‌बुद्धिसे उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा नहीं करते जो भगवान्‌के तत्त्व और रहस्य-को नहीं समझते, ऐसे विषयासक्त मनुष्य ईश्वरोपासनाका मिथ्याभिमान करके लोगोंसे अपनी पूजा कराने लग जाते हैं। वे इस अभिमान-के कारण अन्य देव आदिमें तुच्छ बुद्धि करके, शास्त्रविधिके अनुसार करनेयोग्य, देवपूजनादिका त्याग कर देते हैं। दूसरोंको भी ऐसी ही शिक्षा देकर देवादिकी उपासनामें अश्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं। ईश्वरोपासनामें मिथ्याभिमानके कारण स्वयं अपनेको ईश्वरके तुल्य मानकर स्वेच्छाचारी हो जाते हैं और लोगोंसे अपनेको पुजवाने लग जाते हैं; ऐसे पुरुषोंको ही यहाँ घोर अन्धकारकी प्राप्ति बतलायी गयी है ।

जो पुरुष शास्त्रके इस तत्त्वको समझता है कि सम्पूर्ण यज्ञ और तपोंका भोक्ता परमेश्वर ही है (गीता ५ । २९), अन्यान्य देवादिमें भी उनकी आत्माके रूपमें भगवान् ही व्याप्त हैं, सब भूत-प्राणियोंकी सेवा, पूजा, सम्मान आदि करना, उस सर्वव्यापी परमदेव परमेश्वरकी ही पूजा है; वह निष्कामभावसे शास्त्राज्ञानुसार, देव आदिकी उपासना प्राप्त होनेपर विधिपूर्वक उनकी उपासना करता है । उसको ऐसी उपासनाका फल बारहवें मन्त्रमें बतायी

हुई सकामभावसे की जानेवाली देवादिकी उपासनाकी अपेक्षा विलक्षण मिलता है अर्थात् निष्कामभावसे इस प्रकार की हुई देवादिकी उपासनासे, उसका अन्तःकरण बहुत शीघ्र पवित्र हो जाता है, उसके समस्त दुर्गुण, दुराचार और समस्त दोषोंका नाश हो जाता है।

इसी तरह शास्त्रके तात्पर्यको समझकर जो अक्षर, अविनाशी, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, परमेश्वरकी उपासना करते हैं, जैसे भगवान्‌ने कहा है कि—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
(गीता ८।८)

'हे पार्थ! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त दूसरी ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरुष परम प्रकाशस्वरूप दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है।'

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥
(गीता ८।९)

'इससे जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता*, सूक्ष्म-से भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप, अविद्यासे परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है।'

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(गीता ८। १०)

'वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके, फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ, उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है।'

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥
(गीता ८। २२)

'हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त होने योग्य है।'

---

* अन्तर्यामीरूपसे सब प्राणियोंके शुभ और अशुभ कर्मके अनुसार शासन करनेवाला।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

(गीता ९ । १३)

'तथा हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं ।'

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

(गीता ९ । १४)

'वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं ।'

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

(गीता १० । ९)

'वे निरन्तर मेरेमें मन लगानेवाले और मेरेमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले* भक्तजन सदा ही मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं ।'

---

* मुझ वासुदेवके लिये ही जिन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया है, उनका नाम है 'मद्गतप्राणाः ।'

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गीता १० । १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

इस प्रकार जो भगवान्‌के भजन-ध्यानमें निरन्तर लगे रहते हैं, उनको ऐसी उपासनाका दूसरा ही फल मिलता है अर्थात् वे अपने आराध्यदेव अविनाशी परमेश्वरको प्राप्त हो जाते हैं । तथा जो अविनाशी परमेश्वरको और विनाशशील देव आदिको तत्त्वसे समझ लेते हैं, वे उन देवादिके विनाशशील लोक और योनियोंके तत्त्वको समझ लेनेके कारण, उन-उन लोकोंको लाँघकर (अतिक्रमण कर) परमेश्वरको प्राप्त हो जाते हैं ।

इस विवेचनके अनुसार, सम्भूति और असम्भूतिविषयक तीनों मन्त्रोंका अर्थ इस प्रकार मानना चाहिये ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳ रताः ॥
(ईश० १२)

'जो मनुष्य असम्भूतिकी उपासना करते हैं अर्थात् शास्त्रके तात्पर्यको न समझनेके कारण विनाशशील देव आदिकी सकामभाव-

से उपासना करते हैं, वे अज्ञानरूप अन्धकारमें प्रवेश करते हैं अर्थात् उन-उन देव आदिके लोकोंको और योनियोंको पाते हैं।'*

इनसे अन्य जो सम्भूतिमें रत हैं अर्थात् ईश्वरमें श्रद्धा न होनेके कारण, ईश्वरकी भक्तिका साधन किये विना ही अपनेको भक्त मानते हैं, वे सकामभावसे देवादिकी उपासना करनेवालोंसे भी बढ़कर घोर अन्धकारमें ही प्रवेश करते हैं अर्थात् शूकर-कूकरादि तिर्यक् योनियोंको और रौरवादि नरकोंको प्राप्त होते हैं।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥

(ईश० १३)

सम्भूतिकी उपासनासे यानी नित्य, अविनाशी, सर्वव्यापी, विज्ञानानन्दघन परमेश्वरकी भक्तिसे दूसरा ही फल बताया है अर्थात् उन सम्भूतिमें 'रत' होनेवालोंको जो फल मिलता है उससे भिन्न अपने आराध्यदेव परमेश्वरकी प्राप्तिरूप फलका मिलना बताया है, और असम्भूतिसे अर्थात् भगवान्‌की आज्ञा समझकर देवादिकी उपासना शास्त्रोक्त विधिके अनुसार निष्कामभावसे करनेपर उसका दूसरा ही फल बताया है अर्थात् सकामभावसे उपासना करनेवालोंके फलसे भिन्न अन्तःकरणकी शुद्धिरूप फल बताया है; इस प्रकार

---

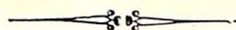
* ब्रह्मलोकतकके सभी लोक और योनियाँ विनाशशील हैं। अतः वहाँतक जानेवाले जीवोंका भी पुनरागमन होता है (गीता ८। १६)। एवं ब्रह्मलोकतक सभी लोक मायामय हैं, इसलिये इन सबकी प्राप्तिको भी अन्धकारमें प्रवेश करना कहा गया है, क्योंकि इनको प्राप्त होना भी अज्ञानरूप संसारको ही प्राप्त होना है।

हमने उन धीर तत्त्वज्ञ पुरुषोंके वचनोंसे सुना है, जिन्होंने हमें इस तत्त्वकी शिक्षा दी थी।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥
(ईश० १४)

जो मनुष्य सम्भूतिको और विनाशको अर्थात् नित्य, अविनाशी, विज्ञानानन्दघन परमेश्वरको और विनाशशील देवादिको तत्त्वसे जानता है यानी नित्य, अविनाशी परमात्मा सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सबका आत्मा और सर्वोत्तम है, इस प्रकार परमेश्वरके निर्गुण-सगुण-रूप समग्र तत्त्वको भलीभाँति समझता है एवं सब देवादिकी योनियाँ और इनके सब लोक विनाशशील, क्षणभङ्गुर हैं, इनमें जो कुछ शक्ति है वह भी भगवान्की ही है, इस प्रकार उन देवादिके तत्त्वको समझता है, वह उन विनाशशील देवादिके तत्त्वको समझनेके कारण मृत्युको लाँघकर अर्थात् विनाशशील मृत्युरूप उन-उन लोकोंमें आसक्त न होता हुआ यानी उनमें न अटककर, सम्भूतिके तत्त्वज्ञान-से अर्थात् अविनाशी, नित्य, विज्ञानानन्दघन परमेश्वरके समग्र स्वरूपको भलीभाँति समझनेसे अमृतको यानी अमृतस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार इन मन्त्रोंका अर्थ मान लेनेसे सब प्रकारकी शंकाओंका समाधान हो जाता है और श्रुतिका महत्त्वपूर्ण आशय झलकने लगता है।









मिलनेका पता—
गीताप्रेस, गोरखपुर।